निवेदन

आरम्भ में हमारा विचार एक विस्तृत विवेचनात्मक भूमिका लिखने का था परन्तु अनेक कारणों से उसे त्याग देना पड़ा। एक तो तीनों सम्पादकों के लिए मिल कर एक दृष्टिकोण से विवेचन करना सम्भव नहीं था। समन्वय का भरसक प्रयत्न करने पर भी विवेचन-विश्लेषण के धरातल पर पूर्ण मतैक्य की कोई सम्भावना नहीं थी। दूसरे इस प्रकार के संकलन में, जिसका लक्ष्य रसास्वादन हो, आलोचना की विशेष सार्थकता भी नहीं है। इसकी सिद्धि तो सजा कर रखने में है, विश्लेषण व्याख्यान करने में नहीं है। उसका क्षेत्र दूसरा है। समर्थ कवियों का काव्य अपनी सरसता में अपना प्रमाण आप है। कस्तूरी की गंध के लिए शपथ की अपेक्षा नहीं रह जाती।

कवि-भारती का सम्पादन हिन्दी काव्य के अध्येता की एक विशिष्ट रागात्मक आवश्यकता की पूर्ति के निमित्त किया गया है। यह आवश्यकता है आधुनिक हिन्दी काव्य की परम्परा को अखण्ड रूप में प्रस्तुत करना। आधुनिक शब्द के दो अर्थ हैं, एक काल-परक और दूसरा प्रवृत्ति-परक। प्रवृत्ति की दृष्टि से आधुनिक शब्द के अन्तर्गत कुछ विशिष्ट धारणाओं का समावेश है, जैसे रूढ़ि के विरुद्ध विद्रोह, स्वतन्त्रता का आग्रह, बौद्धिक दृष्टिकोण, यथार्थ-दर्शन, नवीन (असाधारण) की स्पृहा, भाव की निर्वृत्ति (दमन का विरोध) आदि। उपर्युक्त दोनों अर्थों में आधुनिक साहित्य का आरम्भ भारतेन्दु से ही हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु काव्य में परिवर्तन की गति अपेक्षाकृत मन्द रहती है, भारतेन्दु युग का काव्य उस युग के गद्य-साहित्य की अपेक्षा निश्चय ही अनाधुनिक है। अपने भावतत्व और माध्यम दोनों की ही दृष्टि से। वास्तव में भारतेन्दु के युग में विचार बदलने लग गया था, संस्कार नहीं बदला था; और कविता का सीधा सम्बन्ध संस्कार से है। संस्कार का परिवर्तन श्रीधर पाठक के समय में हुआ, और तभी से काव्य में भी आधुनिकता का समावेश होने लगा। रागात्मक संस्कार बदले और उनकी वाणी भी बदली। कवि-भारती का मंगलाचरण इसीलिए भारतेन्दु की कविता से न होकर श्रीधर पाठक के गीत से होता है।

प्रत्येक भाषा का भी अपना संस्कार बन जाता है। रमणीय भावों के अभ्यास से ब्रजभाषा के कुछ संस्कार बन गये हैं जो आधुनिक जीवन की

अभिव्यक्ति के अधिक अनुकूल नहीं हैं। यही कारण है कि ऐसी समृद्ध भाषा को छोड़ आधुनिक साहित्यकार को खड़ी बोली का आँचल ग्रहण करना पड़ा, पहले गद्य के माध्यम रूप में और फिर कविता के लिए। इसी तथ्य को दृष्टि में रख कर हमने कवि-भारती के आधुनिक खण्ड में केवल खड़ी बोली की रचनाओं का ही संकलन किया है। इस युग में ब्रजभाषा की सरस कविताओं का अभाव नहीं रहा, परन्तु हमने जान बूझकर उनका समावेश नहीं किया क्योंकि उनके द्वारा स्वर की एकता नष्ट हो जाती।

प्रस्तुत संकलन के तीन विभाग किये गये हैं। रूप, रंग और रेखा। रूप में यह व्यंजना है कि इस विभाग की कविताओं में वस्तुगत रूपाधार निश्चित है; ये नाम साधारणतः सांकेतिक भी माने जा सकते हैं। रंग शब्द की ध्वनि यह है कि इसमें भावना और कल्पना की रंगीनी—रम्याद्भुत का प्राधान्य है और रेखा इस तथ्य का द्योतन करती है कि इस शीर्षक के अंतर्गत संकलित रचनाओं में सांकेतिकता का आतिशय्य है। शास्त्रीय शब्दावली में उपर्युक्त तीन वर्गों को क्रमशः द्विवेदी युग का काव्य, छायावादी काव्य और प्रगति-प्रयोगवादी काव्य नाम से अभिहित किया जाता है। हमारा यह वर्ग-विभाजन अत्यंत स्थूल और सामान्य है, और केवल प्रवृत्तियों की विभिन्नता की ओर संकेत भर कर सकता है, समर्थ कवियों को वर्ग की परिधि में बाँध कर रखना असम्भव है। अतएव इनका हमने नाम-निर्देशन मात्र के लिए प्रयोग किया है।

कविताओं का चयन सामान्यतः दो दृष्टियों से किया जा सकता था, प्रतिनिधित्व की दृष्टि से और काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से—दोनों दृष्टियों की अपनी सार्थकता है। सहृदय जहाँ किसी कवि के काव्य का रसास्वादन करना चाहेगा, वहाँ कवि को समग्र रूप में समझने के लिए उसके विकास-पथ को विहित करनेवाली प्रतिनिधि रचनाओं का भी क्रमिक अध्ययन करने की जिज्ञासा रखेगा। हमने इन दोनों दृष्टियों का समन्वय करने का प्रयत्न किया है, यद्यपि प्राथमिकता काव्योत्कर्ष को ही दी है, क्योंकि हमारा प्राथमिक उद्देश्य आधुनिक हिन्दी काव्य का केवल प्रतिनिधि संकलन करना न होकर उसका नवनीत-संचय करना ही रहा है। काव्योत्कर्ष के विषय में मतभेद हो सकता है, उसकी मूल कसौटी के विषय में ही ऐकमत्य कठिन है। यह सहज सम्भाव्य है कि अनेक पाठक हमसे असहमत हों, संस्कार, रुचि, व्युत्पत्ति आदि अनेक ऐसे कारण हैं जो इस प्रकार के सर्वमान्य निर्णय को सर्वथा दुष्कर बना देते हैं। अतएव हम केवल अपनी मान्यता को ही सफाई के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं, और वह है

रसात्मकता। उसे ही हमने काव्य के उत्कर्ष का प्रमाण माना है। अन्य आधार हिलडुल सकते हैं, परन्तु हमारी धारणा है कि रसात्मकता का आधार अडिग है। इन कविताओं के चयन में पहली शर्त रही है रसात्मकता और उसके उपरांत प्रतिनिधित्व-क्षमता।

हिन्दी में इस प्रकार की चयनिकाओं का अत्यन्त अभाव है, कविता-कौमुदी के अनन्तर इस प्रकार का प्रयत्न प्रायः किया ही नहीं गया। पाठ्य-क्रम को दृष्टि में रख कर अनेक संकलन नित्यप्रति प्रकाशित होते रहते हैं, परन्तु उनका उद्देश्य सर्वथा भिन्न होता है। हिन्दी के वर्धमान महत्व ने अब अहिन्दी राज्यों में भी हिन्दी के काव्य और साहित्य के प्रति रुचि और जिज्ञासा उत्पन्न करदी है, और ऐसे ग्रन्थों की माँग होना स्वाभाविक है जो उसके विभिन्न रूपों का सार-संग्रह एकत्र प्रस्तुत कर सकें। हमें आशा है कि हमारा यह विनम्र प्रयत्न इस आवश्यकता की पूर्ति में योगदान कर सकेगा।

कवि-भारती में जिन कृती कवियों की अमूल्य रचनाएँ संकलित हैं। वे राष्ट्रभाषा के गौरव हैं—उन्होंने अथवा उनमें से कतिपय पुण्यश्लोक कवियों के वंशधरों ने अत्यन्त उदारता-पूर्वक अपनी या अपने पूर्वजों की कविताओं का समावेश करने की अनुमति देकर हमें उपकृत किया है, और इसके लिए हम उनके प्रति सविनय आभार प्रकट करते हैं।

यह ग्रंथ आकार-प्रकार तथा मूल्य की दृष्टि से निस्संदेह ही चिर-विक्रेय है। फिर भी इसके प्रकाशन में साहित्य-सदन ने हमें अधिक से अधिक सहयोग प्रदान किया है। एतदर्थ हम उसका धन्यवाद करते हैं।

सम्पादक-मण्डल का यह सौभाग्य है कि उसे अपने सम्पादन-कार्य में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के सत्परामर्श का सुयोग मिलता रहा है। उनके प्रति सम्पादक-मण्डल अपनी कृतज्ञ श्रद्धा व्यक्त करता है।

सुमित्रानन्दन पन्त

वसन्त पञ्चमी, सम्वत् २०१० बालकृष्ण राव

नगेन्द्र

अभिव्यक्ति के अधिक अनुकूल नहीं हैं। यही कारण है कि ऐसी समृद्ध भाषा को छोड़ आधुनिक साहित्यकार को खड़ी बोली का आँचल ग्रहण करना पड़ा, पहले गद्य के माध्यम रूप में और फिर कविता के लिए। इसी तथ्य को दृष्टि में रख कर हमने कवि-भारती के आधुनिक खण्ड में केवल खड़ी बोली की रचनाओं का ही संकलन किया है। इस युग में ब्रजभाषा की सरस कविताओं का अभाव नहीं रहा, परन्तु हमने जान बूझकर उनका समावेश नहीं किया क्योंकि उनके द्वारा स्वर की एकता नष्ट हो जाती।

प्रस्तुत संकलन के तीन विभाग किये गये हैं। रूप, रंग और रेखा। रूप में यह व्यंजना है कि इस विभाग की कविताओं में वस्तुगत रूपाधार निश्चित है; ये नाम साधारणतः सांकेतिक भी माने जा सकते हैं। रंग शब्द की ध्वनि यह है कि इसमें भावना और कल्पना की रंगीनी—रम्याद्भुत का प्राधान्य है और रेखा इस तथ्य का द्योतन करती है कि इस शीर्षक के अंतर्गत संकलित रचनाओं में सांकेतिकता का आतिशय्य है। शास्त्रीय शब्दावली में उपर्युक्त तीन वर्गों को क्रमशः द्विवेदी युग का काव्य, छायावादी काव्य और प्रगति-प्रयोगवादी काव्य नाम से अभिहित किया जाता है। हमारा यह वर्ग-विभाजन अत्यंत स्थूल और सामान्य है, और केवल प्रवृत्तियों की विभिन्नता की ओर संकेत भर कर सकता है, समर्थ कवियों को वर्ग की परिधि में बाँध कर रखना असम्भव है। अतएव इनका हमने नाम-निर्देशन मात्र के लिए प्रयोग किया है।

कविताओं का चयन सामान्यतः दो दृष्टियों से किया जा सकता था, प्रतिनिधित्व की दृष्टि से और काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से—दोनों दृष्टियों की अपनी सार्थकता है। सहृदय जहाँ किसी कवि के काव्य का रसास्वादन करना चाहेगा, वहाँ कवि को समग्र रूप में समझने के लिए उसके विकास-पथ को विहित करनेवाली प्रतिनिधि रचनाओं का भी क्रमिक अध्ययन करने की जिज्ञासा रखेगा। हमने इन दोनों दृष्टियों का समन्वय करने का प्रयत्न किया है, यद्यपि प्राथमिकता काव्योत्कर्ष को ही दी है, क्योंकि हमारा प्राथमिक उद्देश्य आधुनिक हिन्दी काव्य का केवल प्रतिनिधि संकलन करना न होकर उसका नवनीत-संचय करना ही रहा है। काव्योत्कर्ष के विषय में मतभेद हो सकता है, उसकी मूल कसौटी के विषय में ही ऐकमत्य कठिन है। यह सहज सम्भाव्य है कि अनेक पाठक हमसे असहमत हों, संस्कार, रुचि, व्युत्पत्ति आदि अनेक ऐसे कारण हैं जो इस प्रकार के सर्वमान्य निर्णय को सर्वथा दुष्कर बना देते हैं। अतएव हम केवल अपनी मान्यता को ही सफ़ाई के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं, और वह है

रसात्मकता। उसे ही हमने काव्य के उत्कर्ष का प्रमाण माना है। अन्य आधार हिलडुल सकते हैं, परन्तु हमारी धारणा है कि रसात्मकता का आधार अडिग है। इन कविताओं के चयन में पहली शर्त रही है रसात्मकता और उसके उपरांत प्रतिनिधित्व-क्षमता।

हिन्दी में इस प्रकार की चयनिकाओं का अत्यन्त अभाव है, कविता-कौमुदी के अनन्तर इस प्रकार का प्रयत्न प्रायः किया ही नहीं गया। पाठ्य-क्रम को दृष्टि में रख कर अनेक संकलन नित्यप्रति प्रकाशित होते रहते हैं, परन्तु उनका उद्देश्य सर्वथा भिन्न होता है। हिन्दी के वर्धमान महत्व ने अब अहिन्दी राज्यों में भी हिन्दी के काव्य और साहित्य के प्रति रुचि और जिज्ञासा उत्पन्न करदी है, और ऐसे ग्रन्थों की माँग होना स्वाभाविक है जो उसके विभिन्न रूपों का सार-संग्रह एकत्र प्रस्तुत कर सकें। हमें आशा है कि हमारा यह विनम्र प्रयत्न इस आवश्यकता की पूर्ति में योगदान कर सकेगा।

कवि-भारती में जिन कृती कवियों की अमूल्य रचनाएँ संकलित हैं। वे राष्ट्रभाषा के गौरव हैं—उन्होंने अथवा उनमें से कतिपय पुण्यश्लोक कवियों के वंशधरों ने अत्यन्त उदारता-पूर्वक अपनी या अपने पूर्वजों की कविताओं का समावेश करने की अनुमति देकर हमें उपकृत किया है, और इसके लिए हम उनके-प्रति सविनय आभार प्रकट करते हैं।

यह ग्रंथ आकार-प्रकार तथा मूल्य की दृष्टि से निस्संदेह ही चिर-विक्रेय है। फिर भी इसके प्रकाशन में साहित्य-सदन ने हमें अधिक से अधिक सहयोग प्रदान किया है। एतदर्थ हम उसका धन्यवाद करते हैं।

सम्पादक-मण्डल का यह सौभाग्य है कि उसे अपने सम्पादन-कार्य में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के सत्परामर्श का सुयोग मिलता रहा है। उनके प्रति सम्पादक-मण्डल अपनी कृतज्ञ श्रद्धा व्यक्त करता है।

सुमित्रानन्दन पन्त

वसन्त पञ्चमी, सम्वत् २०१०

बालकृष्ण राव

नगेन्द्र

पुस्तक के आवरण-पृष्ठ का अंकन श्री सुशील सरकार ने किया है। इसके लिए हम आभारी हैं।

—प्रकाशक

कवि-सूची

रूप

श्रीधर पाठक	१
महावीरप्रसाद द्विवेदी	११
नाथूराम 'शंकर'	१३
राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'	१५
अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'	१९
रामचरित उपाध्याय	५८
मैथिलीशरण गुप्त	६१
रामनरेश त्रिपाठी	१११
रूपनारायण पाण्डेय	१३०
लोचनप्रसाद पाण्डेय	१३३
रामचन्द्र शुक्ल	१४१
गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'	१५०
गोपालशरणसिंह	१५३
जगदम्बाप्रसाद 'हितैषी'	१५८
अनूप शर्मा	१६०
गुरुभक्तसिंह	१७३
बलदेवप्रसाद मिश्र	१७९
सुभद्राकुमारी चौहान	२००
श्यामनारायण पाण्डेय	२१६
हृदयनारायण पाण्डेय	२२०

रंग

जयशंकर 'प्रसाद'	२२५
माखनलाल चतुर्वेदी	२५४
मुकुटधर पाण्डेय	२७५
बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'	२८०
सियारामशरण गुप्त	३१५
मोहनलाल महतो 'वियोगी'	३४७
सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'	३५१
सुमित्रानन्दन पन्त	३६४
भगवतीचरण वर्मा	४२४
महादेवी वर्मा	४४८
रामकुमार वर्मा	४६३
उदयशंकर भट्ट	४७२
हरिकृष्ण प्रेमी	४८३
भगवतीप्रसाद वाजपेयी	४६१
जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द'	४६३
लक्ष्मीनारायण मिश्र	५०१
इलाचन्द्र जोशी	५१०
बालकृष्ण राव	५१२
तारा पाण्डेय	५१६
रामधारीसिंह 'दिनकर'	५२०
हरवंशराय 'बच्चन'	५५६

सोहनलाल द्विवेदी	५७६
आरसीप्रसाद सिंह	५८४
नरेन्द्र शर्मा	५८८
रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'	५९७
सुमित्राकुमारी सिन्हा	६०८
विद्यावती 'कोकिल'	६१२
केदारनाथ मिश्र	६१३
गोपालसिंह नैपाली	६१५
जानकीवल्लभ शास्त्री	६२३
उपेन्द्रनाथ अश्क	६२५
नगेन्द्र	६३३
रामइकबालसिंह 'राकेश'	६३७
नर्मदाप्रसाद खरे	६४६
हंसकुमार तिवारी	६४८
सर्वदानन्द वर्मा	६५०
शिवमंगलसिंह 'सुमन'	६५४
केसरी	६६६
सुधीन्द्र	६६८
वीरेन्द्रकुमार जैन	६७०
विश्वम्भर 'मानव'	६७२
गंगाप्रसाद पाण्डेय	६७३
शान्ति एम० ए०	६७४

रेखा

अज्ञेय	६७७
केदार	६८६
गजानन मुक्तिबोध	६८८
शमशेरबहादुर सिंह	६९१
गिरिजाकुमार माथुर	६९२
नेमिचन्द्र जैन	७०१
भारत भूषण अग्रवाल	७०४
भवानीप्रसाद मिश्र	७०८
नागार्जुन	७१३
रांगेय राघव	७१८
त्रिलोचन शास्त्री	७२६
नरेश कुमार मेहता	७२८
धर्मवीर भारती	७३१
रमानाथ अवस्थी	७३३

रूप

श्रीधर पाठक

हिन्द-वन्दना

जय देश हिन्द, देशेश हिन्द
जय सुखमा-सुख-निःशेष हिन्द
जय धन-वैभव-गुण-खान हिन्द
विद्या-बल-बुद्धि-निधान हिन्द
जय चंद्र-चंद्रिका-विमल हिन्द
जय विश्व-वाटिका कमल हिन्द
जय सत्य हिन्द, जय धर्म हिन्द
जय शुभाचरण, शुभ-कर्म हिन्द
जय मलय-मधुर-मारुती, हिन्द
जय कुवलय-कल-भारती, हिन्द
जय विश्व-विदित उद्यान, हिन्द
जय जयति स्वर्ग-सोपान, हिन्द
जय नगर ग्राम अभिराम हिन्द
जय जयति जयति सुखधाम हिन्द
जय सरसिज-मधुकर-निकर हिन्द
जय जयति हिमालय-शिखर हिन्द
जय जयति विन्ध्य-कन्दरा हिन्द
जय मलय-मेरु-मन्दरा हिन्द
जय चित्रकूट कैलास हिन्द
जय किन्नर-यक्ष-निवास हिन्द
जय शैल-सुता सुरसरी हिन्द
जय यमुना गोदावरी हिन्द
जय आगम-पटु-पाटवी हिंद
जय दुर्गम विटपाटवी हिन्द

श्रीधर पाठक

जय उज्ज्वल कीर्ति-विशाल हिन्द
जय करुणा-सिन्धु कृपाल हिन्द
जय जयति सदा स्वाधीन, हिन्द
जय जयति जयति प्राचीन, हिन्द

सान्ध्य-अटन

विजन वन-प्रान्त था प्रकृति मुख शान्त था।
अटन का समय था रजनि का उदय था ॥
प्रसव के काल की लालिमा में लिसा
बाल शशि व्योम की ओर था आ रहा।
सद्य उत्फुल्ल अरविन्द-निभ नील सुवि-
शाल नग वक्ष पर जा रहा था चढ़ा ॥
दिव्य दिङ्नार की गोद का लाल सा
या प्रखर भूख की यातना से प्रहित
पारणा-रक्त रस लिप्सु, अन्वेषणा-
युक्त या क्रीड़नासक्त, मृगराज शिशु
या अतीव क्रोध सन्तप्त जर्मन्य नृप-
सा किया अभ्र बैलून उर में छिपा
इन्द्र, या इन्द्र का छत्र या ताज या
स्वर्ग्य गजराज के भाल का साज या
कर्ण उत्ताल, या स्वर्ण का थाल सा
कभी यह भाव था, कभी वह भाव था।
देखने का चढ़ा चित्त में चाव था ॥
विजन वन शान्त था चित्त अभ्रान्त था।
रजनि-आनन अधिक हो रहा कान्त था ॥

स्थान-उत्थान के साथ ही चन्द्र-मुख
भी समुज्ज्वल लगे था अधिकतर भला।
उस विमल बिम्ब से अनति ही दूर, उस
समय एक व्योम में बिन्दु सा लख पड़ा
स्याह था रंग कुछ गोल गति डोलता
किया अति रंग में भंग उसने खड़ा;
उतरते उतरते आ रहा था उधर
जिधर को शून्य सुनसान थल था पड़ा।
आम के पेड़ से थी जहाँ दीखती
प्रेम-आलिंगिता मालती की लता
बस उसी वृक्ष के सीस की ओर कुछ
खड़खड़ाकर एक शब्द सा सुन पड़ा
साथ ही पंख की फड़फड़ाहट, तथा
शत्रु निःशंक की कड़कड़ाहट, तथा
पक्षियों में पड़ी हड़बड़ाहट, तथा
कंठ और चोंच की चड़चड़ाहट तथा
आर्ति-युत कातर स्वर, तथा शीघ्रता—
युत उड़ाहट भरा दृश्य इस दिव्य-छवि-
लुब्ध दृग-युग्म को घृणित अति दिख पड़ा।
चित्त अति चकित अत्यन्त दुःखित हुआ॥

पुनर्मिलन

"क्यों यह दुःख तुझे परदेसी!" लगा पूछने वैरागी—
"किस कारण से भरा हृदय, क्या व्यथा तेरे मन को लागी!
असौभाग्यवश छूट गया घर, मन्दिर सुख आवास,
जिसके मिलने की तुझको अब रही न कुछ भी आस।

"निज लोगों से बिछुर अकेला उनकी सुध मे रोता है ,
कर कर सोच उन्हीं का फिर फिर तन आँसू से धोता है ।
या मैत्री का लिया बुरा फल, छल से वंचित होय ,
दिया पराये अर्थ व्यर्थ को, सर्बस अपना खोय ?

"नवयौवन के सुधा-सलिल में क्या विष-बिन्दु मिलाया है ?
अपनी सौख्य वाटिका मे क्या कंटक वृक्ष लगाया है ?
अथवा तेरे अमित दुःख का केवल कारण प्रेम ,
होना कठिन निबाह जगत में, जिसका दुर्घट नेम ?

"यहा तुच्छ सांसारिक सुख जो धन के बल से मिलता है ,
काच समान समझिये इसको, पल भर में सब गलता है ।
जो इस नश्यमान धन सुख को, खोजे है मतिमूढ़ ,
उसके तुल्य धरातल ऊपर, है नहिं कोई कूढ़ ।

"उसी भाँति सांसारिक मैत्री केवल एक कहानी है ,
नाम मात्र से अधिक आज तक, नहीं किसी ने जानी है ।
जब तक धन-सम्पदा, प्रतिष्ठा, अथवा यश विख्याति ,
तब तक सभी मित्र, शुभचिन्तक, निज कुल बान्धव ज्ञाति ।

"अपना स्वार्थ सिद्ध करने को जगत मित्र बन जाता है ,
किन्तु काम पडने पर, कोई कभी काम नहिं आता है ।
भरे बहुत से इस पृथ्वी पर पापी, कुटिल, कृतघ्न ,
इसी एक कारण से उसपर, उठें अनेकों विघ्न ।

"जो तू प्रेम पन्थ में पड़कर, मन को दुख पहुँचाता है ,
तो है निपट अजान, अज्ञ, निज जीवन व्यर्थ गँवाता है ।
कुत्सित कुटिल, क्रूर पृथ्वी पर कहाँ प्रेम का वास ?
अरे मूर्ख, आकाश पुष्पवत्, झूठी उसकी आश ।

"जो कुछ प्रेम-अंश पृथ्वी पर, जब तब पाया जाता है,
सो सब शुद्ध कपोतों ही के कुल मे आदर पाता है।
धन-वैभव आदिक से भी, यह थोथा प्रेम-विचार,
वृथा मोह अज्ञान जनित, सब सत्व शून्य निस्सार।

"बड़ी लाज है युवा पुरुष, नहि इसमें तेरी शोभा है,
तज तरुणी का ध्यान, मान, मन जिसपर तेरा लोभा है।"
इतना कहते ही योगी के, हुआ पथिक कुछ और,
लाज-सहित संकोच-भाव सा आया मुख पर दौर।

अति आश्चर्य दृश्य योगी को वहाँ दृष्टि अब आता है,
परम ललित लावण्य रूपनिधि, पथिक प्रकट बन जाता है।
ज्यों प्रभात अरुणोदय बेला विमल वर्ण आकाश,
त्योंही गुप्त बटोही की छवि क्रम-क्रम हुई प्रकाश।

नीचे नेत्र, उच्च वक्षस्थल, रूप छटा फैलाता है,
शनैः शनैः दर्शक के मन पर, निज अधिकार जमाता है।
इस चरित्र से वैरागी को हुआ ज्ञान तत्काल,
नहीं पुरुष यह पथिक विलक्षण किन्तु सुन्दरी बाल!

"क्षमा, होय अपराध साधुवर, हे दयालु सद्गुणराशी!
भाग्य हीन एक दीन विरहिनी, है यथार्थ मे यह दासी।
किया, अशुचि आकर मैंने, यह आश्रम परम पुनीत,
सिर नवाय, कर जोड़, दुःखिनी बोली वचन विनीत!

"शोचनीय मम दशा, कथा मैं कहूँ आप सो सुन लीजे,
प्रेम-व्यथित अबला पर अपनी दया दृष्टि योगी कीजे।
केवल प्रथम प्रेरणा के वश छोड़ा अपना गेह।
धारण किया प्राणपति के हित, पुरुष-वेष निज देह।

श्रीधर पाठक

"टाइन नदि के रम्य तीर पर, भूमि मनोहर हरियाली,
लटक रहीं, झुक रहीं, जहाँ द्रुमलता, छुएँ जल से डाली।
चिपटा हुआ उसी के तट से, उज्ज्वल उच्च विशाल,
शोभित है एक महल बाग में आगे है एक ताल।

"उस समग्र वन, भवन बाग का मेरा बाप ही स्वामी था,
धर्मशील, सत्कर्मनिष्ठ वह जमींदार एक नामी था।
बड़ा धनाढ्य, उदार, महाशय, दीन-दरिद्र-सहाय,
कृषिकारों का प्रेमपात्र, सब विधि सद्गुण समुदाय।

"मेरी बाल्य अवस्था ही में, माँ ने किया स्वर्ग प्रस्थान,
रही अकेली साथ पिता के, थी मैं उसकी जीवन-प्रान।
बड़े स्नेह से उसने मुझको पाला पोसा आप।
सब कन्याओं को परमेश्वर देवे ऐसा बाप।

"दो घंटे तक मुझे नित्य वह श्रम से आप पढ़ाता था,
विद्या-विषयक विविध चातुरी, नित्य नई सिखलाता था।
करूँ कहाँ तक वर्णन उसकी अतुल दया का भाव?
हुआ न होगा किसी पिता का ऐसा मृदुल स्वभाव।

"मैं ही एक बालिका, उसके सत्कुल में जीवित थी शेष,
इससे स्वत्व बाप के धन का प्राप्य मुझी को था निःशेष।
था यथार्थ मे गेह हमारा, सब प्रकार सम्पन्न।
ईश्वर-तुल्य पिता के सम्मुख, थी मैं पूर्ण प्रसन्न।

"हमजोली की सखियों के सँग, पढ़ने लिखने का आनन्द,
परमप्रीतियुत प्यार परस्पर, सब विधि सदा सुखी स्वच्छन्द।
सुख ही सुख में बीता मेरा बचपन का सब काल,
और उसी निश्चिन्त दशा मे लगी सोलवीं साल।

"मुझे पिता की गोदी मे से अलगाने के अभिलाषी ,
आने लगे अनेक युवक अब, दूर दूर तक के वासी ।
भाँति भाँति से करे प्रकट वह अपने मन का भाव ,
बार बार दरसाय बुद्धि, विद्या, कुल, शील, स्वभाव ॥

पूर्ण रूप से मोहित मुझ पर अपना चित्त जनाते थे ,
उपमा सहित रूप मेरे की, विविधि बड़ाई गाते थे ।
नित्य नित्य बहुमूल्य वस्तुओं के नवीन उपहार ,
लाकर धरें करें सुश्रूषा युवक अनेक प्रकार ।

"उनमे एक कुमार एडविन, प्रेमी प्रति दिन आता था ,
वय किशोर सुन्दर सरूप, मन जिसको देख लुभाता था ।
वारे था वह मेरे ऊपर, तन मन सर्वस प्रान ,
किन्तु मनोरथ अपना उसने कभी प्रकाश किया न ।

"साधारण अति रहन सहन, मृदु-बोल हृदय हरने वाला ,
मधुर मधुर मुसक्यान मनोहर, मनुज वंश का उजियाला ।
सभ्य, सुजन, सत्कर्म्मपरायण, सौम्य, सुशील सुजान ,
शुद्ध चरित्र, उदार, प्रकृति शुभ, विद्या बुद्धिनिधान ॥

"नहीं विभव कुछ धन धरती का, न अधिकार कोई उसको था ,
गुण ही थे केवल उसका धन, सो धन सारा मुझको था ।
उस अलभ्य धन के पाने को, थे नहि मेरे भाग ,
हा धिक् व्यर्थ प्राणधारण, धिक् जीवन का अनुराग !

"प्राणपियारे की गुणगाथा, साधु कहाँ तक मै गाऊँ ,
गाते गाते चुके नहीं वह चाहे मै ही चुक जाऊँ ।
विश्वनिकाई विधि ने उसमे की एकत्र बटोर ,
बलिहारी त्रिभुवन धन उस पर वारो काम करोर ।

"मूरत उसकी बसी हृदय में अब तक मुझे जिलाती है,
फिर भी मिलने की दृढ़ आशा, धीरज अभी बँधाती है।
करती हूँ दिन रात उसी का आराधन और ध्यान,
वोही मेरा इष्टदेव है वोही जीवन-प्रान।

"जब वह मेरे साथ टहलने शैल-तटी में जाता था,
अपनी अमृतमयी वाणी से प्रेमसुधा बरसाता था।
उसके स्वर से हो जाता था वनस्थली का ठाम,
सौरभ-मिलित सुरस रवपूरित सुर-कानन सुखधाम।

"उसके मन की सुघराई की उपमा उचित कहाँ पाऊँ?
मुकलित नवल कुसुम कलिका सम कहते फिर फिर सकुचाऊँ।
यद्यपि ओस बिन्दु अति उज्ज्वल, मुक्ता विमल अनूप,
किन्तु एक परिमाणु मात्र भी नहि उसके अनुरूप।

"तरु पर फूल कमल पर जलकण सुन्दर परम सुहाते हैं,
अल्प काल के बीच किन्तु वे कुम्हलाकर मिट जाते हैं।
उनकी उसमें रही मोहनी पर मुझको धिक्कार!
केवल एक क्षणिकता मुझमे थी उनके अनुसार।

"क्योंकि रूप के अहंकार में हुई चपल, चंचल और ढीठ,
प्रेम परीक्षा करने को मैं उसको लगी दिखाने पीठ।
थी यथार्थ में यद्यपि उसपर तन मन से आसक्त,
किन्तु बनाय लिया ऊपर से रूखा रूप विरक्त।

"पहुँचा उसे खेद इससे अति, हुआ दुखित अत्यन्त उदास,
तज दी अपने मन में उसने मेरे मिलने की सब आस।
मैं यह दशा देखने पर भी, ऐसी हुई कठोर।
करने लगी अधिक रूखापन दिन दिन उसकी ओर।

"होकर निपट निरास, अन्त को चला गया वह बेचारा,
अपने उस अनुचित घमंड का फल मैंने पाया सारा।
एकाकी में जाकर उसने तोड़ जगत से नेह,
धोकर हाथ प्रीति मेरी से, त्याग दिया निज देह।

"किन्तु प्रेमनिधि, प्राणनाथ को भूल नहीं मैं जाऊँगी,
प्राण दान के द्वारा उसका ऋण मैं आप चुकाऊँगी।
उस एकान्त ठौर को मैं अब ढूँढ़ूँ हूँ दिन रैन,
दुख की आग बुझाय जहाँ पर दूँ इस मन को चैन

"जाकर वहाँ जगत को मैं भी उसी भाँति बिसराऊँगी,
देह गेह को देय तिलांजलि, प्रिय से प्रीति निभाऊँगी।
मेरे लिए एडविन ने ज्यों किया प्रीति का नेम,
त्योंही मैं भी शीघ्र करूँगी परिचित अपना प्रेम।"

"करै नहीं परमेश्वर ऐसा"! बोला झटपट बैरागी,
लिया गले लिपटाय उसे, पर वह क्रोधित होने लागी।
था परन्तु यह वन का योगी वही एडविन आप,
आयु बितावै था जंगल में, भूल जगत-सन्ताप।

"मेरी जीवन मूर प्रानधन अहो अंजलैना प्यारी!"
बोला उत्कंठित होकर वह,—"अहो प्रीति जग से न्यारी!
इतने दिन का बिछुरा तेरा वही एडविन आज,
मिला प्रिये, तुझको मैं, मेरे हुए सिद्ध सब काज।

"धन्यवाद ईश्वर को देकर बार बार बलि बलि जाऊँ,
तुझको गले लगा कर प्यारी निज जीवन का फल पाऊँ
कर दीजे अब सब चिन्ता का इसी घड़ी से त्याग,
तू यह अपना पथिक वेश तज, मैं छोड़ूँ बैराग।

"प्यारी तुझे छोड़कर मैं अब कभी कहीं नहिं जाऊँगा,
तेरी ही सेवा में अपना जीवन शेष बिताऊँगा।
गाऊँगा तव नाम अहर्निश पाऊँगा सुखदान,
तुही एक मेरा सर्वस धन, तन मन जीवन प्रान।

"इस मुहूर्त से प्रिये, नहीं अब पलभर भी होंगे न्यारे,
जिन विघ्नों से था विछोह यह, सो अब दूर हुए सारे।
यद्यपि भिन्न शरीर हमारे, हृदय प्राण मन एक,
परमेश्वर की अतुल कृपा से निभी हमारी टेक।"

योगी को अब उस रमणी ने भुज पर किया प्रेम आलिंग,
गद्गद बोल, वारिपूरित दृग, उमँगित मन, पुलकित सब अंग।
बार बार आलिंगित दोनों, करें प्रेम रस पान,
एक एक की ओर निहारें, वारें तन मन प्रान।

परम प्रशस्य अहो प्रेमी ये, कठिन प्रेम इनने साधा,
इस अनन्यता सहित धन्य, अपने प्यारे को आराधा।
प्रिय वियोग परितापित होकर, दिया सभी कुछ त्याग,
वन वन फिरना लिया एक ने, दूजे ने बैराग।

धन्य अंजलैना तेरा व्रत, धन्य ऐडविन का यह नेम!
धन्य धन्य यह मनोदमन और धन्य अटल उनका यह प्रेम!
रहो निरन्तर साथ परस्पर, भोगो सुख आनन्द
जुग जुग जियो जुगल जोड़ी, मिल पियो प्रेम मकरन्द!

———

महावीरप्रसाद द्विवेदी

मन्मथ का आदेश

"मैं अवश्य सुरकार्य करूँगा, चाहे हो शरीर भी नाश",
यह दृढ़ कर हिमशैल-शृंग पर गया अनंग शिवाश्रम पास ॥

उस आश्रमवाले अरण्य में थे जितने संयमी मुनीश,
उनके तपोभंग में तत्पर हुआ वहाँ जाकर ऋतुईश।
मन्मथ के अभिमान रूप उस मधु ने अपना प्रादुर्भाव,
चारों ओर किया कानन में, दिखलाया निज प्रबल प्रभाव ॥

यक्षराज जिसका स्वामी है उसी दिशा की ओर प्रयाण
करते हुए देख दिनकर को, उल्लंघन कर समय-विधान।
मन में अति दुःखित सी होकर, हुआ समझ अपना अपमान,
छोड़ा दक्षिण-दिशा-वधू ने मलयानिल निश्वास-समान ॥

कामिनियों के मधुर मधुर रवकारक नव नूपर-धारी,
पद से स्पर्श किये जाने की न कर अपेक्षा सुखकारी।
गुद्दे से लेकर अशोक ने, तत्क्षण महा-मनोहारी,
कली नवल-पल्लव-युत सुन्दर धारण की प्यारी प्यारी ॥

कोमल पत्तों की बनाय झट पक्षपंक्ति लाली लाली,
आम्रमंजरी के प्रस्तुत कर नये विशिख शोभाशाली।
शिल्पकार ऋतुपति ने उन पर मधुप मनोहर बिठलाये,
काम नाम के अक्षर मानो काले काले दिखलाये ॥

रहती है यद्यपि कनेर मे रुचिर रंग की अधिकाई ,
तदपि सुवास हीनता उसके मन को हुई दुःखदाई ।
वही विश्वकर्ता करता है जो कुछ जी मे आता है ,
सम्पूर्णता गुणों की प्रायः कहीं नहीं प्रकटाता है ।

बालचन्द्र सम जो टेढ़ी है, जिनका अब तक नहीं विकास ,
ऐसी अरुण वर्ण कलियों से अतिशय शोभित हुआ पलाश ।
मानो नव वसन्त नायक ने, प्रेम विवश होकर तत्काल ,
वनस्थली को दिये नखों के क्षतरूपी आभरण रसाल ॥

नई वसन्ती ऋतु ने करके तिलक फूल को तिलक समान ,
देकर मधुपमालिका रूपी मृदु कज्जल शोभा की खान ।
जैसा अरुण रंग होता है बाल सूर्य मे प्रातःकाल ,
तद्वत नवल आम्र-पल्लव-मय अपने अधर बनाये लाल ॥

रुचिर चिरौंजी के फूलों की रज जो उड़ उड़ कर छाई ,
हरिणों की ऑखों मे पड़ कर पीड़ा उसने उपजाई ।
इससे वे अन्धे से होकर मरमरात पत्तेवाले ,
कानन में समीर सम्मुख सब भागे मद से मतवाले ॥

आम्रमंजरी का आस्वादन कोकिल ने कर बारंबार ,
अरुणकंठ से किया शब्द जो महा मधुरता का आगार ।
"हे मानिनी कामिनी ! तुम सब अपना मान करो निःशेष"
इस प्रकार मन्मथ महीप का हुआ वही आदेश विशेष ॥

नाथूराम 'शङ्कर'

नख-शिख

कज्जल के कूट पर दीप शिखा सोती है कि,
श्याम घन मंडल में दामिनी की धारा है।
यामिनी के अंक में कलाधर की कोर है कि,
राहु के कवन्ध पै कराल केतु तारा है॥
शंकर कसोटी पर कंचन की लीक है कि,
तेज ने तिमिर के हिये मे तीर मारा है।
काली पाटियों के बीच मोहिनी की माँग है कि,
ढाल पर खाँडा कामदेव का दुधारा है॥
तेज न रहेगा तेजधारियों का नाम को भी,
मंगल मयंक मन्द मन्द पड़ जायँगे।
मीन विन मारे मर जायँगे सरोवर मे;
डूब डूब शंकर सरोज सड़ जायँगे॥
चौंक चौंक चारों ओर चौकड़ी भरेंगे मृग,
खंजन खिलाड़ियों के पंख झड़ जायँगे।
बोलो इन अँखियों की होड़ करने को अब,
कौन से अड़ीले उपमान अड़ जायँगे॥
आँख से न आँख लड़ जाय इसी कारण से,
भिन्नता की भीत करतार ने लगाई है।
नाक में निवास करने को कुटी शंकर की,
छवि ने छपाकर की छाती पै छवाई है॥
कौन मान लेगा कीर तुंड की कठोरता में,
कोमलता तिल के प्रसून की समाई है।

सैकड़ों नुकीले कवि खोज खोज हारे पर ,
ऐसी नासिका की और उपमा न पाई है ॥
उन्नत उरोज यदि युगल उमेश हैं ,
तो काम ने भी देखो दो कमाने ताक तानी हैं ।
शंकर कि, भारती के भावने भवन पर
मोह महाराज की पताका फहरानी है ।
किंवा लटनागिनी की साँवली सँपेलियों ने ,
आधे विधु-बिम्ब पै विलास विधि ठानी है ।
काटती है कामियों को काटती रहेंगी कहो ,
भृकुटी कटारियों का कैसा कड़ा पानी है ॥
अम्बर में एक यहाँ दौज के सुधाकर दो ,
छोड़ें वसुधा पै सुधा मन्द मुसकान की ।
फूले कोकनद मे कुमुदनी के फूल खिले ,
देखिये विचित्र दया भानु भगवान की ॥
कोमल प्रवाल के से पल्लवों पै लाखा लाल ,
लाखे पर लालिमां विलास करे पान की ।
आज इन ओठों का सुरंगी रस पान कर ,
कविता रसीली भई शंकर सुजान की ॥
उन्नति के मूल ऊँचे पर अवनीतल पै
मन्दिर मनोहर मनोज के यमल हैं ।
मेल के मनोरथ मथेंगे प्रेम - सागर को
साधन उतंग युग मन्दर अचल हैं ॥
उद्धत उमंग भरे यौवन खिलाड़ी के ये
शंकर से गोल कड़े कन्दुक युगल हैं ।
तीनों मत रूखे रसहीन हैं उरोज पीन ,
सुन्दर शरीर सुरपादप के फल हैं ॥

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'

रजत-गिरि कैलास

"सो सही"—ज्यों ही कहा यानेश ने ,
यान उतरे त्वरित ओर नगेश के ।
पर्वतस्थल के निकट वह यानदल जब आ गया ,
दृष्टि मे वह सृष्टि का सौन्दर्य दूना छा गया ।

यानदल थोड़ी उँचाई पै रहा ,
मंद चाल अमंद शोभा मे बहा ।
छवि-निदर्शन-हेतु फैले पथिक जन के हस्त थे ,
थे सभी मस्तक झुकाए नेत्र सबके मस्त थे ।

क्या मनोहारी हरे मैदान हैं ,
स्वच्छ कोसों तक छटा की खान हैं !
फूल फूले अमित रंगों के प्रभा आगार हैं ,
फर्श मखमल सब्ज के रंगीन बूटेदार हैं !

कहीं रिमझिम भरी झरनों की बहार ,
है सुरभि के साथ पावस का बिहार ।
परम शीतल पवन भी इस भाँति आती है चली ,
शरद को भी प्रिय लगी मानों मनोहर ये थली ।

वृंद-वृंद उमंग संग विहंग हैं,
शब्द सरसीले छवीले रंग हैं।
कहीं कस्तूरी चमर-युत विविध चारु कुरंग हैं,
सिद्ध गायन के कहीं दरसे रसायन अंग हैं।

देवता का भाव व्यापक है अपार,
देव-धारा ! देव-दारा ! देवदार !
देव-ऋषियों का तपस्थल ! देव-माया का विभास
देव-देव-महेश-प्रिय ! जय अचल देव प्रभा-निवास !

और भी आगे बढ़ी यानावली,
तुंग - शृंगों की हुई बाधक अली।
यानदल को पुनः ऊँची पवन में जाना पड़ा,
बहुत ऊँचे शिखर पाकर तदपि कतराना पड़ा।

देखिये अब और ही कुछ रंग है,
एक केवल सत्व गुण का अंग है,
जहाँ जाती दृष्टि है बस वहाँ हिम की सृष्टि है,
परम निर्मल ! शुद्ध ! उज्ज्वल ! शांतरस की वृष्टि है !

धूल हो कपूर की भी श्वेतिमा,
पूर्णचंद्र प्रकाश में ही पीतिमा !
छीर सागर की छटा हो लोल, कर अवलोकना,
आप ही सम आप है बस अचल आभा शोभना !

ह्वाँ विहंगों की नहीं चिहकार है,
भृंग - पुंजों की नहीं गुंजार है;
गति कुरंगों की नहीं है नहीं द्रुमलतिका कहीं,
क्या तमोगुण की चलाई, है रजोगुण तक नहीं !

वाह, कैसा निर्जनत्व प्रभाव है!
शैल पै कैवल्य का बस भाव है!
सत्य की-सी तर्जनी हिम-शृंग के मिस ठौर-ठौर,
यात्रियों को दे रही थी शुद्ध शिक्षा और-और—

मूक "एको ब्रह्म" की थी गर्जना,
उस चलाचल की कहीं थी वर्जना।
इक जगह वह भाव "सत्यं वद" विसूचक स्वच्छ था;
कहीं "धर्मं चर" सहित उपदेश "ऊर्ध्वंगच्छ" का!

मान के उपदेश वे मानो भले,
धर्मचारी ऊर्ध्वगामी हो, चले।
शृंग - बाधा से सुरक्षित यान धाए वेग से,
पांथगण समझे नहीं उस मार्ग को उद्वेग से!

वाह वा! अब क्या धरा द्युतिवंत है,
हिम सही है पर नहीं हेमन्त है!
मेघ है पर कोइ भी बाधा नहीं बरसात की,
प्राप्त है पर्याप्त सेवा सुखद वासित वात की!

अतिथि मानो योग-निद्रा से जगे,
स्नेह में इस देश नूतन के पगे।
छोड़ यानों को सिधारे हंस मानस-ताल को,
जीव हों ज्यों ब्रह्मगामी त्याग साधन-जाल को!

यात्रियों की दृष्टि जो नीचे गई,
बात देखी इक अचम्भे की नई।
पंक्तियाँ जो थीं मरालों की हवा में भासमान,
थीं मही-तल में सुबिंबित और सारा आसमान!

फिर अधिक ग्रीवा झुका देखी छटा,
बिंब मिस जंगम विमानों की घटा।
चलित हों ज्यों क्षीरसागर में विशाल सुहावने;
यानदल श्री वरुण जी के विपुल आकृति के बने।

× × × ×

आप्तजन उपदेश यों देते हुए,
प्रेम से बोले—"नमः श्री शंभवे!"
यान उतरे स्थित हुए जब उस धरा छवि-रास पै,
कहा यानाधीश ने—"यह रजतगिरि कैलास है।"

—

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

गोधूलि

दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर थी अब राजती,
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा ॥

विपिन बीच विहंगम-वृन्द का,
कलनिनाद विवर्द्धित था हुआ।
ध्वनिमयी - विविधा विहगावली,
उड़ रही नभ - मण्डल मध्य थी ॥

अधिक और हुई नभ - लालिमा,
दश - दिशा अनुरंजित हो गई।
सकल - पादप - पुञ्ज हरीतिमा,
अरुणिमा विनिमज्जित-सी हुई ॥

झलकने पुलिनों पर भी लगी,
गगन के तल की यह लालिमा।
सरि सरोवर के जल में पड़ी,
अरुणता अति ही रमणीय थी ॥

अचल के शिखरों पर जा चढ़ी,
किरण पादप - शीश- विहारिणी।
तरणि-बिम्ब तिरोहित हो चला,
गगन - मण्डल मध्य शनैः शनैः ॥

ध्वनि - मयी कर के गिरि-कन्दरा ,
कलित-कानन केलि निकुञ्ज को ।
बज उठी मुरली इस काल ही ,
तरणिजा - तट - राजित-कुञ्ज में ।।

क्वणित मंजु - विषाण हुए कई ,
रणित शृंग हुए बहु साथ ही ।
फिर समाहित-प्रान्तर-भाग में ,
सुन पड़ा स्वर धावित-धेनु का ।।

निमिष में वन - व्यापित-वीथिका ,
विविध - धेनु - विभूषित हो गई ।
धवल - धूसर - वत्स - समूह भी ,
विलसता जिनके दल साथ था ।।

जब हुए समवेत शनैः शनैः ,
सकल गोप सधेनु समण्डली ।
तब चले व्रज - भूषण को लिये ,
अति अलंकृत-गोकुल-ग्राम को ।।

गगन मण्डल में रज छा गई ,
दश - दिशा बहु - शब्दमयी हुई ।
विशद - गोकुल के प्रति - गेह में ,
बह चला वर-स्रोत विनोद का ।।

पवन-दूत

रो रो चिन्ता-सहित दिन को राधिका थीं बिताती ,
आँखों को थी सजल रखतीं उन्मना थीं दिखाती ।
शोभा वाले जलद-वपु की हो रही चातकी थीं ,
उत्कण्ठा थी परम प्रबला वेदना वर्द्धिता थीं ।।

बैठी खिन्ना एक दिवस वे गेह में थीं अकेली,
आके आँसू दृग-युगल में थे धरा को भिगोते।
आई धीरे इस सदन में पुष्प - सद्गंध को ले,
प्रातः वाली सुपवन इसी काल वातायनों से॥

आके पूरा सदन उसने सौरभीला बनाया,
चाहा सारा कलुष तन का राधिका के मिटाना।
जो बूँदें थीं सजल दृग के पक्ष्म में विद्यमाना,
धीरे धीरे क्षिति पर उन्हें सौम्यता से गिराया॥

श्री राधा को यह पवन की प्यार वाली क्रियायें,
थोड़ी सी भी न सुखद हुईं हो गईं वैरिणी सी।
भीनी भीनी महँक मन की शान्ति को खो रही थी,
पीड़ा देती व्यथित चित को वायु की स्निग्धता थी॥

संतापों को विपुल बढ़ता देख के दुःखिता हो,
धीरे बोलीं सदुख उससे श्रीमती राधिका यों।
प्यारी प्रातः पवन इतना क्यों मुझे है सताती,
क्या तू भी है कलुषित हुई काल की क्रूरता से॥

कालिन्दी के कल पुलिन पै घूमती सिक्त होती,
प्यारे प्यारे कुसुम - चय को चूमती गंध लेती।
तू आती है वहन करती वारि के सीकरों को,
हा! पापिष्ठे फिर किस लिए ताप देती मुझे है॥

क्यों होती है निठुर इतना क्यों बढ़ाती व्यथा है,
तू है मेरी चिर परिचिता तू हमारी प्रिया है।
मेरी बातें सुन मत सता छोड़ दे वामता को,
पीड़ा खो के प्रणतजन की है बड़ा पुण्य होता॥

मेरे प्यारे नव जलद से कंज से नेत्रवाले,
जा के आये न मधुवन से औ न भेजा सँदेशा।
मैं रो रो के प्रिय-विरह से बावली हो रही हूँ,
जा के मेरी सब दुख-कथा श्याम को तू सुना दे॥

हो पाये जो न यह तुझसे तो क्रिया-चातुरी से,
जाके रोने-विकल बनने आदि ही को दिखा दे।
चाहे ला दे प्रिय निकट से वस्तु कोई अनूठी,
हा! हा! मैं हूँ मृतक बनती प्राण मेरा बचा दे॥

तू जाती है सफल थल ही वेगवाली बड़ी है,
तू है सीधी तरल हृदया ताप उन्मूलती है।
मैं हूँ जी में बहुत रखती वायु तेरा भरोसा,
जैसे हो ऐ भगिनि बिगड़ी बात मेरी बना दे॥

कालिन्दी के तट पर घने रम्य उद्यानवाला,
ऊँचे ऊँचे धवल-गृह की पंक्तियों से प्रशोभी।
जो है न्यारा नगर मथुरा प्राणप्यारा वहीं है,
मेरा सूना सदन तज के तू वहाँ शीघ्र ही जा॥

ज्यों ही मेरा भवन तज तू अल्प आगे बढ़ेगी,
शोभावाली सुखद कितनी मंजु कुंजें मिलेंगी।
प्यारी छाया मृदुल स्वर से मोह लेंगी तुझे वे,
तो भी मेरा दुख लख वहाँ जा न विश्राम लेना॥

थोड़ा आगे सरस रव का धाम सत्पुष्पवाला,
अच्छे अच्छे बहु द्रुम लतावान सौन्दर्यशाली।
प्यारा वृन्दाविपिन मन को मुग्धकारी मिलेगा,
आना जाना इस विपिन से मुह्यमाना न होगा॥

जाते जाते अगर पथ में क्लान्त कोई दिखावे,
तो जा के सन्निकट उसकी क्लान्तियों को मिटाना।
धीरे धीरे परस करके गात उत्ताप खोना,
सद्‍गंधों से श्रमित जन को हर्षितों सा बनाना॥

संलग्ना हो सुखद जल के श्रान्तिहारी कणों से,
ले के नाना कुसुम कुल का गंध आमोदकारी।
निर्धूली हो गमन करना उद्धता भी न होना,
आते जाते पथिक जिससे पंथ में शान्ति पावें॥

लज्जा-शीला पथिक-महिला जो कहीं दृष्टि आये,
होने देना विकृत-वसना तो न तू सुन्दरी को।
जो थोड़ी भी श्रमित वह हो गोद ले श्रान्ति खोना,
होठों की औ कमल-मुख की म्लानतायें मिटाना॥

जो पुष्पों के मधुर-रस को साथ सानन्द बैठे,
पीते होवें भ्रमर भ्रमरी सौम्यता तो दिखाना।
थोड़ा सा भी न कुसुम हिले औ न उद्विग्न वे हों,
क्रीड़ा होवे न कलुषमयी केलि में हो न बाधा॥

कालिन्दी के पुलिन पर हो जो कहीं भी कढ़े तू,
छू के नीला सलिल उसका अंग उत्ताप खोना।
जी चाहे तो कुछ समय वाँ खेलना पंकजों से,
छोटी छोटी सु-लहर उठा क्रीड़ितों को नचाना॥

प्यारे प्यारे तरु किशलयों को कभी जो हिलाना,
तो हो जाना मृदुल इतनी टूटने वे न पावें।
शाखापत्रों सहित जब तू केलि में लग्न हो तो,
थोड़ा सा भी न दुख पहुँचे शावकों को खगों के॥

तेरी जैसी मृदु - पवन से सर्वथा शान्ति-कामी,
कोई रोगी पथिक पथ में जो पड़ा हो कहीं तो।
मेरी सारी दुखमय दशा भूल उत्कण्ठ होके,
खोना सारा कलुष उसका शान्ति सर्वाङ्ग होना॥

कोई क्लान्ता कृषक ललना खेत मे जो दिखावे,
धीरे धीरे परस उसकी क्लान्तियों को मिटाना।
जाता कोई जलद यदि हो व्योम मे तो उसे ला,
छाया द्वारा सुखित करना, तप्त भूतांगना को॥

उद्यानों में सु-उपवन में वापिका में सरों में,
फूलोंवाले नवल तरु में पत्र शोभी द्रुमों में।
आते जाते न रम रहना औ न आसक्त होना,
कुंजों में औ कमल-कुल में वीथिका में वनों मे॥

जाते जाते पहुँच मथुरा-धाम में उत्सुका हो,
न्यारी-शोभा वर नगर की देखना मुग्ध होना।
तू होवेगी चकित लख के मेरु से मन्दिरों को,
आभावाले कलश जिनके दूसरे अर्क से हैं॥

जी चाहे तो शिखर सम जो सद्म के हैं मुँडेरे,
वाँ जा ऊँची अनुपम-ध्वजा अङ्क में ले उड़ाना।
प्रासादों में अटन करना घूमना प्रांगणों में,
उद्युक्ता हो सकल सुर से गेह को देख जाना॥

कुंजों बागों विपिन यमुना कूल या आलयों में,
सद्गंधों से भरित मुख की वास सम्बन्ध से आ।
कोई भौंरा विकल करता हो किसी कामिनी को,
तो सद्भावों सहित उसको ताड़ना दे भगाना॥

तू पावेगी कुसुम गहने कान्तता साथ पैन्हे,
उद्यानों में वर नगर के सुन्दरी मालिनों को।
वे कार्य्यों में स्वप्रियतम के तुल्य ही लग्न होंगी,
जो श्रान्ता हों सरस गति से तो उन्हें मोह लेना॥

जो इच्छा हो सुरभि तन के पुष्प संभार से ले,
आते जाते स - रुचि उनके प्रीतमों को रिझाना।
ऐ मर्म्मज्ञे रहित उससे युक्तियाँ सोच होना,
जैसे जाना निकट प्रिय के व्योम - चुम्बी गृहों के॥

देखे पूजा समय मथुरा मन्दिरों मध्य जाना,
नाना वाद्यों मधुर-स्वर की मुग्धता को बढ़ाना।
किंवा ले के रुचिर तरु के शब्दकारी फलों को,
धीरे धीरे मधुर-रव से मुग्ध हो हो बजाना॥

नीचे फूले कुसुम तरु के जो खड़े भक्त होवें,
किंवा कोई उपल-गठिता मूर्ति हो देवता की।
तो डालों को परम मृदुता मंजुता से हिलाना,
औ यों वर्षा कर कुसुम की पूजना पूजितों को॥

तू पावेगी वर नगर में एक भूखण्ड न्यारा,
शोभा देते अमित जिसमें राज - प्रसाद होंगे।
उद्यानों में परम - सुषमा है जहाँ संचिता सी,
छीने लेते सरवर जहाँ वज्र की स्वच्छता हैं॥

तू देखेगी जलद--तन को जा वहीं तद्गता हो,
होंगे लोने नयन उनके ज्योति - उत्कीर्णकारी।
मुद्रा होगी वर-वदन की मूर्ति सी सौम्यता की,
सीधे सादे वचन उनके सिक्त होंगे सुधा से॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

नीले फूले कमल दल सी गात की श्यामता है,
पीला प्यारा वसन कटि में पैन्हते हैं फबीला।
छूटी काली अलक मुख की कान्ति को है बढ़ाती,
सद्वस्त्रों में नवल-तन की फूटती सी प्रभा है॥

साँचे ढाला सकल वपु है दिव्य सौन्दर्य्यशाली,
सत्पुष्पों सी सुरभि उसकी प्राण संपोषिका है।
दोनों कंधे वृषभ-वर से हैं बड़े ही सजीले,
लम्बी बाँहें कलभ-कर सी शक्ति की पेटिका हैं॥

राजाओं सा शिर पर लसा दिव्य आपीड़ होगा,
शोभा होगी उभय श्रुति में स्वर्ण के कुण्डलों की।
नाना रत्नाकलित भुज में मंजु केयूर होंगे,
मोतीमाला लसित उनका कम्बु सा कंठ होगा॥

प्यारे ऐसे अपर जन भी जो वहाँ दृष्टि आवें,
देवों के से प्रथित-गुण से तो उन्हें चीन्ह लेना।
थोड़ी ही है वय तदपि वे तेजशाली बड़े हैं,
तारों में है न छिप सकता कंत राका निशा का॥

बैठे होंगे जिस थल वहाँ भव्यता भूरि होगी,
सारे प्राणी वदन लखते प्यार के साथ होंगे।
पाते होंगे परम निधियाँ लूटते रत्न होंगे,
होती होंगी हृदयतल की क्यारियाँ पुष्पिता सी॥

बैठे होंगे निकट जितने शान्त औ शिष्ट होंगे,
मर्य्यादा का प्रति पुरुष को ध्यान होगा बड़ा ही।
कोई होगा न कह सकता बात दुर्वृत्तता की,
पूरा पूरा प्रति हृदय में श्याम आतंक होगा॥

प्यारे प्यारे वचन उनसे बोलते श्याम होंगे,
फैली जाती हृदय-तल में हर्ष की बेलि होगी।
देते होंगे प्रथित गुण वे देख सद्दृष्टि द्वारा,
लोहा को छू कलित कर से स्वर्ण होंगे बनाते ॥

सीधे जाके प्रथम गृह के मंजु उद्यान में ही,
जो थोड़ी भी तन-तपन हो सिक्त हो के मिटाना।
निर्धूली हो सरस रज से पुष्प के लिप्त होना,
पीछे जाना प्रियसदन में स्निग्धता से बड़ी ही ॥

जो प्यारे के निकट बजती बीन हो मंजुता से,
किंवा कोई मुरज-मुरली आदि कोई हो बजाता।
या गाती हो मधुर स्वर से मण्डली गायकों की,
होने पावे न स्वर लहरी अल्प भी तो विपन्ना ॥

जाते ही छू कमलदल से पाँव को पूत होना,
काली काली कलित अलकें गण्ड शोभी हिलाना।
क्रीड़ायें भी ललित करना ले दुकूलादिकों को,
धीरे धीरे परस तन को प्यार की बेलि बोना ॥

तेरे में है न यह गुण जो तू व्यथायें सुनाये,
व्यापारों को प्रखर मति औ युक्तियों से चलाना।
बैठे जो हों निज सदन में मेघ सी कान्तिवाले,
तो चित्रों को इस भवन के ध्यान से देख जाना ॥

जो चित्रों में विरह- विधुरा का मिले चित्र कोई,
तो जा जाके निकट उसको भव से यों हिलाना।
प्यारे हो के चकित जिससे चित्र की ओर देखें,
आशा है यों सुरति उनको हो सकेगी हमारी ॥

जो कोई भी इस सदन में चित्र उद्यान का हो,
औ हों प्राणी विपुल उसमें घूमते बावले से।
तो जाके संनिकट उसके औ हिला के उसे भी,
देवात्मा को सुरति ब्रज के व्याकुलों की कराना॥

कोई प्यारा-कुसुम कुम्हला गेह में जो पड़ा हो,
तो प्यारे के चरण पर ला डाल देना उसीको।
यों देना ऐ पवन बतला फूल सी एक बाला,
म्लाना हो कमल पग को चूमना चाहती है॥

जो प्यारे मंजु-उपवन या वाटिका में खड़े हों,
छिद्रों में जा क्वणित करना वेणु सा कीचकों को।
यों होवेगी सुरति उनको सर्व गोपांगना की,
जो हैं वंशी श्रवण रुचि से दीर्घ उत्कण्ठ होतीं॥

ला के फूले कमलदल को श्याम के सामने ही,
थोड़ा थोड़ा विपुल जल में व्यग्र हो हो डुबाना।
यों देना ऐ भगिनि जतला एक अंभोजनेत्रा,
आँखों को हो विरह-विधुरा वारि में बोरती है॥

धीरे लाना वहन कर के नीप का पुष्प कोई,
औ प्यारे के चपल दृग के सामने डाल देना।
ऐसे देना प्रकट दिखला नित्य आशंकिता हो,
कैसी होती विरहवश मैं नित्य रोमांचिता हूँ॥

बैठे नीचे जिस विटप के श्याम होवें उसीका,
कोई पत्ता निकट उनके नेत्र के ले हिलाना।
यों प्यारे को विदित करना चातुरी से दिखाना,
मेरे चिन्ता-विजित चित का क्लान्त हो काँप जाना॥

सूखी जाती मलिन लतिका जो धरा में पड़ी हो,
तो पाँवों के निकट उसको श्याम के ला गिराना।
यों सीधे से प्रकट करना प्रीति से वंचिता हो,
मेरा होना अति मलिन औ सूखते नित्य जाना॥

कोई पत्ता नवल तरु का पीत जो हो रहा हो,
तो प्यारे के दृग युगल के सामने ला उसे ही।
धीरे धीरे सँभल रखना औ उन्हें यों बताना,
पीला होना प्रबल दुख से प्रोषिता सा हमारा॥

यों प्यारे को विदित करके सर्व मेरी व्यथायें,
धीरे धीरे वहन कर के पाँव की धूलि लाना।
थोथी सी भी चरण रज जो ला न देगी हमें तू,
हा! कैसे तो व्यथित चित्त को बोध मैं दे सकूँगी॥

जो ला देगी चरणरज तो तू बड़ा पुण्य लेगी,
पूता हूँगी भगिनि उसको अंग में मैं लगाके।
पोतूँगी जो हृदय तल में वेदना दूर होगी,
डालूँगी मैं शिर पर उसे आँख में ले मलूँगी॥

तू प्यारे का मृदुल स्वर ला मिष्ट जो है बड़ा ही,
जो यों भी है क्षरण करती स्वर्ग की सी सुधा को।
थोड़ा भी ला श्रवणपुट में जो उसे डाल देगी,
मेरा सूखा हृदयतल तो पूर्ण उत्फुल्ल होगा॥

भीनी भीनी सुरभि सरसे पुष्प की पोषिका सी,
मूलीभूता अवनितल में कीर्त्ति कस्तूरिका की।
तू प्यारे के नवलतन की बास ला दे निराली,
मेरे ऊबे व्यथित चित में शान्ति धारा बहा दे॥

होते होवें पतित कण जो अङ्गरागादिकों के,
धीरे धीरे वहन कर के तू उन्हींको उड़ा ला।
कोई माला कलकुसुम की कंठसंलग्न जो हो,
तो यत्नों से विकच उसका पुष्प ही एक ला दे॥

पूरी होवें न यदि तुझसे अन्य बातें हमारी,
तो तू मेरी विनय इतनी मान ले औ चली जा।
छू के प्यारे कमलपग को प्यार के साथ आ जा,
जी जाऊँगी हृदयतल मे मैं तुझीको लगाके॥

महारास

भू में रमी शरद की कमनीयता थी,
नीला अनन्त-नभ निर्मल हो गया था।
थी छा गई ककुभ में अमिता सिताभा,
उत्फुल्ल सी प्रकृति थी प्रतिभात होती॥

होता सतोगुण-प्रसार दिगन्त में है,
है विश्व-मध्य सितता अभिवृद्धि पाती।
सारे स-नेत्र जन को यह थे बिताते,
कान्तार-काश, विकसे सित-पुष्प-द्वारा॥

शोभा-निकेत अति-उज्वल कान्तिशाली,
था-वारि-बिन्दु जिसका नव मौक्तिकों सा।
स्वच्छोदका विपुल-मंजुल-वीचि-शीला,
थी मन्द-मन्द बहती सरितातिभव्या॥

उछ्वास था न अब कूल विलीनकारी,
था वेग भी न अति-उत्कट कर्ण-भेदी।
आवर्त्त-जाल अब था न धरा-विलोपी,
धीरा, प्रशान्त, विमलाम्बुवती, नदी थी॥

था मेघ शून्य नभ उज्वल-कान्तिवाला,
मालिन्य-हीन मुदिता नव-दिग्वधू थी।
थी भव्य-भूमि गत-कर्दम स्वच्छ रम्या,
सर्वत्र धौत जल निर्मलता लसी थी॥

कान्तार में सरित-तीर सुगह्वरों में,
थे मंद-मंद बहते जल स्वच्छ-सोते।
होती अजस्र उनमें ध्वनि थी अनूठी,
वे थे कृती शरद की कल-कीर्ति गाते॥

नाना नवागत - विहंग - वरूथ - द्वारा,
वापी तड़ाग सर शोभित हो रहे थे।
फूले सरोज मिष हर्षित लोचनों से,
वे हो विमुग्ध जिनको अवलोकते॥

नाना - सरोवर खिले - नव-पंकजों को,
ले अंक में विलसते मन-मोहते थे।
मानो पसार अपने शतशः करों को,
वे मॉगते शरद से सु-विभूतियॉ थे॥

प्यारे सु-चित्रित सितासित रंगवाले,
थे दीखते चपल-खंजन प्रान्तरों में।
बैठी मनोरम सरों पर सोहती थी,
आई स-मोद व्रज-मध्य मराल-माला॥

प्रातः निरम्बु कर पावस-नीरदों को,
पानी सुखा प्रचुर-प्रान्तर औ पथों का।
न्यारे-असीम-नभ में मुदिता मही में,
व्यापी नवोदित-अगस्त नई-विभा थी॥

था क्वार-मास निशि थी अति-रम्य-राका,
पूरी कला-सहित शोभित चन्द्रमा था।
ज्योतिर्मयी विमलभूत दिशा बना के,
सौंदर्य्य साथ लसती क्षिति में सिता थी॥

शोभा-मयी शरद की ऋतु पा दिशा में,
निर्मेघ-व्योम-तल में सु-वसुंधरा में।
होती सु-संगति अतीव-मनोहरा थी,
न्यारी कलाकर-कला नव स्वच्छता की॥

प्यारी-प्रभा रजनि-रंजन की नगों को,
जो थी असंख्य नव-हीरक से लसाती।
तो वीचि में तपन की प्रिय-कन्यका के,
थी चारु-चूर्ण-मणि मौक्तिक के मिलाती॥

थे स्नात से सकल-पादप चन्द्रिका से,
प्रत्येक-पल्लव प्रभा-मय दीखता था।
फैली लता विकच-वेलि प्रफुल्ल-शाखा,
डूबी विचित्र-तर निर्मल-ज्योति में थी॥

जो मेदनी रजत-पत्र-मयी हुई थी,
किंवा पयोधि-पय से यदि प्लाविता थी।
तो पत्र-पत्र पर पादप-वेलियों के,
पूरी हुई प्रचित-पारद-प्रक्रिया थी॥

थी मंद - मंद हँसता विधु व्योम-शोभी ,
होती प्रवाहित धरातल में सुधा थी ।
जो पा प्रवेश दृग में प्रिय - अंशु - द्वारा ,
थी मत्त - प्राय करती मन - मानवों का ॥

अत्युज्वला पहन तारक - मुक्त - माला ,
दिव्यांवरा बन अलौकिक - कौमुदी से ।
शोभा - भरी परम - मुग्धकरी हुई थी ,
राका कलाकर - मुखी रजनी - पुरन्ध्री ॥

पूरी समुज्वल हुई सित - यामिनी थी ,
होता प्रतीत रजनी - पति भानु-सा था ।
पीती कभी परम - मुग्ध बनी सुधा थी ,
होती कभी चकित थी चतुरा - चकोरी ॥

ले पुष्प - सौरभ तथा पय - सीकरों को ,
थी मन्द - मन्द बहती पवनातिप्यारी ।
जो थी मनोरम अतीव - प्रफुल्ल - कारी ,
हो सिक्त सुन्दर सुधाकर की सुधा से ॥

चन्द्रोज्वला रजत - पत्र - वती मनोज्ञा ,
शान्ता नितान्त - सरसा सु-मयूख सिक्ता ।
शुभ्रांगिनी सु - पवना सुजला सु - कूला ,
सत्पुष्पसौरभवती वन - मेदिनी थी ॥

ऐसी अलौकिक अपूर्व वसुंधरा में ,
ऐसे मनोरम - अलंकृत - काल को पा ।
वंशी अचानक बजी अति ही रसीली ,
आनन्द - कन्द ब्रज - गोप-गणाग्रणी की ॥

भावाभयी मुरलिका स्वर मुग्ध-कारी,
आदौ हुआ मरुत साथ दिगन्त-व्यापी।
पीछे पड़ा श्रवण में बहु-भावुकों के,
पीयूष के प्रमुद-वर्द्धक-विन्दुओं-सा॥

पूरी विमोहित हुईं यदि गोपिकायें,
तो गोप-वृन्द अति-मुग्ध हुए स्वरों से।
फैलीं विनोद-लहरें ब्रज-मेदिनी में,
आनन्द-अंकुर उगा उर में जनों के॥

वंशी-निनाद सुन त्याग निकेतनों को,
दौड़ी अपार जनताति उमंगिता हो।
गोपी-समेत बहु गोप तथांगनायें,
आईं विहार-रुचि से वन-मेदिनी में॥

उत्साहिता विलसिता बहु-मुग्ध-भूता,
आईं विलोक जनता अनुराग-मग्ना।
की श्याम ने रुचिर-क्रीड़न की व्यवस्था,
कान्तार में पुलिन पै तपनांगजा के॥

हो हो विभक्त बहुशः दल में सबों ने,
प्रारंभ की विपिन में कमनीय-क्रीड़ा।
बाजे बजा अति-मनोहर-कण्ठ से गा,
उन्मत्त-प्राय बन चित्त-प्रमत्तता से॥

मंजीर नूपुर मनोहर-किंकिणी की,
फैली मनोज्ञ-ध्वनि मंजुल वाद्य की सी।
छेड़ी गईं फिर स-मोद गईं बजाईं,
अत्यन्त कान्त कर से कमनीय-वीणा॥

थापें मृदंग पर जो पड़ती सधी थीं,
वे थीं स - जीव स्वर - सप्तक को बनाती।
माधुर्य्य - सार बहु - कौशल से मिला के,
थीं नाद को श्रुति मनोहरता सिखाती॥

मीठे - मनोरम - स्वरांकित वेणु नाना,
हो के निनादित विनोदित थे बनाते।
थी सर्व में अधिक - मंजुल - मुग्धकारी,
वंशी महा - मधुर केशव कौशली की॥

हो - हो सुवादित मुकुन्द सदंगुली से,
कान्तार में मुरलिका जब गूँजती थी।
तो पत्र - पत्र पर था कल - नृत्य होता,
रागांगना - विधु मुखी चपलांगिनी का॥

भू-व्योम-व्यापित कलाधर की सुधा में,
न्यारी - सुधा मिलित हो मुरली-स्वरों की।
धारा अपूर्व - रस की महि में बहा के,
सर्वत्र थी अति - अलौकिकता लसाती॥

उत्फुल्ल थे विटप - वृन्द विशेष होते,
माधुर्य्य था विकच, पुष्प - समूह पाता।
होती विकाश - मय मंजुल - वेलियाँ थीं,
लालित्य - धाम बनती नवला लता थी॥

क्रीड़ा - मयी ध्वनि - मयी कल-ज्योतिवाली,
धारा असेवत सरि की अति तद्गता थी।
थी नाचती उमगती अनुरक्त होती,
उल्लासिता विहसितातिं प्रफुल्लिता थी॥

पाई अपूर्व - स्थिरता मृदु - वायु ने थी ,
मानो अचंचल विमोहित हो बनी थी ।
वंशी मनोज्ञ - स्वर से बहु - मोदिता हो ।
माधुर्य्य - साथ हँसती सित-चन्द्रिका थी ॥

सत्कण्ठ साथ नर - नारि - समूह - गाना ,
उत्कण्ठ था न किसको महि में बनाता ।
तानें उमंगित - करी कल - कण्ठ जाता ,
तंत्री रहीं जन-उरस्थल की बजाती ॥

ले वायु कण्ठ - स्वर, वेणु - निनाद-न्यारा ,
प्यारी मृदंग - ध्वनि, मंजुल बीन - मीड़ें ।
सामोद घूम बहु - पान्थ खगों मृगों को ,
थीं मत्तप्राय नर - किन्नर को बनाती ॥

हीरा समान बहु - स्वर्ण - विभूषणों में ,
नाना विहंग - रव में पिक - काकली सी ।
होती नहीं मिलित थीं अति थीं निराली ,
नाना - सुवाद्य - स्वन में हरि - वेणु - तानें ॥

ज्यों ज्यों हुई अधिकता कल - वादिता की ,
ज्यों ज्यों रही सरसता अभिवृद्धि पाती ।
त्यों त्यों कला विवशता सु - विमुग्धता की ,
होती गई समुदिता उर में सबों के ॥

गोपी समेत अतएव समस्त - ग्वाले ,
भूले स्व - गात सुधि हो मुरली - रसार्द्र ।
गाना रुका सकल - वाद्य रुके सवीणा ।
वंशी - विचित्र - स्वर केवल गूँजता था ॥

होती प्रतीति उर में उस काल यों थी,
है मंत्र साथ मुरली अभिमंत्रिता सी।
उन्माद - मोहन - वशीकरणादिकों के,
हैं मंजु- धाम उसके ऋजु - रंध्र - सा तो ॥

पुत्र - प्रिया - सहित मंजुल - राग गा - गा,
ला - ला स्वरूप उनका जन - नेत्र - आगे।
ले - ले अनेक उर - वेधक - चारु - तानें,
कीं श्याम ने परम - मुग्धकारी क्रियायें ॥

पीछे अचानक रुकीं वर - वेणु तानें,
चावों समेत सबकी सुधि लौट आई।
आनंद - नादमय कंठ - समूह द्वारा,
हो - हो पड़ीं ध्वनित बार कई दिशाएँ ॥

मोह और प्रणय

मैं हूँ ऊधो पुलकित हुई आपको आज पा के,
सन्देशों को श्रवण कर के और भी मोदिता हूँ।
मंदीभूता, उर - तिमिर की ध्वंसिनी ज्ञान आभा,
उद्दीप्ता हो उचित - गति से उज्ज्वला हो रही है ॥

मेरे प्यारे, पुरुष, पृथिवी - रत्न औ शान्त धी हैं,
सन्देशों में तदपि उनकी, वेदना, व्यंजिता है।
मैं नारी हूँ, तरल - उर हूँ, प्यार से वंचिता हूँ,
जो होती हूँ विकल, विमना, व्यस्त, वैचित्र्य क्या है ॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

हो जाती है रजनि मलिना ज्यों कला - नाथ डूबे ,
वाटी शोभा रहित बनती ज्यों वसन्तान्त मे है ।
त्योंही प्यारे विधु - वदन की कान्ति से वंचिता हो ,
श्री - हीना और मलिन ब्रज की मेदिनी हो गई है ॥

जैसे प्रायः लहर उठती वारि में वायु से है ,
त्योंही होता चित चलित है कारिचदावेग - द्वारा ।
उद्वेगों से व्यथित बनना बात स्वाभाविकी है ,
हाँ, ज्ञानी औ विबुध - जन में मुह्यता है न होती ॥

पूरा - पूरा परम - प्रिय का मर्म्म मैं बूझती हूँ ,
है जो वांछा विशद उर में जानती भी उसे हूँ ।
यत्नों द्वारा प्रति - दिन अतः मैं महा संयता हूँ ,
तो भी देती विरह - जनिता - वासनाये व्यथा हैं ॥

जो मैं कोई विहग उड़ता देखती व्योम में हूँ ,
तो उत्कण्ठा - विवश चित में आज भी सोचती हूँ ।
होते मेरे अबल तन में पक्ष जो पक्षियों से ,
तो यों ही मैं स-मुद उड़ती श्याम के पास जाती ॥

जो उत्कण्ठा - अधिक प्रबला है किसी काल होती ,
तो ऐसी है लहर उठती चित्त में कल्पना की ।
जो हो जाती पवन, गति पा वांछिता लोक - प्यारी ,
मैं छू आती परम - प्रिय के मंजु - पादाम्बुजों को ॥

निर्लिप्ता हूँ अधिकतर मैं नित्यशः संयता हूँ ,
तो भी होती अति व्यथित हूँ श्याम की याद आते ।
वैसी वांछा जगत - हित की आज भी है न होती ,
जैसी जी मे लसित प्रिय के लाभ की लालसा है ॥

हो जाता है उदित उर में मोह जो रूप - द्वारा ,
व्यापी भू में अधिक जिसकी मंजु - कार्य्यावली है ।
जो प्रायः है प्रसव करता मुग्धता मानसों में ,
जो है क्रीड़ा अवनि चित की भ्रान्ति उद्विग्नता का ॥

जाता है पंच - शर जिसको 'कल्पिता-मूर्त्ति' माना ,
जो पुष्पों के विशिख - बल से विश्व को बेधता है ।
भाव - ग्राही मधुर - महती चित्त - विक्षेप - शीला ,
न्यारी - लीला सकल जिसकी मानसोन्मादिनी है ॥

वैचित्र्यों से वलित उसमें ईदृशी शक्तियाँ हैं ,
ज्ञाताओं ने प्रणय उसको है बताया न तो भी ।
है दोनों से सबल बनती भूरि - आसंग - लिप्सा ,
होती है किन्तु प्रणयज ही स्थायिनी औ प्रधाना ॥

जैसे पानी प्रणय तृषितों की तृषा है न होती ,
हो पाती है न क्षुधित - क्षुधा अन्न - आसक्ति जैसे ।
वैसे ही रूप निलय नरों मोहनी - मूर्त्तियों में ,
हो पाता है न 'प्रणय' हुआ मोह रूपादि - द्वारा ॥

मूली - भूता इस प्रणय की बुद्धि की वृत्तियाँ हैं ,
हो जाती हैं समधिकृत जो व्यक्ति के सद्गुणों से ।
वे होते हैं नित नव, तथा दिव्यता - धाम, स्थायी ,
पाई जाती प्रणय - पथ में स्थायिता है इसीसे ॥

हो पाता है विकृत स्थिरता - हीन है रूप होता ,
पाई जाती नहिं इसलिये मोह में स्थायिता है ।
होता है रूप विकसित भी प्रायशः एक ही सा ,
हो जाता है प्रशमित अतः मोह संभोग से भी ॥

नाना स्वार्थों सरस - सुख की वासना - मध्य डूबा,
आवेगों से वलित ममतावान है मोह होता।
निष्कामी है प्रणय - शुचिता - मूर्त्ति है सात्विकी है,
होती पूरी प्रमिति उसमें आत्म - उत्सर्ग की है ॥

सद्यः होती फलित, चित में मोह की मत्तता है,
धीरे - धीरे प्रणय बसता, व्यापता है उरों में।
हो जाती हैं विवश अपरा - वृत्तियाँ मोह - द्वारा,
भावोन्मेषी प्रणय करता चित्त सद्वृत्ति को है ॥

हो जाते हैं उदय कितने भाव ऐसे उरों में,
होती है मोह - वश जिनमें प्रेम की भ्रान्ति प्रायः।
वे होते हैं न प्रणय न वे हैं समीचीन होते,
पाई जाती अधिक उनमें मोह की वासना है ॥

हो के उत्कण्ठ प्रिय - सुख की भूयसी - लालसा से,
जो है प्राणी हृदय - तल की वृत्ति उत्सर्ग - शीला।
पुण्याकांक्षा सुयश - रुचि वा धर्म - लिप्सा बिना ही,
ज्ञाताओं ने प्रणय अभिधा दान की है उसीको ॥

आदौ होता गुण ग्रहण है उक्त सद्वृत्ति - द्वारा,
हो जाती है उदित उर में फेर आसंग - लिप्सा।
होती उत्पन्न सहृदयता बाद संसर्ग के है,
पीछे खो आत्म - सुधि लसती आत्म - उत्सर्गता है ॥

सद्गंधों से, मधुर - स्वर से, स्पर्श से औ रसों से,
जो हैं प्राणी हृदय - तल में मोह उद्भूत होते।
वे ग्राही हैं जन - हृदय के रूप के मोह ही से,
हो पाते हैं तदपि उतने मत्तकारी नहीं वे ॥

व्यापी भी है अधिक उनसे रूप का मोह होता,
पाया जाता, प्रबल उसका चित्त - चाञ्चल्य भी है।
मानी जाती न क्षिति - तल में है पतंगोपमाना,
भृङ्गों, मीनों, द्विरद मृग की मत्तता प्रीतिमत्ता॥

मोहों में है प्रबल सबसे रूप का मोह होता,
कैसे होंगे अपर, वह जो प्रेम है हो न पाता।
जो है प्यारा प्रणय - मणि सा काँच सा मोह तो है,
ऊँची न्यारी रुचिर महिमा मोह से प्रेम की है॥

दोनों आँखें निरख जिसको तृप्त होती नहीं है,
ज्यों - ज्यों देखें अधिक जिसकी दीखती मंजुता है।
जो है लीला - निलय महि में वस्तु स्वर्गीय जो है,
ऐसा राका - उदित - विधु सा रूप उल्लासकारी॥

उत्कण्ठा से बहु सुन जिसे मत्त सा बार लाखों,
कानों की है न तिल भर भी दूर होती पिपासा।
हृत्तन्त्री में ध्वनित करता स्वर्ग - संगीत जो है,
ऐसा न्यारा - स्वर उर - जयी विश्व - व्यामोहकारी॥

होता है मूल अग जग के सर्वरूपों - स्वरों का,
या होती है मिलित उसमें मुग्धता सद्गुणों की।
ए बातें ही विहित - विधि के साथ हैं व्यक्त होती,
न्यारे गंधों सरस - रस, औ स्पर्श - वैचित्र्य में भी॥

पूरी - पूरी कुँवर - वर के रूप मे है महत्ता,
मंत्रों से हो मुखर, मुरली दिव्यता से भरी है।
सारे न्यारे प्रमुख - गुण की सात्विकी मूर्त्ति वे हैं,
कैसे व्यापी प्रणय उनका अन्तरों मे न होगा॥

जो आसक्ता व्रज - अवनि में बालिकायें कई हैं,
वे सारी ही प्रणय - रँग से श्याम के रञ्जिता हैं।
मैं मानूँगी अधिक उनमें हैं महा - मोह - मग्ना,
तो भी प्रायः प्रणय - पथ की पंथिनी ही सभी हैं॥

मेरी भी है कुछ गति यही श्याम को भूल दूँ क्यों,
काढ़ूँ कैसे हृदय - तल से श्यामली - मूर्ति न्यारी।
जीते जी जो न मन सकता भूल है मंजु - तानें,
तो क्यों होंगी शमित प्रिय के लाभ की लालसायें॥

ए आँखें हैं जिधर फिरती चाहती श्याम को हैं,
कानों को भी मधुर - रव की आज भी लौ लगी है।
कोई मेरे हृदय - तल को पैठ के जो विलोके,
तो पावेगा लसित उसमें कान्ति - प्यारी उन्हींकी॥

जो होता है उदित नभ में कौमुदी कांत आ के,
या जो कोई कुसुम विकसा देख पाती कहीं हूँ।
शोभा - वाले हरित दल के पादपों को विलोके,
है प्यारे का विकच-मुखड़ा आज भी याद आता॥

कालिन्दी के पुलिन पर जा, या मजीले - सरों मे,
जो मैं फूले - कमल - कुल को मुग्ध हो देखती हूँ।
तो प्यारे के कलित - कर की औ अनूठे - पगों की,
छा जाती है सरस - सुषमा वारि स्रावी - दृगों में॥

ताराओं से खचित - नभ को देखती जो कभी हूँ,
या मेघों में मुदित - बक की पंक्तियाँ दीखती हैं।
तो जाती हूँ उमग बँधता ध्यान ऐसा मुझे है,
मानो मुक्ता - लसित - उर है श्याम का दृष्टि आता॥

छू देती है मृदु - पवन जो पास आ गात मेरा ,
तो हो जाती परस सुधि है श्याम-प्यारे - करों की ।
ले पुष्पों की सुरभि वह जो कुंज में डोलती है ,
तो गंधों से बलित मुख की वास है याद आती ॥

ऊँचे - ऊँचे शिखर चित की उच्चता हैं दिखाते ,
ला देता है परम दृढ़ता मेरु आगे दृगों के ।
नाना - क्रीड़ा - निलय - झरना चारु - छींटें उड़ाता ,
उल्लासों को कुँवर - वर के चक्षु में है लसाता ॥

कालिन्दी एक प्रियतम के गात की श्यामता ही ,
मेरे प्यासे दृग - युगल के सामने है न लाती ।
प्यारी लीला सकल अपने कूल की मंजुता से ,
सद्भावों के सहित चित में सर्वदा है लसाती ॥

फूली संध्या परम - प्रिय की कान्ति सी है दिखाती ,
मैं पाती हूँ रजनि - तन में श्याम का रङ्ग छाया ।
ऊषा आती प्रति - दिवस है प्रीति से रंजिता हो ,
पाया जाता वर - वदन सा ओप आदित्य में है ॥

मैं पाती हूँ अलक - सुषमा भृङ्ग की मालिका में ,
है आँखों की सु - छवि मिलती खंजनों औ मृगों में ।
दोनों बाँहें कलभ कर को देख हैं याद आती ,
पाई शोभा रुचिर शुक के ठौर मे नासिका की ॥

है दाँतों की झलक मुझको दीखती दाड़िमों में ,
बिम्बाओं में वर अधर सी राजती लालिमा है ।
मैं केलों मे जघन - युग की मंजुता देखती हूँ ,
गुल्फों की सी ललित सुषमा है गुलों में दिखाती ॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

नेत्रोन्मादी बहु - मुदमयी - नीलिमा गात की सी,
न्यारे नीले गगन - तल के अंक में राजती है।
भू में शोभा, सुरस जल में, वह्नि में दिव्य-आभा,
मेरे प्यारे - कुँवर वर सी प्रायशः है दिखाती ॥

सायं - प्रातः सरस - स्वर से कूजते हैं पखेरू,
प्यारी - प्यारी मधुर - ध्वनियाँ मत्त हो, हैं सुनाते।
मैं पाती हूँ मधुर ध्वनि में कूजने में खगों के,
मीठी - तानें परम - प्रिय की मोहिनी - वंशिका की ॥

मेरी बातें श्रवण कर के आप उद्विग्न होंगे,
जानेंगे मैं विवश बन के हूँ महा - मोह - मग्ना।
सच्ची यों है न निज - सुख के हेतु मैं मोहिता हूँ,
संरक्षा में प्रणय - पथ के भावतः हूँ सयत्ना ॥

हो जाती है विधि - सृजन से इक्षु में माधुरी जो,
आ जाता है सरस रँग जो पुष्प की पंखड़ी में।
क्यों होगा सो रहित रहते इक्षुता - पुष्पता के,
ऐसे ही क्यों प्रसूत उर से जीवनाधार होगा ॥

क्यों मोहेंगे न दृग लख के मूर्त्तियाँ रूपवाली,
कानों को भी मधुर-स्वर से मुग्धता क्यों न होगी।
क्यों डूबेंगे न उर रँग में प्रीति - आरंजितों के,
धाता - द्वारा सृजित तन में तो इसी हेतु वे हैं ॥

छाया - ग्राही मुकुर यदि हो वारि हो चित्र क्या है,
जो वे छाया ग्रहण न करें चित्रता तो यही है।
वैसे ही नेत्र, श्रुति, उर में जो न रूपादि व्यापें,
तो विज्ञानी - विबुध उनको स्वस्थ कैसे कहेंगे ॥

पाई जाती श्रवण करने आदि में भिन्नता है,
देखा जाना प्रभृति भव में भूरि - भेदों भरा है।
कोई होता कलुष - युत है कामना - लिप्त हो के,
त्योंही कोई परम - शुचितावान औ संयमी है॥

पक्षी होता सु - पुलकित है देख सत्पुष्प फूला,
भौंरा शोभा निरख रस ले मत्त हो गूँजता है।
अर्थी - माली मुदित बन भी है उसे तोड़ लेता,
तीनों का ही कल - कुसुम का देखना यों त्रिधा है॥

लोकोल्लासी छवि लख किसी रूप उद्भासिता की,
कोई होता मदन - वश है मोद में मग्न कोई।
कोई गाता परम - प्रभु की कीर्त्ति हैं मुग्ध सा हो,
यों तीनों की प्रचुर - प्रखरा दृष्टि है भिन्न होती॥

शोभा - वाले विटप विलसे पक्षियों के स्वरों से,
विज्ञानी है परम - प्रभु के प्रेम का पाठ पाता।
व्याधा की हैं हनन - रुचियाँ और भी तीव्र होती,
यों दोनों के श्रवण करने में बड़ी भिन्नता है॥

यों ही है भेद युत चखना, सूँघना और छूना,
पात्रों में है प्रकट इनकी भिन्नता नित्य होती।
ऐसी ही हैं हृदय - तल के भाव में भिन्नतायें,
भावों ही से अवनि - तल है स्वर्ग के तुल्य होता॥

प्यारे आवें सु - बयन कहें प्यार से गोद लेवें,
ठंढे होवें नयन - दुख हों दूर मैं मोद पाऊँ।
ए भी हैं भाव मम उर के और ए भाव भी हैं,
प्यारे जीवें जग - हित करें गेह चाहे न आवें॥

जो होता है हृदय - तल का भाव लोकोपतापी,
छिद्रान्वेषी, मलिन, वह है तामसी - वृत्ति - वाला।
नाना भोगाकलित, विविधा - वासना - मध्य डूबा,
जो है स्वार्थाभिमुख वह है राजसी - वृत्ति शाली ॥

निष्कामी है भव - सुखद है और है विश्व - प्रेमी,
जो है भोगपरत वह है सात्विकी - वृत्ति शोभी।
ऐसी ही है श्रवण करने आदि की भी व्यवस्था,
आत्मोत्सर्गी, हृदय - तल की सात्विकी - वृत्ति ही है ॥

सीता का स्वर्गारोहण

शीत-काल था, वाष्पमय बना व्योम था,
अवनी-तल में था प्रभूत-कुहरा भरा।
प्रकृति-वधूटी रही मलिन-वसना बनी,
प्राची सकती थी न खोल मुँह मुसुकुरा ॥

उषा आई किन्तु विहँस पाई नहीं,
राग-मयी हो बनी विरागमयी रही।
विकस न पाया दिगंगना - वर-वदन भी,
बात न जाने कौन गई उससे कही ॥

ठंढी - साँस समीरण भी था भर रहा,
था प्रभात के वैभव पर पाला पड़ा।
दिन-नायक भी था न निकलना चाहता,
उन पर भी था कु-समय का पहरा कड़ा ॥

हरे - भरे - तरुवर मन मारे थे खड़े ,
पत्ते कँप कँप कर थे आँसू डालते ।
कलरव करते आज नहीं खग - वृन्द थे ,
खोतों से वे मुँह भी थे न निकालते ॥

कुछ उँजियाला होता फिर घिरता तिमिर ,
यही दशा लगभग दो घंटे तक रही ।
तदुपरान्त रवि-किरणावलि ने बन सबल ,
मानों बातें दिवस-स्वच्छता की कही ॥

कुहरा टला, दमकने अवधपुरी लगी ,
दिवनायक ने दिखलाई निज दिव्यता ।
जन-कल-कल से हुआ आकलित कुल-नगर,
भवन भवन में भूरि-भर-गई-भव्यता ॥

अवध - वर - नगर अश्वमेध - उपलक्ष से ,
समधिक - सुन्दरता से था सज्जित हुआ ।
जन-समूह सुन जनक - नन्दिनी-आगमन ,
था प्रमोद - पाथोधि में निमज्जित हुआ ॥

ऋषि, महर्षि, विबुधों, भूपालो, दर्शकों ,
संत - महंतों, गुणियों से था पुर भरा ।
विविध-जनपदों के बहु-विध-नर वृन्द से ,
नगर बन गया देव - नगर था दूसरा ॥

आज यही चर्चा थी घर घर हो रही ,
जन जन चित की उत्कण्ठा थी चौगुनी ।
उत्सुकता थी मूर्तिमन्त बन नाचती ,
दर्शन की लालसा हुई थी सौगुनी ॥

यदि प्रफुल्ल थी धवल-धाम की धवलता ,
पहन कलित-कुसुमावलि-मंजुल-मालिका ।
बहु-वाद्यों की ध्वनियों से हो हो ध्वनित ,
अट्टहास तो करती थी अट्टालिका ॥

यदि विलोकते पथ थे वातायन - नयन ,
सजे-सदन स्वागत-निमित्त तो थे लसे ।
थे समस्त-मन्दिर बहु-मुखरित कीर्त्ति से ,
कनक के कलस उनके थे उल्लसित से ॥

कल - कोलाहल से गलियाँ भी थीं भरी ,
ललक - भरे जन जहाँ तहाँ समवेत थे ।
स्वच्छ हुई सड़कें थीं, सुरभित, सुरभि से—
बने चौरहे भी चारुता - निकेत थे ॥

राजमार्ग पर जो बहु - फाटक थे बने ,
कारु - कार्य्य उनके अतीव-रमणीय थे ।
थीं झालरें लटकती मुक्ता - दाम की ,
कनक-तार के काम परम - कमनीय थे ॥

लगी जो ध्वजायें थीं परम - अलंकृता ,
विविध - स्थलों मन्दिरों पर तरुवरों पर ।
कर नर्त्तन कर शुभागमन - संकेत बहु ,
दिखा रही थीं दृश्य बड़े ही मुग्धकर ॥

सलिल - पूर्ण नव - आम्र-पल्लवों से सजे ,
पुर-द्वारों पर कान्त-कलस जो थे लसे ।
वे यह व्यंजित करते थे मुझमें, मधुर—
मंगल - मूलक - भाव मनों के हैं बसे ॥

राजभवन के तोरण पर कमनीयतम ,
नौबत बढ़े मधुर - स्वर से थी बज रही ।
उसके सम्मुख जो अति-विस्तृत-भूमि थी ,
मनोहारिता - हाथों से थी सज रही ॥

जो विशालतम - मण्डप उसपर था बना ,
धीरे धीरे वह सशान्ति था भर रहा ।
अपने सज्जित - रूप अलौकिक-विभव से ,
दर्शक-गण को बहु-विमुग्ध था कर रहा ॥

सुनकर शुभ-आगमन जनक-नन्दिनी का ,
अभिनन्दन के लिए रहे उत्कण्ठ सब ।
कितनों की थी यह अति - पावन-कामना ,
अवलोकेंगे पतिव्रता - पद - कंज कब ॥

स्थान बने थे भिन्न भिन्न सबके लिए ,
ऋषि,महर्षि, नृप-वृन्द,विबुध-गण-मण्डली ।
यथास्थान थी बैठी अन्य - जनों सहित ,
चित्त-वृत्ति थी बनी विकच-कुसुमावली ॥

एक भाग था बड़ा - भव्य मञ्जुल-महा ,
उसमें राजभवन की सारी - देवियाँ ।
थीं विराजती कुल - बालाओं के सहित ,
वे थीं वसुधातल की दिव्य - विभूतियाँ ॥

जितने आयोजन थे सज्जित - करण के ,
नगर में हुए जो मंगल - सामान थे ।
विधि - विडम्बना-विवश तुषार-प्रपात से ,
सभी कुछ न कुछ अहह हो गये म्लान थे ॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'

गगन - विभेदी जयजयकारों के जनक ,
विपुल-उल्लसित जनता के आह्लाद ने ।
जनक - नन्दिनी पुर - प्रवेश की सूचना ,
दी अगणित-वाद्यों के तुमुल-निनाद ने ॥

सबसे आगे वे सैकड़ों सवार थे ,
जो हाथों में दिव्य - ध्वजायें थे लिये ।
जो उड़ उड़ कर यह सूचित कर रही थीं ,
कीर्त्ति - धरा मे होती है सत्कृति किये ॥

इनके पीछे एक दिव्यतम - यान था ,
जिसपर बैठे हुए थे भरत रिपुदमन ।
देख आज का स्वागत महि-नन्दिनी का ,
था प्रफुल्ल शतदल जैसा उनका बदन ॥

इसके पीछे कुलपति का था रुचिर - रथ ,
जिसपर वे हो समुत्फुल्ल आसीन थे ।
बन विमुग्ध थे अवध - छटा अवलोकते ,
राम - चरित की ललामता में लीन थे ॥

जनक - सुता - स्यंदन इसके उपरान्त था ,
जिसपर थी कुसुमों की वर्षा हो रही ।
वे थीं उसपर पुत्रों - सहित विराजती ,
दिव्य-ज्योति मुख की थी भव-तम खो रही ॥

कुश मणि-मण्डित-छत्र हाथ में थे लिये ,
चामीकर का चमर लिये लव थे खड़े ।
एक ओर सादर बैठे सौमित्रि थे ,
देखे जनता - भक्ति थे प्रफुल्लित - बड़े ॥

सबके पीछे बहुश: - विशद - विमान थे ,
जिनपर थी आश्रम - छात्रों की मण्डली ।
छात्राओं की संख्या भी थोडी न थी ,
बनी हुईं थीं जो वसन्त विटपावली ॥

धीरे धीरे थे समस्त - रथ चल रहे ।
विविध-वाद्य-वादन - रत वादक-वृन्द था ,
चारों ओर विपुल - जनता का यूथ था ,
जो प्रभात का बना हुआ अरविन्द था ॥

बरस रही थी लगातार सुमनावली ,
जय-जय ध्वनि से दिशा ध्वनित थी हो रही ।
उमड़ा हुआ प्रमोद - पयोधि - प्रवाह था ,
'प्रकृति' उरों में 'सुकृति' बीज थी बो रही ॥

कुश - लव का श्यामावदात सुन्दर - वदन ,
रघुकुल-पुंगव सी उनकी कमनीयता ।
मातृ-भक्ति-रुचि वेश-वसन की विशदता ,
परम - सरलता मनोभाव - रमणीयता ॥

मधुर - हँसी मोहिनी - मूर्त्ति मृदुतामयी ,
कान्ति - इन्दु सी दिन-मणि सी तेजस्विता ।
अवलोके द्विगुणित होती अनुरक्ति थी ,
बनती थी जनता विशेष-उत्फुल्लिता ॥

जब मुनि-पुंगव रथ समेत महि - नन्दिनी ,
रथ पहुँचा सज्जित - मंडप के सामने ।
तब सिंहासन से उठ सादर यह कहा ,
मण्डप के सब महजनों से राम ॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' :

आप लोग कर कृपा यहीं बैठे रहें,
जाता हूँ मुनिवर को लाऊँगा यहीं।
साथ लिये मिथिलाधिप की नन्दिनी को,
यथा शीघ्र फिर आ जाऊँगा यहीं॥

रथ पहुँचा ही था कि कहा सौमित्रि ने,
आप सामने देखें प्रभु हैं आ रहे।
श्रवण - रसायन के समान यह कथन सुन,
स्रोत - सुधा के सिय अन्तस्थल में बहे॥

उसी ओर अति - आकुल - आँखें लग गईं,
लगी निछावर करने वे मुक्तावली।
बहुत समय से कुम्हलाई आशा - लता,
कल्पवेलि सी कामद बन फूली फली॥

रोम रोम अनुपम - रस से सिञ्चित हुआ,
पली अलौकिकता - कर से पुलकावली।
तुरत खिली खिलने में देर हुई नहीं,
बिना खिले खिलती है जो जी की कली॥

घन - तन देखे वह वासना सरस बनी,
जो वियोग - तप - ऋतु - आतप से थी जली।
विधु - मुख देखे तुरत जगमगा वह उठी,
तम - भरिता थी जो दुश्चिन्ता की गली॥

जब रथ से थीं उतर रही जनकांगजा,
उसी समय मुनिवर की करके बन्दना।
पहुँचे रघुकुल - तिलक वल्लभा के निकट,
लोकोत्तर था पति - पत्नी का सामना॥

ज्योंही पति प्राणा ने पति - पद - पद्म का ,
स्पर्श किया निर्जीव - मूर्त्ति सी बन गईं ।
और हुए अतिरेक चित्त - उल्लास का ,
दिव्य - ज्योति में परिणत वे पल में हुईं ॥

लगे वृष्टि करने सुमनावलि की त्रिदश ,
तुरत दुंदुभी नभतल में बजने लगी ।
दिव्य - दृष्टि ने देखा, है दिव - गामिनी ,
वह लोकोत्तर - ज्योति जो धरा में जगी ॥

वह थी पतिव्रत - विमान पर विलसती ,
सुकृती, सत्यता, सात्विकता की मूर्त्तियाँ ।
चमर डुलाती थीं करती जयनाद थीं ,
सुर - बालाएँ करती थीं कृति - पूर्त्तियाँ ॥

क्या महर्षि क्या विबुध-वृन्द क्या नृपति-गण ,
क्या साधारण जनता क्या सब जानपद ।
सभी प्रभावित दिव्य - ज्योति से हो गये ,
मान लोक के लिए उसे आलोक प्रद ॥

मुनि - पुंगव - रामायण की बहु - पंक्तियाँ ,
पाकर उसकी विभा जगमगाईं अधिक ।
कृति - अनुकूल ललिततम उसके ओप से ,
लौकिक बातें भी बन पाईं अलौकिक ॥

कुलपति - आश्रम के छात्रों ने लौटकर ,
दिव्य - ज्योति - अवलम्बन से गौरव-सहित ।
वह आभा फैलाई निज निज प्रान्त में ,
जिसके द्वारा हुआ लोक का परम - हित ॥

तपस्विनी - छात्राओं के उद्बोध से,
दिव्य ज्योति - बल से जल सका प्रदीप वह।
जिससे तिमिर - विदूरित बहु - घर के हुए,
लाख लाख मुखड़ों की लाली सकी रह॥

ऋषि, महर्षियों, विबुधों, कवियों, सज्जनों,
हृदयों में बस - दिव्य - ज्योति की दिव्यता।
भवहित - कारक सद्‌भावों में सर्वदा,
भूरि भूरि भरती रहती थी भव्यता॥

जनपदाधि - पतियों नरनाथों - उरों में,
दिव्य - ज्योति की कान्ति बनी राका - सिता।
रंजन - रत रह थी जन जन की रंजिनी,
सुधामयी रह थी वसुधा में विलसिता॥

साधिकार - पुरुषों साधारण - जनों के,
उरों में रमी दिव्य - ज्योति की रम्यता।
शान्तिदायिनी बन थी भूति - विधायिनी,
कहलाकर कमनीय - कल्पतरु की लता॥

यथाकाल यह दिव्य - ज्योति भव हित-रता,
आर्य - सभ्यता की अमूल्य - निधि सी बनी।
वह भारत - सुत-सुख-साधन वर-व्योम में,
है लोकोत्तर ललित चाँदनी सी तनी॥

उसके सारे - भाव भव्य हैं बन गये,
पाया उसमें लोकोत्तर - लालित्य है।
इन्दु कला सी है उसमें कमनीयता,
रचा गया उस पर जितना साहित्य है॥

उसकी परम - अलौकिक आभा के मिले ,
दिव्य बन गई हैं कितनी ही उक्तियाँ ।
स्वर्णाक्षर हैं मसि - अंकित अक्षर बने ,
मणिमय हैं कितने ग्रंथों की पंक्तियाँ ॥

आँसू

आँख का आँसू ढलकता देख कर ,
जी तड़प करके हमारा रह गया ।
क्या गया मोती किसी का है बिखर !
या हुआ पैदा रतन कोई नया ॥
ओस की बूँदें कमल से हैं कढ़ी ,
या उगलती बूँद है दो मछलियाँ ।
या अनूठी गोलियाँ चाँदी मढ़ी ,
खेलती हैं खंजनों की लड़कियाँ ॥
या जिगर पर जो फफोला था पड़ा ,
फूट करके वह अचानक बह गया ।
हाय ! था अरमान जो इतना बड़ा ,
आज वह कुछ बूँद बन कर रह गया ॥

फूल और काँटा

हैं जनम लेते जगह में एकही ,
एक ही पौधा उन्हें है पालता ।
रात में उन पर चमकता चाँद भी ,
एक ही सी चाँदनी है डालता ॥

मेह उनपर है बरसता एक सा,
एक सी उन पर हवायें हैं. बहीं।
पर सदा ही यह दिखाता है हमें,
ढंग उनके एक-से होते नहीं॥
छेद कर काँटा किसी की उँगलियाँ,
फाड़ देता है किसी का वर बसन।
प्यार-डूबीं तितलियों का पर कतर,
भौंर का है बेध देता श्याम तन॥
फूल ले कर तितलियों को गोद में,
भौंर को अपना अनूठा रस पिला।
निज सुगंधों औ निराले रंग से,
है सदा देता कली जी की खिला॥
है खटकता एक सब की आँख में,
दूसरा है सोहता सुर-सीस पर।
किस तरह कुल की बड़ाई काम दे,
जो किसी में हो बड़प्पन की कसर।

दीपावली

वसुधा हँसी लसी दिवि दारा,
विलसित शरद सुधा-निधि द्वारा।
हुआ विभासित नील गगन-तल,
उच्च हिमालय मंजुल अंचल,
काश-प्रसून-समूह समुज्वल,
कमला-कलित सकल पंकज-दल,
चढ़ा पादपावलि पर पारा।

अमल-धवल आभाओं से लस ,
बहा दिशाओं में अनुपम रस ,
विभा गई तृण वीरुध में बस ,
हुआ उमंगित मानव मानस ,
चमका जगत विलोचन - तारा ।

मिले विमलता परम मनोरम् ,
बने नगर, पुर, ग्राम दिव्यतम ,
सुधा-धवल मंदिर सुर-पुर-सम ,
स्वच्छ सलिल सर-सरित-समुत्तम ,
हुआ रजत-निभ रज-कण सारा ।

बना काल को कलित कांतिधर ,
अमा-निशा को आलोकित कर ,
पावस-जनित कालिमाएँ हर ।
दमक दीपमालाओं में भर ,
घर घर बही ज्योति की धारा ।

———

रामचरित उपाध्याय

रावण का प्रत्युत्तर

सुन कपे! यम, इन्द्र, कुबेर की,
न हिलती रसना मम सामने।
तदपि आज मुझे करना पड़ा,
मनुज - सेवक से बकवाद भी॥

यदि कपे! मम राक्षसराज का,
स्तवन है तुझसे न किया गया।
कुछ नहीं डर है—पर क्यों वृथा,
निलज! मानव - मान बढ़ा रहा॥

तनय होकर भी मम मित्र का,
शठ! न आकर क्यों मुझसे मिला?
उदर के बस हो किस भाँति तू,
नर सहायक हाय कपे! हुआ॥

बसन भोजन ले मुझसे सदा,
विचर तू सुख से मम राज्य में।
उस नृपात्मज के हित दे वृथा,
सुखद जीव न जीवन के लिए॥

तुम बिना करतूत बका करो,
वचन - वीर! सुनो हम वीर हैं।
रिपु - विनाशक यश किये बिना,
समर - पावक पा बकते नहीं॥

बल सुनाकर तू सठ ! राम का,
पच मरे, पर मैं डरता नहीं।
अब भयातुर हो करके, बता,
कब तिरोहित रोहित से हुआ ॥
कवल-दायक के गुण-गान में,
निरत तू रह बानर !'सर्वदा।
समर है सुख-दायक सूर को,
कब रुचा रण चारण को भला ?
जनकजाहृत चित्त हुआ सही,
तदपि तापस से कम मैं नहीं।
मधुर मोदक क्या पच जायगा,
कपि ! सवा मन वामन-पेट में ॥
लड़ नहीं सकता मुझसे कभी,
तनिक भी नृप बालक स्वप्न मे।
कब, कहाँ, कह तो किसने लखा,
कपि ! लवा रण वारण से भला ॥
यह असम्भव है यदि राम भी,
समर सम्मुख रावण से करे।
कह कपे ! उठ है सकती कभी,
यह रसा बक-शावक-चोंच से ॥
निलज हो बहको, निजनाथ के—
सुयश-गान करो, कपि-जाति हो।
जगत में दिखला कर पेट को,
वचन-वीर ! न वीर बना कभी ॥
मम नहीं हित-साधक जो हुआ,
वह न हो सकता पर का कभी।
कपट रूप बना कर राम का,
कपि ! विभीषण भीषण शत्रु है ॥

मर मिटें रण में, पर राम को,
हम न दे सकते जनकात्मजा।
सुन कपे जग में बस वीर के,
सुयश का रण कारण मुख्य है॥
चतुरता दिखला मत व्यर्थ तू,
रसिक हैं रण के हम जन्म से।
रुक नहीं सकते सुन के कभी,
वचन-वत्सल वत्स! लड़े बिना॥

मैथिलीशरण गुप्त

मातृभूमि

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य्य-चन्द्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मंडन हैं,
बन्दीजन खग-वृन्द, शेष-फन सिंहासन है।
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की!
हे मातृभूमि, तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की।

मृतक समान अशक्त, अवश, आँखों को मीचे,
गिरता हुआ विलोक गर्भ से हमको नीचे;
करके जिसने कृपा हमे अवलम्ब दिया था,
लेकर अपने अतुल अंक में त्राण किया था।
जो जननी का भी सर्वदा, थी पालन करती रही।
तू क्यों न हमारी पूज्य हो? मातृभूमि मातामही!

जिसकी रज मे लोट लोटकर बड़े हुए हैं,
घुटनों के बल सरक सरककर खड़े हुए हैं।
परमहंस-सम बाल्य काल में सब सुख पाये,
जिसके कारण 'धूलि भरे हीरे' कहलाये।
हम खेले-कूदे हर्षयुत जिसकी प्यारी गोद में,
हे मातृभूमि, तुझको निरख मग्न क्यों न हों मोद में!

पालन पोषण और जन्म का कारण तू ही,
वक्षस्थल पर हमें कर रही धारण तू ही।
अभ्रंकष प्रासाद और ये महल हमारे,
बने हुए हैं अहो! तुझीसे तुझपर सारे।
हे मातृभूमि, हम जब कभी तेरी शरण न पायँगे,
बस, तभी प्रलय के पेट में सभी लीन हो जायँगे।

हमें जीवनाधार अन्न तू ही देती है,
बदले में कुछ नहीं किसीसे तू लेती है।
श्रेष्ठ एक से एक विविध द्रव्यों के द्वारा,
पोषण करती प्रेम-भाव से सदा हमारा।
हे मातृभूमि, उपजें न जो तुझसे कृषि-अंकुर कभी,
तो तड़प तड़प कर जल मरें जठरानल में हम सभी।

पाकर तुझसे सभी सुखों को हमने भोगा,
तेरा प्रत्युपकार कभी क्या हमसे होगा?
तेरी ही यह देह, तुझीसे बनी हुई है,
बस, तेरे ही सुरस-सार से सनी हुई है।
फिर अन्त समय तू ही इसे अचल देख अपनायगी,
हे मातृभूमि, यह अन्त में तुझमें ही मिल जायगी।

जिन मित्रों का मिलन मलिनता को है खोता,
जिस प्रेमी का प्रेम हमें मुददायक होता।
जिन स्वजनों को देख हृदय हर्षित हो जाता,
नहीं टूटता कभी जन्म भर जिनसे नाता।
उन सबमें तेरा सर्वदा व्याप्त हो रहा तत्व है!
हे मातृभूमि, तेरे सदृश, किसका महा महत्व है!

निर्मल तेरा नीर अमृत के सम उत्तम है,
शीतल-मन्द-सुगन्ध पवन हर लेता श्रम है।
षड्ऋतुओं का विविध दृश्य युत अद्भुत क्रम है,
हरियाली का फर्श नहीं मखमल से कम है।
शुचि सुधा सींचता रात मे तुझपर चन्द्र प्रकाश है,
हे मातृभूमि, दिन मे तरणि करता तम का नाश है।

सुरभित, सुन्दर, सुखद सुमन तुझपर खिलते हैं,
भाँति भाँति के सरस, सुधोपम फल मिलते हैं।
ओषधियाँ हैं प्राप्त एक से एक निराली,
खानें शोभित कहीं धातु - वर रत्नो वाली।
जो आवश्यक होते हमें, मिलते सभी पदार्थ हैं,
हे मातृभूमि, वसुधा-धरा तेरे नाम यथार्थ हैं।

दीख रही है कहीं दूर तक शैल - श्रेणी,
कहीं घनावलि बनी हुई है तेरी वेणी।
नदियाँ पैर पखार रही हैं बनकर चेरी,
पुष्पों से तरु - राजि कर रही पूजा तेरी।
मृदु मलय-वायु मानो तुझे चन्दन चारु चढ़ा रही,
हे मातृभूमि, किसका न तू सात्विक भाव बढ़ा रही!

क्षमामयी, तू दयामयी है, क्षेममयी है,
सुधामयी, वात्सल्यमयी, तू प्रेममयी है
विभवशालिनी, विश्वपालिनी, दुखहर्त्री है,
भयनिवारिणी, शान्तिकारिणी, सुखकर्त्री है।
हे शरणदायिनी देवि तू, करती सबका त्राण है,
हे मातृभूमि, सन्तान हम, तू जननी, तू प्राण है।

आते ही उपकार याद है माता ! तेरा,
हो जाता मन मुग्ध भक्ति-भावों का प्रेरा।
तू पूजा के योग्य, कीर्त्ति तेरी हम गावें,
मन होता है तुझे उठाकर शीश चढ़ावें।
वह शक्ति कहाँ, हा! क्या करे, क्यों हमको लज्जा न हो!
हम मातृभूमि, केवल तुझे, शीश झुका सकते अहो!

कारण वश जब शोक-दाह से हम दहते हैं,
तब तुझपर ही लोट लोटकर दुख सहते हैं।
पाखंडी भी धूल चढ़ाकर तन में तेरी,
कहलाते हैं साधु नहीं लगती है देरी।
इस तेरी ही शुचि धूलि में मातृभूमि, वह शक्ति है—
जो क्रूरों के भी चित्त में उपजा सकती भक्ति है।

कोई व्यक्ति विशेष नहीं तेरा अपना है,
जो यह समझे हाय! देखता वह सपना है।
तुझको सारे जीव एक-से ही प्यारे हैं,
कर्मों के फल मात्र यहाँ न्यारे न्यारे हैं।
हे मातृभूमि, तेरे निकट सबका सम सम्बन्ध है।
जो भेद मानता वह अहो लोचन-युत भी अन्ध है।

जिस पृथिवी में मिले हमारे पूर्वज प्यारे,
उससे हे भगवान! कभी हम रहें न न्यारे।
लोट लोटकर वहीं हृदय को शान्त करेंगे,
उसमें मिलते समय मृत्यु से नहीं डरेंगे।
उस मातृभूमि की धूलि में जब पूरे सन जायँगे।
होकर भव-बन्धन-मुक्त हम आत्मरूप बन जायँगे।

—

महाभिनिष्क्रमण

आशा लूँ या दूँ मैं अकाम !
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम !

रख अब अपना यह स्वप्न जाल,
निष्फल मेरे ऊपर न डाल।
मै जागरूक हूँ, ले सँभाल
निज राज-पाट, धन, धरणि, धाम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम !

रहने दे वैभव यशःशोभ,
जब हमीं नहीं, क्या कीर्तिलोभ ?
तू क्षम्य, करूँ क्यों हाय क्षोभ,
थम, थम, अपने को आप थाम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम !

क्या भाग रहा हूँ भार देख,
तू मेरी ओर निहार देख !
मैं त्याग चला निस्सार देख,
अटकेगा मेरा कौन काम ?
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम !

रूपाश्रय तेरा तरुण गात्र,
कह, वह कब तक है प्राण-पात्र ?
भीतर भीषण कंकाल मात्र,
बाहर बाहर है टीम - टाम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम !

प्रच्छन्न रोग हैं प्रकट भोग,
संयोग मात्र भावी वियोग!
हा! लोभ-मोह में लीन लोग
भूले हैं अपना अपरिणाम!
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

यह आर्द्र-शुष्क, यह उष्ण-शीत,
यह वर्तमान, यह तू व्यतीत!
तेरा भविष्य क्या मृत्यु-भीत?
पाया क्या तूने धूम-धाम?
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

सब देकर भी क्या आज दीन,
अपने या तेरे निकट दीन?
मैं हूँ अब अपने ही अधीन,
पर मेरा श्रम है अविश्राम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

इस मध्य निशा में ओ अभाग,
तुझको तेरे ही अर्थ त्याग;
जाता हूँ मैं यह वीतराग।
दयनीय, ठहर तू क्षीण-क्षाम!
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

तू दे सकता था विपुल वित्त,
पर भूलें उसमें भ्रान्त चित्त।
जाने दे चिर जीवन-निमित्त,
दूँ क्या मैं तुझको हाड़-चाम?
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

मैं त्रिविध दुःख विनिवृत्ति-हेतु
बाँधूँ अपना पुरुषार्थ-सेतु ;
सर्वत्र उड़े कल्याण-केतु ,
तब है मेरा सिद्धार्थ नाम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम !

यह कर्म - कांड - तांडव-विकास ,
वेदी पर हिंसा हास-रास ,
लोलुप रसना का लोल-लास ,
तुम देखो ऋग्, यजु और साम !
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम !

आ, मित्र-चक्षु के दृष्टि-लाभ ,
ला, हृदय-विजय-रस-वृष्टि-लाभ ।
पा हे स्वाराज्य, बढ़ सृष्टि- लाभ
जा दंड-भेद, जा साम-दाम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम !

तब जन्मभूमि, तेरा महत्व ,
जब मैं ले आऊँ अमर-तत्व ।
यदि पा न सके तू सत्य-सत्व ,
तू सत्य कहाँ ! भ्रम और भ्राम !
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम !

हे पूज्य पिता माता, महान ,
क्या माँगूँ तुमसे क्षमा-दान ?
क्रन्दन क्यों ! गाओ भद्र-गान ,
उत्सव हो पुर-पुर, ग्राम-ग्राम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम !

हे मेरे प्रतिभू, तात नन्द,
पाऊँ यदि मैं आनन्द कन्द,
तो क्यों न उसे लाऊँ अमन्द?
तू तो है मेरे ठौर ठाम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

अयि गोपे, तेरी गोद पूर्ण,
तू हास-विलास-विनोद-पूर्ण!
अब गौतम भी हो मोद-पूर्ण,
क्या अपना विधि है आज वाम?
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

क्या तुझे जगाऊँ एक बार?
पर है अब भी अप्राप्त सार;
सो, अभी स्वप्न ही तू निहार,
हे शुभे, श्वेत के साथ श्याम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

राहुल, मेरे ऋण-मोक्ष, माप!
लाऊँ मैं जब तक अमृत आप,
माँ ही तेरी माँ और बाप;
दुल, मातृ-हृदय के मृदुल दाम!
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

यह घन तम, सन सन पवन जाल,
भन भन करता यह काल व्याल,
मूर्च्छित विषाक्त वसुधा विशाल!
भय, कह, किसपर यह भूरि भाम?
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

छन्दक, उठ, ला निज वाजिराज,
तज भय विस्मय, सज शीघ्र साज।
सुन, मृत्यु विजय अभियान आज!
मेरा प्रभात यह रात्रि-याम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

यह जन्म-मरण का भ्रमण-भाण,
मैं देख चुका हूँ अपरिमाण।
निर्वाण - हेतु मेरा प्रयाण;
क्या वात-वृष्टि, क्या शीत-घाम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

हे राम, तुम्हारा वंशजात
सिद्धार्थ तुम्हारी भाँति, तात,
घर छोड़ चला यह आज रात,
आशीष उसे दो, लो प्रणाम।
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम!

यशोधरा

१

सखि, वे मुझसे कहकर जाते,
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते?
मुझको बहुत उन्होंने माना,
फिर भी क्या पूरा पहचाना?
मैंने मुख्य उसीको जाना,
जो वे मन मे लाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

स्वयं सुसज्जित करके क्षण में,
प्रियतम को, प्राणों के पण में,
हमीं भेज देती हैं रण में,—
क्षात्र-धर्म के नाते।
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

हुआ न यह भी भाग्य अभागा,
किस पर विफल गर्व अब जागा?
जिसने अपनाया था, त्यागा;
रहें स्मरण ही आते!
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

नयन उन्हें हैं निष्ठुर कहते,
पर इनसे जो आँसू बहते,
सदय हृदय वे कैसे सहते?
गये तरस ही खाते!
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

जायँ, सिद्धि पावें वे सुख से,
दुखी न हों इस जन के दुख से,
उपालम्भ दूँ मैं किस मुख से?—
आज अधिक वे भाते!
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

गये, लौट भी वे आवेंगे,
कुछ अपूर्व-अनुपम लावेंगे,
रोते प्राण उन्हें पावेंगे,
पर क्या गाते गाते?
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।

२

सो, अपने चंचलपन, सो !
सो, मेरे अंचल-धन, सो !

पुष्कर सोता है निज सर में,
भ्रमर सो रहा है पुष्कर में,
गुंजन सोया कभी भ्रमर में,
सो, मेरे गृह-गुंजन, सो !
सो, मेरे अंचल-धन, सो !

तनिक पार्श्व-परिवर्तन कर ले,
उस नासा-पुट को भी भर ले।
उभय पक्ष का मन तू हर ले,
मेरे व्यथा-विनोदन, सो !
सो, मेरे अंचल-धन, सो !

रहे मन्द ही दीपक-माला,
तुझे कौन भय-कष्ट कसाला ?
जाग रही है मेरी ज्वाला,
सो, मेरे आश्वासन, सो !
सो, मेरे अंचल-धन, सो !

ऊपर तारे झलक रहे हैं,
गोखों से लग ललक रहे हैं,
नीचे मोती ढलक रहे हैं,
मेरे अपलक दर्शन, सो !
सो, मेरे अंचल-धन, सो !

तेरी साँसों का निस्पन्दन,
मेरे तप्त हृदय का चन्दन!
सो, मैं कर लूँ जी भर क्रन्दन!
सो, उनके कुल-नन्दन, सो!
सो, मेरे अंचल-धन, सो!

खेले मन्द पवन अलकों से,
पोंछूँ मैं उनको पलकों से।
छद ग्द की छवि की छलकों से
पुलक-पूर्ण शिशु-यौवन, सो!
सो, मेरे अंचल-धन, सो!

२

अब कठोर हो वज्रादपि ओ कुसुमादपि सुकुमारी!
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

मेरे लिए पिता ने सबसे धीर-वीर वर चाहा,
आर्यपुत्र को देख उन्होंने सभी प्रकार सराहा।
फिर भी हठ कर हाय! वृथा ही उन्हें उन्होंने थाहा,
किस योद्धा ने बढ़कर उनका शौर्य-सिन्धु अवगाहा?
क्यों कर सिद्ध करूँ अपने को मैं उन नर की नारी?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

देख कराल काल-सा जिसको काँप उठे सब भय से,
गिरे प्रतिद्वन्द्वी नन्दार्जुन, नागदत्त जिस हय से,
वह तुरंग पालित-कुरंग-सा नत हो गया विनय से,
क्यों न गूँजती रंगभूमि फिर उनके जय जय जय से?
निकला वहाँ कौन उन-जैसा प्रबल-पराक्रमकारी?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

सभी सुन्दरी बालाओं में मुझे उन्होंने माना,
सबने मेरा भाग्य सराहा, सबने रूप बखाना,
खेद, किसीने उन्हें न फिर भी ठीक ठीक पहचाना,
भेद चुने जाने का अपने मैंने भी अब जाना।
इस दिन के उपयुक्त पात्र की उन्हें खोज थी सारी।
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

मेरे रूप-रंग, यदि तुझको अपना गर्व रहा है,
तो उसके झूठे गौरव का तूने भार सहा है।
तू परिवर्तनशील, उन्होंने कितनी बार कहा है—
'फूला दिन किस अन्धकार में डूबा और बहा है?'
किन्तु अन्तरात्मा भी मेरा था क्या विकृत-विकारी?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

मैं अबला! पर वे तो विश्रुत वीर-बली थे मेरे,
मैं इन्द्रियासक्त! पर वे कब थे विषयों के चेरे?
अयि मेरे अर्द्धांगि-भाव, क्या विषय मात्र थे तेरे?
हा! अपने अंचल में किसने ये अंगार बिखेरे?
है नारीत्व मुक्ति में भी तो अहो विरक्ति-विहारी!
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

सिद्धि-मार्ग की बाधा नारी! फिर उसकी क्या गति है?
पर उनसे पूँछूँ क्या, जिनको मुझसे आज विरति है!
अर्द्ध विश्व में व्याप्त शुभाशुभ मेरी भी कुछ मति है।
मैं भी नहीं अनाथ जगत में, मेरा भी प्रभु पति है!
यदि मैं पतिव्रता तो मुझको कौन भार-भय भारी?
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

यशोधरा के भूरि भाग्य पर ईर्ष्या करने वाली,
तरस न खाओ कोई उसपर, आओ भोली-भाली!
तुम्हें न सहना पड़ा दुःख यह, मुझे यही सुख आली!
वधू-वंश की लाज दैव ने आज मुझीपर डाली।
बस, जातीय सहानुभूति ही मुझपर रहे तुम्हारी।
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

जाओ नाथ! अमृत लाओ तुम, मुझमें मेरा पानी;
चेरी ही मैं बहुत तुम्हारी, मुक्ति तुम्हारी रानी।
प्रिय, तुम तपो, सहूँ मैं भरसक, देखूँ बस हे दानी—
कहाँ तुम्हारी गुण-गाथा में मेरी करुण-कहानी?
तुम्हें अप्सरा-विघ्न न व्यापे यशोधरा कर-धारी।
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।

——

४

सखि, वसन्त-से कहाँ गये वे,
मैं ऊष्मा-सी यहाँ रही।
मैंने ही क्या सहा सभीने
मेरी बाधा-व्यथा सही।

तप मेरे मोहन का उद्धव धूल उड़ाता आया,
हाय! विभूति रमाने का भी मैंने योग न पाया।
सूखा कंठ, पसीना छूटा, मृगतृष्णा की माया,
झुलसी दृष्टि, अँधेरा दीखा, दूर गई वह छाया।

मेरा ताप और तप उनका,
जलती है हा! जठर मही,
मैंने ही क्या सहा, सभीने
मेरी बाधा-व्यथा सही।

जागी किसकी बाष्पराशि, जो सूने में सोती थी ?
किसकी स्मृति के बीज उगे ये, सृष्टि जिन्हें बोती थी ?
अरी वृष्टि, ऐसी ही उनकी दया-दृष्टि रोती थी ;
विश्व-वेदना की ऐसी ही चमक उन्हें होती थी ।

किसके भरे हृदय की धारा,
शतधा होकर आज वही ?
मैंने ही क्या सहा, सभीने
मेरी बाधा-व्यथा सही ।

उनकी शान्ति-कान्ति की ज्योत्स्ना जगती है पल पल में,
शरदातप उनके विकास का सूचक है थल थल में ;
नाच उठी आशा प्रति दल पर किरणों की झलझल में,
खुला सलिल का हृदय-कमल खिल हंसों के कलकल में ।

पर मेरे मध्याह्न ! बता क्यों
तेरी मूर्च्छा बनी वही ?
मैंने ही क्या सहा सभीने
मेरी बाधा-व्यथा सही ।

हेमपुंज हेमन्तकाल के इस आतप पर वारूँ,
प्रियस्पर्श की पुलकावलि मैं कैसे आज बिसारूँ ?
किन्तु, शिशिर ये ठंडी साँसें हाय ! कहाँ तक धारूँ,
तन गारूँ, मन गारूँ, पर क्या मैं जीवन भी हारूँ ?

मेरी बाँह गही स्वामी ने,
मैंने उनकी छाँह गही,
मैंने ही क्या सहा, सभीने
मेरी बाधा-व्यथा सही ।

पेड़ों ने पत्ते तक, उनका त्याग देखकर त्यागे,
मेरा धुँधलापन कुहरा बन छाया सबके आगे।
उनके तप के अग्नि-कुंड से घर घर में हैं जागे,
मेरे कम्प, हाय! फिर भी तुम नहीं कहीं से भागे।

पानी जमा, परन्तु न मेरे
खट्टे दिन का दूध-दही,
मैंने ही क्या सहा, सभीने
मेरी बाधा-व्यथा सही।

आशा से आकाश थमा है, श्वास-तन्तु कब टूटे?
दिन-मुख दमके, पल्लव चमके, भव ने नव रस लूटे!
स्वामी के सत्‌भाव फैलकर फूल फूल में फूटे,
उन्हें खोजने को ही मानो नूतन निर्झर छूटे!

उनके श्रम के फल सब भोगे,
यशोधरा की विनय यही,
मैंने ही क्या सहा, सभीने
मेरी बाधा-व्यथा सही।

उटज गीत

निज सौध सदन में उटज पिता ने छाया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

सम्राट स्वयं प्राणेश, सचिव देवर हैं,
देते आकर आशीष हमें मुनिवर हैं।
धन तुच्छ यहाँ,—यद्यपि असंख्य आकर हैं,
पानी पीते मृग-सिंह एक तट पर हैं।
सीता रानी को यहाँ लाभ ही लाया,
मेरी कुटिया मे राज-भवन मन भाया।

क्या सुन्दर लता-वितान तना है मेरा,
पुंजाकृति गुंजित कुंज घना है मेरा।
जल निर्मल, पवन-पराग-सना है मेरा,
गढ़ चित्रकूट दृढ दिव्य बना है मेरा।
प्रहरी निर्झर, परिखा प्रवाह की काया,
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

औरों के हाथों यहाँ नहीं पलती हूँ,
अपने पैरों पर खड़ी आप चलती हूँ।
श्रम-वारिविन्दुफल, स्वास्थ्यशुक्ति फलती हूँ,
अपने अंचल से व्यजन आप झलती हूँ।
तनु-लता-सफलता-स्वादु आज ही आया,
मेरी कुटिया मे राज-भवन मन भाया।

मैं पली पक्षिणी विपिन-कुंज-पिंजर की,
आती है कोटर-सदृश मुझे सुध घर की।
मृदु-तीक्ष्ण वेदना एक एक अन्तर की,
बन जाती है कल-गीति समय के स्वर की।
कब उसे छेड़ यह कंठ यहाँ न अघाया?
मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया।

नाचो मयूर, नाचो कपोत के जोड़े,
नाचो कुरंग, तुम लो उड़ान के तोड़े।
गाओ दिवि, चातक, चटक, भृंग भय छोड़े,
वैदेही के वनवास-वर्ष हैं थोड़े।
तितली, तूने यह कहाँ चित्रपट पाया।
मेरी कुटिया मे राज-भवन मन-भाया।

आओ कलापि, निज चन्द्रकला दिखलाओ ,
कुछ मुझसे सीखो और मुझे सिखलाओ ।
गाओ पिक, मैं अनुकरण करूँ, तुम गाओ ,
स्वर खींच तनिक यों उसे घुमाते जाओ ।
शुक, पढ़ो,—मधुर फल प्रथम तुम्हींने खाया ,
मेरी कुटिया में राज - भवन मन भाया ।

अयि राजहंसि, तू तरस तरस क्यों रोती ,
तू शुक्ति - वंचिता कहीं मैथिली होती ।
तो श्यामल तनु के श्रमज-विन्दुमय मोती ,
निज व्यजन-पक्ष से तू अँकोर सुध खोती ।
जिन पर मानस ने पद्म रूप मुहँ बाया ,
मेरी कुटिया में राज - भवन मन भाया ।

ओ निर्झर, झरझर नाद सुनाकर झड़ तू ,
पथ के रोड़ों से उलझ उलझ, बढ़, अड़ तू ।
ओ उत्तरीय, उड़, मोद पयोद, घुमड़ तू ,
हम पर गिरि गद्गद भाव, सदैव उमड़ तू ।
जीवन को तूने गीत बनाया, गाया ,
मेरी कुटिया मे राज - भवन मन भाया ।

कैकेयी का अनुताप

सबने रानी की ओर अचानक देखा ,
वैधव्य - तुषारावृता यथा विधु-लेखा ।
बैठी थी अचल तथापि असंख्य तरंगा ,
वह सिंही अब थी हहा ! गोमुखी गंगा—

"हाँ जनकर भी मैंने न भरत को जाना,
सब सुन लें, तुमने स्वयं अभी यह माना।
यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया,
अपराधिन मैं हूँ तात, तुम्हारी मैया।
दुर्बलता का ही चिह्न विशेष शपथ है,
पर अबलाजन के लिए कौन-सा पथ है?
यदि मैं उकसाई गई भरत से होऊँ,
तो पति समान ही स्वयं पुत्र भी खोऊँ।
ठहरो, मत रोको मुझे, कहूँ सो सुन लो,
पाओ यदि उसमें सार उसे सब चुन लो।
करके पहाड़-सा पाप मौन रह जाऊँ?
राई भर भी अनुताप न करने पाऊँ?"
थी सनक्षत्र शशि-निशा ओस टपकाती,
रोती थी नीरव सभा हृदय थपकाती।
उल्का-सी रानी दिशा दीप्त करती थी;
सबमे भय-विस्मय और खेद भरती थी।
"क्या कर सकती थी, मरी मन्थरा दासी,
मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी।
जल पंजर-गत अब अरे अधीर, अभागे,
वे ज्वलित भाव थे स्वयं तुझीमें जागे।
पर था केवल क्या ज्वलित भाव ही मन में?
क्या शेष बचा था कुछ न और इस जन मे?
कुछ मूल्य नहीं वात्सल्य-मात्र, क्या तेरा?
पर आज अन्य-सा हुआ वत्स भी मेरा।
थूके, मुझपर त्रैलोक्य भले ही थूके,
जो कोई जो कह सके, कहे, क्यों चूके?
छीने न मातृपद किन्तु भरत का मुझसे,
रे राम, दुहाई करूँ और क्या तुझसे?

कहते आते थे यही अभी नरदेही,
'माता न कुमाता, पुत्र कुपुत्र भले ही।'
अब कहें सभी यह हाय! विरुद्ध विधाता,—
'है पुत्र पुत्र ही, रहे कुमाता माता।'
बस मैंने इसका बाह्य-मात्र ही देखा,
दृढ़ हृदय न देखा, मृदुल गात्र ही देखा,
परमार्थ न देखा, पूर्ण स्वार्थ ही साधा,
इस कारण ही तो हाय आज यह बाधा!
युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी—
'रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी।'
निज जन्म जन्म में सुने जीव यह मेरा—
'धिक्कार! उसे था महा स्वार्थ ने घेरा।'—"
"सौ बार धन्य वह एक लाल की माई,
जिस जननी ने है जना भरत-सा भाई।"
पागल-सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई—
"सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।"

"हा! लाल! उसे भी आज गमाया मैंने,
विकराल कुयश ही यहाँ कमाया मैंने।
निज स्वर्ग उसीपर वार दिया था मैंने,
हर तुम तक से अधिकार लिया था मैंने।
पर वही आज यह दीन हुआ रोता है,
शंकित सबसे धृत हरिण-तुल्य होता है।
श्रीखण्ड आज अंगार-चण्ड है मेरा,
तो इससे बढ़कर कौन दण्ड है मेरा!

पटके मैंने पद - पाणि मोह के नद में,
जन क्या क्या करते नहीं स्वप्न में, मद में ?
हा ! दण्ड कौन, क्या उसे डरूँगी अब भी ?
मेरा विचार कुछ दयापूर्ण हो तब भी।
हा दया ! हन्त वह घृणा ! अहह वह करुणा !
वैतरणी - सी है आज जाह्नवी-वरुणा !
सह सकती हूँ चिरनरक, सुनें सुविचारी,
पर मुझे स्वर्ग की दया दण्ड से भारी।
लेकर अपना यह कुलिश-कठोर कलेजा,
मैंने इसके ही लिए तुम्हें वन भेजा।
घर चलो इसीके लिए, न रूठो अब यों,
कुछ और कहूँ तो उसे सुनेंगे सब क्यों ?
मुझको यह प्यारा और इसे तुम प्यारे,
मेरे दुगुने प्रिय रहो न मुझसे न्यारे।
मैं इसे न जानूँ, किन्तु जानते हो तुम,
अपने से पहले इसे मानते हो तुम।
तुम भ्राताओं का प्रेम परस्पर जैसा,
यदि वह सब पर यों प्रकट हुआ है वैसा।
तो पाप-दोष भी पुण्य-तोष है मेरा,
मैं रहूँ पङ्किला, पद्म-कोष है मेरा।
आगत ज्ञानीजन उच्च भाल ले लेकर,
समझावें तुमको अतुल युक्तियाँ देकर।
मेरे तो एक अधीर हृदय है बेटा,
उसने फिर तुमको आज भुजा भर भेटा।
देवों की ही चिरकाल नहीं चलती है,
दैत्यों की भी दुर्वृत्ति यहाँ फलती है।"
हँस पड़े देव केकयी-कथन यह सुनकर,
रो दिये क्षुब्ध दुर्दैव दैत्य सिर धुनकर !

"छल किया भाग्य ने मुझे अयश देने का,
बल दिया उसीने भूल मान लेने का।
अब कटे सभी वे पाश नाश के प्रेरे,
मैं वही केकयी, वही राम तुम मेरे।
होने पर बहुधा अर्ध रात्रि अन्धेरी,
जीजी आकर करती पुकार थीं मेरी—
'लो कुहुकिनि, अपना कुहुक, राम यह जागा,
निज मँझली माँ का स्वप्न देख उठ भागा!'
भ्रम हुआ भरत पर मुझे व्यर्थ संशय का,
प्रतिहिंसा ने ले लिया स्थान तब भय का।
तुमपर भी ऐसी भ्रान्ति भरत से पाती,
तो उसे मनाने भी न यहाँ मैं आती।—
जीजी ही आतीं, किन्तु कौन मानेगा?
जो अन्तर्यामी, वही इसे जानेगा।"
"हे अम्ब, तुम्हारा राम जानता है सब,
इस कारण वह कुछ खेद मानता है कब?"
"क्या स्वाभिमान रखती न केकयी रानी?
बतलादे कोई मुझे उच्चकुल-मानी।
सहती कोई अपमान तुम्हारी अम्बा?
पर हाय, आज वह हुई निपट नालम्बा?
मैं सहज मानिनी रही, सरल क्षत्राणी,
इस कारण सीखी नहीं दैन्य यह वाणी।
पर महा दीन हो गया आज मन मेरा,
भावज्ञ, सहेजो तुम्हीं भाव-धन मेरा।
समुचित ही मुझको विश्व-घृणा ने घेरा,
समझाता कौन सशान्ति मुझे भ्रम मेरा?
यों ही तुम वन को गये, देव सुरपुर को,
मैं बैठी ही रह गई लिये इस उर को!

बुझ गई पिता की चिता भरत-भुजधारी,
पितृभूमि आज भी तप्त तथापि तुम्हारी।
भय और शोक सब दूर उड़ाओ उसका,
चलकर सुचरित, फिर हृदय जुड़ाओ उसका।
हो तुम्हीं भरत के राज्य, स्वराज्य सम्हालो,
मैं पाल सकी न स्वधर्म, उसे तुम पालो।
स्वामी को जीते जी न दे सकी सुख मैं,
मरकर तो उनको दिखा सकूँ यह मुख मैं।
मर मिटना भी है एक हमारी क्रीड़ा,
पर भरत-वाक्य है—सहूँ विश्व की व्रीड़ा।
जीवन-नाटक का अन्त कठिन है मेरा,
प्रस्ताव मात्र में जहाँ अधैर्य अँधेरा।
अनुशासन ही था मुझे अभी तक आता,
करती है तुमसे विनय आज यह माता—।"

——

ऊर्मिला

(१)

दोनों ओर प्रेम पलता है।
सखि, पतंग भी जलता है हा! दीपक भी जलता है!

सीस हिलाकर दीपक कहता—
'बन्धु, वृथा ही तू क्यों दहता?'
पर पतंग पड़कर ही रहता।
कितनी विह्वलता है!
दोनों ओर प्रेम पलता है।

बच कर हाय ! पतंग मरे क्या ?
प्रणय छोडकर प्राण धरे क्या ?
जले नहीं तो मरा करे क्या ?
क्या यह असफलता है ?
दोनों ओर प्रेम पलता है ।

कहता है पतंग मन मारे—
'तुम महान, मैं लघु पर प्यारे,
क्या न मरण भी हाय हमारे ?'
शरण किसे छलता है ?
दोनों ओर प्रेम पलता है ।

दीपक के जलने में आली,
फिर भी है जीवन की लाली ।
किन्तु पतंग-भाग्य-लिपि काली,
किसका वश चलता है ?
दोनों ओर प्रेम पलता है ।

जगती वणिग्वृत्ति है रखती,
उसे चाहती जिससे चखती ।
काम नहीं, परिणाम निरखती,
मुझे यही खलता है ।
दोनों ओर प्रेम पलता है ।

(२)

निरख सखी, ये खंजन आये,
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाये !
फैला उनके तन का आतप, मन-से सर सरसाये,
घूमें वे इस ओर वहाँ, ये हंस यहाँ उड़ छाये !

करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाये,
फूल उठे हैं कमल, अधर-से ये बन्धूक सुहाये।
स्वागत, स्वागत, शरद, भाग्य से मैंने दर्शन पाये,
नभ ने मोती वारे, लो, ये अश्रु अर्घ्य भर लाये।

(३)

मुझे फूल मत मारो,
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो।
होकर मधु के मीत मदन, पटु, तुम कटु गरल न गारो,
मुझे विकलता, तुम्हें विफलता, ठहरो, श्रम परिहारो।
नहीं भोगिनी यह मैं कोई, जो तुम जाल पसारो,
बल हो तो सिन्दूर-विन्दु यह, यह हर-नेत्र निहारो।
रूप-दर्प, कन्दर्प, तुम्हें तो मेरे पति पर वारो,
लो, यह मेरी चरण-धूलि उस रति के सिर पर धारो।

(४)

मेरे चपल यौवन-बाल!
अचल अंचल में पड़ा सो, मचलकर मत साल।
बीतने दे रात, होगा सुप्रभात विशाल,
खेलना फिर खेल मन के पहनके मणि-माल।
पक रहे हैं भाग्य-फल तेरे सुरम्य रसाल,
डर न, अवसर आ रहा है, जा रहा है काल।
मन पुजारी और तन इस दुःखिनी का थाल,
भेंट प्रिय के हेतु उसमें एक तू ही लाल।

अयोध्या की नरसत्ता

नगरी थी निस्तब्ध पड़ी क्षणदा-छाया मे,
भुला रहे थे स्वप्न हमें अपनी माया मे।
जीवन-मरण समान भाव से जूझ-जूझ कर,
ठहरे पिछले पहर स्वयं थे समझ-बूझ कर।

पुरी - पार्श्व में पड़ी हुई थी सरयू ऐसी,
स्वयं उसीके तीर हंस - माला थी जैसी।
बहता जाता नीर और बहता आता था,
गोद भरी की भरी तीर अपनी पाता था।
भूतल पर थी एक स्वच्छ चादर-सी फैली,
हुई तरंगित तदपि कहीं से हुई न मैली।
ताराहारा चारु - चपल चाँदी की धारा,
लेकर एक उसाँस वीर ने उसे निहारा।
सफल सौध-भू-पटल व्योम के अटल मुकुर थे,
उडुगण अपना रूप देखते टुकुर टुकुर थे।
फहर रहे थे केतु उच्च अट्टों पर फर फर,
ढाल रही थी गन्ध मृदुल मारुत—गति भर भर।
स्वयमपि संशयशील गगन घन-नील गहन था,
मीन-मकर, वृष-सिंह-पूर्ण सागर या वन था!
झोंके झिलमिल झेल रहे थे दीप गगन के,
खिल खिल, हिलमिल-खेल रहे थे दीप गगन के!
तिमिर-अंक में जब अशंक तारे पलते थे,
स्नेह - पूर्ण पुर - दीप दीप्ति देकर जलते थे।
धूम-धूप लो, अहो उच्च ताराओ, चमको,
लिपि-मुद्राओ,—भूमि-भाग्य की, दमको दमको।

करके ध्वनि-संकेत शूर ने शंख बजाया,
अन्तर का आह्वान वेग से बाहर आया।
निकल उठा उच्छ्वास वक्ष से उभर उभर के,
हुआ कम्बु कृतकृत्य कण्ठ की अनुकृति करके।
उधर भरत ने दिया साथ ही उत्तर मानो;
एक-एक दो हुए, जिन्हें एकादश जानो!

यों ही शंख असंख्य हो गये, लगी न देरी,
घनन घनन बज उठी गरज तत्क्षण-रण-भेरी।
काँप उठा आकाश, चौंककर जगती जागी,
छिपी क्षितिज मे कहीं, सभय निद्रा उठ भागी।
बोले वन में मोर, नगर मे डोले नागर,
करने लगे तरंग-भंग सौ सौ स्वर-सागर।
उठी क्षुब्ध-सी अहा! अयोध्या की नर-सत्ता,
सजग हुआ साकेतपुरी का पत्ता पत्ता।
भय-विस्मय को शूर-दर्प ने दूर भगाया,
किसने सोता हुआ यहाँ का सर्प जगाया!
प्रिया-कण्ठ से छूट सुभट-कर शस्त्रों पर थे,
त्रस्त-वधू-जन-हस्त स्रस्त-से वस्त्रों पर थे।
प्रिय की निकट निहार उन्होंने साहस पाया,
बाहु बढ़ा, पद रोप, शीघ्र दीपक उकसाया!
अपनी चिन्ता भूल उठी माता झट लपकी,
देने लगी सँभाल बाल-बच्चों को थपकी—
"भय क्या, भय क्या हमें, राम राजा हैं अपने,
दिया भरत-सा सुफल प्रथम ही जिनके तप ने!"
चरर-मरर खुल गये अरर बहु रवस्फुटों से,
क्षणिक रुद्ध थे तदपि विकट भट उरःपुटों से।
बाँधे थे जन पाँच पाँच आयुध मन भाये,
पञ्चानन गिरि-गुहा छोड़ ज्यों बाहर आये।
"धरने आया कौन आग, मणियों के धोखे?"
स्त्रियाँ देखने लगीं दीप धर, खोल झरोखे।
ऐसा जड़ है कौन, यहाँ भी जो चढ़ आवे?
वह थल भी है कहाँ, जहाँ निज दल बढ़ जावे?
राम नहीं घर, यही सोचकर लोभी-मोही,
क्या कोई माण्डलिक हुआ सहसा विद्रोही?

मरा अभागा, उन्हें जानता है जो वन में,
रमे हुए हैं यहाँ राम-राघव जन जन मे।"
"पुरुष-वेष मे साथ चलूँगी मैं भी प्यारे,
राम-जानकी संग गये, हम क्यों हो न्यारे?"
"प्यारी, घर ही रहो ऊर्मिला रानी-सी तुम!
क्रान्ति-अनन्तर मिलो शान्ति मनमानी-सी तुम।"
पुत्रों को नत देख धात्रियाँ बोलीं धीरा—
"जाओ बेटा,—'राम-काज, क्षण-भंग शरीरा'।"
पति से कहने लगीं पत्नियाँ—"जाओ स्वामी,
बने तुम्हारा वत्स तुम्हारा ही अनुगामी!
जाओ, अपने राम-राज्य की आन बढ़ाओ,
वीर-वंश की बान, देश का मान बढ़ाओ।"
"अम्ब, तुम्हारा पुत्र पैर पीछे न धरेगा,
प्रिये, तुम्हारा पति न मृत्यु से कहीं डरेगा।
फिर भी फिर भी अहो विकल-सी तुम हो रोती?"
"हम यह रोती नहीं, वारती मानस-मोती!"
ऐसे अगणित भाव उठे रघु-सगर-नगर में,
बगर उठे बढ़ अगर-तगर-से डगर डगर में।

चिन्तित-से काषाय-वसनधारी सब मन्त्री,
आ पहुँचे तत्काल, और बहु यन्त्री-तन्त्री।
चञ्चल जल-थल-बलाध्यक्ष निज दल सजते थे,
झनझन घनघन समर-वाद्य बहु बिध बजते थे।
पाल उड़ाती हुई, पंख फैलाकर नावें—
प्रस्तुत थीं, कब किधर हंसिनी-सी उड़ जावें।
हिलने डुलने लगे पंक्तियों में बँट बेड़े,
थपकी देने लगीं तरंगें मार थपेड़े।

उल्काएँ सब ओर प्रभा-सी पाट रही थीं,
पी पी कर पुर-तिमिर जीभ-सी चाट रही थीं।
हुई हतप्रभ नभोजड़ित हीरों की कनियाँ,
मुक्ताओं-सी बेध न ले भालों की अनियाँ!
धुले धुले-से खुले खड्ग चमचमा रहे थे,
तप्त सादियों के तुरंग तमतमा रहे थे।
हींस लगामें चाब, धरातल खूँद रहे थे,
उड़ने को उत्कर्ण कभी वे कूँद रहे थे!
करके घंटा-नाद, शस्त्र लेकर शुण्डों में,
दो दो दृढ़ रद-दण्ड दबाकर निज तुण्डों मे।
अपने मद की नहीं आप ही ऊष्मा सह कर,
झलते थे श्रुत-तालवृन्त दन्ती रह रह कर!
योद्धाओं का धन सुवर्ण से सार सलोना,
जहाँ हाथ में लौह वहाँ पैरों में सोना!

"नहीं, नहीं"—सुन चौंक पड़े शत्रुघ्न और सब,
ऊषा-सी आगई ऊर्मिला उसी ठौर तब!
वीणांगुलि - सम सती उतरती - सी चढ़ धाई,
तालपूर्त्ति - सी संग सखी भी खिंचती आई!
आ शत्रुघ्न - समीप रुकी लक्ष्मण की रानी,
प्रकट हुई ज्यों कार्त्तिकेय के निकट भवानी।
जटा - जाल - से बाल विलम्बित छूट पड़े थे,
आनन पर सौ अरुण, घटा मे फूट पड़े थे।
माथे का सिन्दूर सजग अंगार - सदृश था,
प्रथमातप - सा पुण्य गात्र, यद्यपि वह कृश था।
बायाँ कर शत्रुघ्न - पृष्ठ पर कण्ठ - निकट था,
दायें कर मे स्थूल किरण - सा शूल विकट था।

गरज उठी वह—"नहीं, नहीं, पापी का सोना,
यहाँ न लाना, भले सिन्धु में वहीं डुबोना।
धीरो धन को आज ध्यान में भी मत लाओ,
जाते हो तो मान-हेतु ही तुम सब जाओ।
मातृभूमि का मान ध्यान में रहे तुम्हारे,
लक्ष लक्ष भी एक लक्ष रक्खो तुम सारे।
है निज पार्थिव-सिद्धि-रूपिणी सीता रानी,
और दिव्य-फल-रूप राम राजा बल-दानी।
करे न कौणप-गन्ध कलंकित मलय पवन को,
लगे न कोई कुटिल कीट अपने उपवन को।
विन्ध्य-हिमालय-भाल, भला! झुक जाय न धीरो,
चन्द्र-सूर्य-कुल-कीर्ति-कला रुक जाय न वीरो!
चढ़कर उतर न जाय, सुनो कुल-मौक्तिक मानी,
गंगा-यमुना-सिन्धु और सरयू का पानी।
बढ़कर इसी प्रसिद्ध पुरातन पुण्यस्थल से,
किये दिग्विजय वार वार तुमने निज बल से।
यदि, परन्तु कुल-कान तुम्हारी हो संकट मे,
तो अपने ये प्राण व्यर्थ ही हैं इस घट में।
किसका कुल है आर्य बना अपने कार्यों से?
पढ़ा न किसने पाठ अवनितल मे आर्यों से?
सावधान! वह अधम-धान्य-सा धन मत छूना,
तुम्हें तुम्हारी मातृभूमि ही देगी दूना।
किस धन से हैं रिक्त कहो, सुनिकेत हमारे?
उपवन फल-सम्पन्न, अन्नमय खेत हमारे।
जय पयस्य-परिपूर्ण सुघोषित घोष हमारे;
अगणित आकर सदा स्वर्ण-मणि-कोष हमारे।
देव-दुर्लभा भूमि हमारी प्रमुख पुनीता,
उसी भूमि की सुता पुण्य की प्रतिमा सीता।

पावें तुमसे आज शत्रु भी ऐसी शिक्षा,
जिसका अथ हो दण्ड और इति दया-तितिक्षा।
देखो, निकली पूर्व दिशा से अपनी ऊषा,
यही हमारी प्रकृत पताका, भव की भूषा।

कुणाल-गीत

हाँ, निशान्त आया,
तूने जब टेर प्रिये, "कान्त, उठो" गाया—
चौंक शकुन-कुम्भ लिये हाँ, निशान्त आया।

आहा! यह अभिव्यक्ति,
द्रवित सार-धार-शक्ति।
तृण तृण की मसृण भक्ति
भाव खींच लाया।
तूने जब टेर प्रिये, "कान्त, उठो" गाया!

मागध वा सूत गये,
किन्तु स्वर्ग-दूत नये,
तेरे स्वर पूत अये,
मैंने भर पाया।
तूने जब टेर प्रिये, "कान्त, उठो" गाया।

गोपी

राधा का प्रणाम मुझसे लो,
श्याम - सखे, तुम ज्ञानी;
ज्ञान भूल, बन बैठा उसका
रोम - रोम ध्रुव - ध्यानी।

न तो आज कुछ कहती है वह
और न कुछ सुनती है;
अन्तर्यामी ही यह जानें,
क्या गुनती - बुनती है।

कर सकती तो करती तुमसे
प्रश्न आप वह ऐसे—
"सखे, लौट आये गोकुल से?
कहो, राधिका कैसे?"

राधा हरि बन गई, हाय! यदि
हरि राधा बन पाते,
तो उद्धव, मधुवन से उलटे
तुम मधुपुर ही जाते।

अभी विलोक एक अलि उड़ता,
उसने चौंक कहा था—
"सखि, वह आया, इस कलिका में
क्या कुछ शेष रहा था?"

पर तत्क्षण ही गरज उठी वह,
भौंह चढ़ाकर बाँकी—
"सावधान अलि! हटकर लेना
तू प्यारी की झाँकी!"

आत्मज्ञान - हीन वह मुग्धा ,
वही ज्ञान तुम लाये ;
धन्यवाद है, बड़ी कृपा की ,
कष्ट उठा कर आये ।

पर वह भूली रहे आपको ,
उसको सुध न दिलाना ,
होगा कठिन अन्यथा उसका
जीना और जिलाना ।

डूबी - सी वह बीच - बीच मे
पलक खोल कर आधे ,
चिल्ला उठती है विलोल - सी
बोल—"राधिके, राधे !"

ज्ञान - योग से हमें हमारा
प्रेम - वियोग भला है ,
जिसमे आकृति, प्रकृति, रूप, गुण ,
नाट्य, कवित्व, कला है ।

राम राम ! मिथ्या माया के
भाव कहाँ से जागे ?
सच्चे ज्ञान, अनन्त ब्रह्म के
जीव आप तुम आगे !

विद्यमान सब विगत क्यों न हो ,
किन्तु समागत भावी ,
मिथ्या कैसे है माया मी ,
जब तक वह मायावी ?

हममें तुममें एक ब्रह्म, पर
वह कैसा नटखट है,
बोल दो घटों में दो बातें,
करा रहा खटपट है!

उसको यही प्रपंच रुचे तो
हमें कौन-सी व्रीड़ा!
एक मात्र यदि वही रहे तो
चले कहाँ से क्रीड़ा!

होगा निर्गुण, निराकार वह
छली तुम्हारे लेखे,
हमसे पूछो तुम, उसके गुन-
रूप हमारे देखे।

अन्तर्दृष्टि मिले तो हम भी
शून्य देख लें अब के,
पर जब तक हैं, कहो क्या करें,
चर्म-चक्षु हम सबके!

कहाँ हमारा कृष्ण, हाय हम
यह क्या तुम्हें बतावें,
ठौर नहीं दिखलाई पड़ता,
उसको जहाँ जतावें।

अब तक यहाँ ध्यान में तो था
वह मोहन मन-भाया,
किन्तु आ अड़ी आज बीच में
कूद, ज्ञान की माया!

चाहे क्या राधा - वियोगिनी,
स्वयं योग लाये तुम,
आहा! क्या ज्ञानाग्नि रूप में
भाग्य - भोग लाये तुम!

दृश्यमान का भस्म लेप कर
फिरे योगिनी वन में,
उसका योगिराज, वह राजे
मथुरा राज - भवन में!

क्या जानें, ज्ञानी ने उसका
ज्ञान कहाँ, कब सीखा,
ज्ञान और अज्ञान हमें तो
यहाँ एक - सा दीखा!

देख न पावें आप आप को
ये आँखें तो भय क्या?
सबमे उस अपने को देखें,
तब भी कुछ संशय क्या?

गायें यहाँ घेरनी पड़ती,
नाच नाचना पड़ता;
वह रस - गोरस कभी चुराना,
कभी जाचना पड़ता।

राजनीति का खेल वहाँ है
सूक्ष्म बुद्धि पर सारा;
निराकार - सा हुआ ठीक ही
वह साकार हमारा!

आते जाते प्रति दिन वन से
घर, फिर घर से वन को;
वह बढ़ गया और कुछ उस दिन
नगर - पवन - सेवन को।

यही बहुत हम ग्रामीणों को
जो न वहाँ वह भूला;
किंवा संग वहाँ भी थी यह
कालिन्दी कल - कूला।

सचमुच ही हम देख रहीं थी
जगते जगते सपना;
जहाँ रहे बस सुखी रहे वह,
दुःख हमारा अपना।

यौवन-सा शैशव था उसका,
यौवन का क्या कहना?
कुब्जा से विनती कर देना,—
"उसे देखती रहना।"

कृपया वचन न मन में रखना
तुम अन्यान्य हमारे;
प्रिय के बन्धु, अतिथि हो उद्धव,
तुम सम्मान्य हमारे।

विवशों का मन, वाणी को भी
व्याकुल कर देता है;
आर्त्तों का आक्रोश ईश भी
सुन कर सह लेता है।

ज्ञानी हो तुम, किन्तु भाग्य तो
अपना अपना होता;
वक्ता भी क्या करे. न पावे
यदि अधिकारी श्रोता!

हम अपने को जान न पाईं,
उसको क्या जानेंगी;
मन की बात मानती आईं,
मन की ही मानेंगी।

निर्गुण निपट निरीह आप हम,
सभी रूप गुण भागे;
निराकार ही निराकार है
आज हमारे आगे!

राधा के अनुरूप जोग की
कोई जुगत जुगाते;
उद्धव, हाय! राजहंसी को
तुम हीरे न चुगाते।

क्या समझाते हो तुम हमको,
वह अरूप है, ओहो!
गोचारी गोपाल हमारा,
रहे अगोचर, जो हो।

हमें मोह ही सही, किन्तु वह
उसी मनोमोहन का;
काम, किन्तु वह उसी श्याम का,
लोभ उसी जन-धन का।

ज्ञानयोग लेकर सुषुप्ति ही
तुम न सिखाने आये !
जाग्रत को समाधि निद्रा का
स्वप्न दिखाने आये !

नाम मात्र का ब्रह्म तुम्हारा,
रहे तुम्हें फल-दायक;
उद्धव, नहीं निरीह हमारा
नटवर-नागर-नायक।

निज विराट को छोड़, सूक्ष्म से
कौन यहाँ सिर मारे !
धार सके उसको जो जितना,
जी भर भर कर धारे।

वे अघ-वक सब कहाँ गये अब,
अरे, एक तो आवे;
देखें हमको छोड़ हमारा
छली कहाँ फिर जावे !

अन्तवन्त हम हन्त ! कहाँ से
वह अनन्तता लावें;
इस मृण्मय में ही निज चिन्मय
पावें तो हम पावें।

सिमिट एक सीमा में, मानो
अपने में न समाता,
मिला हमे ऐसे वह जैसे
जोड़ हमींसे नाता !

क्या बतलावें, वह वंशीधर
कैसा आया हम में !
ताल न आया होगा ऐसा
कभी किसीकी सम में।

जीवन में यौवन-सा आया,
यौवन में मधु-मद-सा ;
उस मद में भी, छोड़ परम पद,
आया वह गद्गद-सा।

वृन्दावन में नव मधु आया,
मधु में मन्मथ आया ;
उसमे तन, तन में मन, मन में
एक मनोरथ आया।

उसमें आकर्षण, हाँ, राधा
आकर्षण में आई ;
राधा में माधव, माधव मे
राधा-मूर्त्ति समाई।

यही सृष्टि की तथा प्रलय की
उद्धव, कथा हमारी,
पर कितना आनन्द हमारा !
कितनी व्यथा हमारी।

कहो, इसे हम किसे जनावें,
कौन, कहाँ जानेगा ;
कौन भूल कर आप आपको,
पर को पहचानेगा !

नई अरुणिमा जगी अनल में,
नवलोज्वलता जल में;
नभ में नव्य नीलिमा, नूतन
हरियाली भूतल में।

नया रंग आया समीर में,
नया गन्ध-गुण छाया;
प्राण तुल्य पाँचों तत्वों में
वह पीताम्बर आया।

कोटि कमल फूटे, कमलों पर
आ आकर अलि टूटे;
चित्रपतंग विचित्र पटों की
प्रतिकृति लेने छूटे।

पात-पात में फूल और थे
डाल-डाल में झूले;
वन की रँग-रलियों मे हम सब
घर की गलियाँ भूले!

नई तरंगे थी यमुना में,
नई उमंगें ब्रज में;
तीन लोक-से दीख रहे थे
लोट-पोट इस रज में।

ऊपर घटा घिरी थी, नीचे
पुलक कदम्ब खिले थे;
झूम-झूम रस की रिम-झिम मे
दोनों हिले-मिले थे!

मद का कहो अँधेरा-सा ही
आया श्याम सही था ;
राधा का छिप गया सभी कुछ ,
वह थी और वही था !

किन्तु गया उजियाले - सा वह ,
उलटा हुआ यहाँ है ;
देश-काल सब अड़े खड़े हैं ,
राधा किन्तु कहाँ है !

आँख मिचौनी में वह भागा ,
हमने पकड़ न पाया ;
देर हुई तो चातक तक ने
रह रह रोर मचाया ।

हँसा किन्तु भेदी पिक हा हा ,
हू हू कर इतराया ;
तब केकी ने नाच निकट ही
कृपया पता बताया !

उद्धव, वे दिन भूलेंगे क्या ,
तुम्हीं बता दो, कैसे ?
संकट भी जब हुए हमारे ,
क्रीड़ा - कौतुक जैसे !

चन्द्र हमारे हाथ, राहु भी ,
बीच - बीच में झपटे ;
पर रस-पिच्छल था यह भूतल ,
और औंधे मुहँ रपटे ।

उद्धव, अब आये इस वन में,
सूखा जब सोता है,
सुनो, वही कोकिल अब कैसा
ऊ ऊ कर रोता है।

रह रह एक हूक उठती है,
हृदय टूक होता है;
समा सकी वह मूर्ति न इसमें,
भग्न धैर्य खोता है।

मृग, मृगियाँ, मृग शावक, साथो,
अब भी यहाँ मिलेंगे,
पर उस यूथप-कृष्णसार के
दर्शन कहाँ मिलेंगे?

सुनकर उसका शृंग भृंग रव
कौन न सुध-बुध भूला?
झड़ पाया न फूल भी, जड़-सा
था फूला का फूला!

आना था तो तब आते तुम,
जब यमुना लहराती,
अब तो भहराती जाती है,
देखो, यह हहराती!

उड़ती है बस धूल आज तो,
कौन करे रस-दोहन;
आकर एक अलभ्य लाभ-सा,
गया भरम-सा मोहन!

सचमुच ही क्या स्वप्न मात्र था,
जो हमने देखा, वह !
किस समाधि, किस नियम और किस
शम-दम ने देखा वह !

उसे महानिद्रा लेकर भी
एक वार फिर देखें;
अन्त बने या बिगड़े, तब भी
हम भर पाया लेखें।

उद्धव, कहो नहीं लौटा क्यों
हाय ! हमारा राजा ?
बजा यहाँ उसके विरुद्ध था
क्या विप्लव का बाजा ?

सिर-माथे ही उस मनोज्ञ को
हमने यहाँ लिया था;
लोक और परलोक, सभी कुछ
अपना सौंप दिया था।

उसका सगुन साधने को हम
शिरोभार सहती थीं;
धरे भरे घट पथ में कब तक
नित्य खड़ी रहती थीं।

कर देना कैसा, अन्तर तक
हमने उसे दिया है;
नित्य नया रस गोरस लेकर
उसको भेंट किया है।

गोवर्द्धन-गढ़ खड़ा आज भी,
जो न इन्द्र से टूटा;
फिर भी चला गया वह गढ़पति,
भाग्य हमारा फूटा।

अरे विहंग, लौट आ, तेरा
नीड़ रहा इस वन में;
छोड़ उच्च पद की उड़ान वह,
क्या है शून्य गगन में!

सदा सजग था वह, सारा ब्रज
सुख-निद्रा पाता था;
आता तो ऊपर का ऊपर
संकट कट जाता था।

मन चाहा सब मिल जाता था,
पथ में हमें, पड़ा-सा;
गये हमारे वे दिन, अब तो
सम्मुख काल खड़ा-सा!

मूर्च्छित जैसे कालिन्दी के
अब ये कूल पड़े हैं;
डूब जायँ कब, देखो, तट के
विटपी झूल पड़े हैं।

किधर जायँ, पग धरें कहाँ हम,
सीधे शूल पड़े हैं;
अब भी कुंजों में, क्रीड़ा के
सूखे फूल पड़े हैं!

अब प्रभात में ही दोपहरी
यहाँ दृष्टि दहती है;
अपनी ओर निहार आप ही
सृष्टि सन्न रहती है।

सर-सर कर खर-वायु इधर से
उधर निकल जाता है;
पत्र-पत्र मर्मर करता है,
मरण नहीं आता है!

अब जो हरियाली है सो सब
आशा के कारण है;
कुसुमितता, वह पूर्वस्मृति की
किये पुलक धारण है।

वह आता है, यही सोच कर
आ जाते हैं फल भी;
ईश्वर जानें, अब क्या होगा,
भारी है पल पल भी।

आता था प्रतिदिन वह वन से,
संग - संग दल - बल के;
सीधा मानस मे जाता था
राजहंस - सा चल के।

हलके हलके, छलके छलके,
श्रम-जल के कण झलके;
उनके लिए न रहते किसके
प्यासे लोचन ललके!

आया था उद्धव, अधीरपन
आप यहाँ की रज में;
वह रँग रस, बस अब होली ही
धधक रही है ब्रज में।

तारा-मंडल घूमा करता
संग रास-मंडल के;
सबके पार्श्व-तरंग साक्षि हैं
उसके झष-गति-बल के!

सब कुछ रहे, नहीं वह दीपक,
जो सब कुछ दिखलाता;
अन्धकार वह वस्तु, हार भी
जहाँ साँप बन जाता।

आते हैं सन्देश आज भी
अवसर के दूतों के;
उस अवधूत बिना हम पाले
पड़ी महा-भूतों के!

योग नहीं, यह रोग-भोग है,
हमे भोगना होगा;
यह विष भला कौन भोगेगा,
वह रस हमने भोगा।

रहे चेतना-सी बस उसकी
मर्म-वेदना हममें;
करती चले उजाला उर की
ज्वाला इस दुर्गम में।

वेद-मार्गियों मे आ पहुँचा,
यह निर्वेद कहाँ से!
लौटा ले जाओ हे उद्धव,
लाये इसे जहाँ से।

हम सौ वर्ष जियेंगी, अपनी
आशा लेकर उर में;
वह प्रसन्नता से प्रमोदरत
रहे प्रतिष्ठित पुर में।

हो या न हो सुनो हे साधो,
योगक्षेम हमारा;
बना रहे उस निर्मोही पर
है जो प्रेम हमारा।

लाख ठगावें, किन्तु सरलता
रहे साख-सी हममे,
लाख ठगें, पर कुटिल कुटिल ही,
रहें न केशव भ्रम मे।

जिये चातकी मेघ-वृष्टि से,
शुक्ति स्वाति-रस-सानी;
एक प्रीति की लता चाहती
दो आँखों का पानी!

आशा फूल निराशा फल है,
इतनी मूल कहानी,
फिर भी हा! इस कृष्ण-हृदय की
वही राधिका रानी!

हर ले कोई राधा का धन,
पर वह भाग उसीका ;
कृष्ण उसीका केश - पक्ष है,
सेंदुर राग उसीका !

जिसे कलंक - तुल्य सिर माथे
लिया मयंक - मुखी ने ;
भेजी आज भभूत यहाँ उस
रंगी - राज - सुखी ने !

हा ! कैसे विश्वास करें हम
उसकी इन घातों का !
अविश्वास किस भाँति करें हा !
उद्धव की बातों का !

माधव भी सच्चे हैं सखियो,
उद्धव भी सच्चे हैं ;
हाय ! हमारे आँख-कान ही
झूठे हैं, कच्चे हैं !

योग-वियोग हो चुके उद्धव,
चलें सन्धि - विग्रह अब ;
रस की लूट हुई मनमानी,
पलें नियम - निग्रह अब !

मुरली तो बज चुकी बहुत, अब
शंख फुँकेंगे सीधे,
दूर मयूर, पलेंगे रण में
गीध गुणों के गीधे !

राधा जब तक है अमानिनी,
करें कृष्ण मनमानी;
उसमें अहम्भाव तो आवे
भरे न आकर पानी।

चरणों मे न पडे तो कहना
मुकुट - रत्न मालाएँ;
एक यही आशा लेकर हैं
बैठी व्रजबालाएँ।

मथुरा क्या, आसिन्धु धरा की
धूल छान डालें वे;
राधा-सा जन-रत्न कहीं भी,
अब जानें, पा लें वे।

सौ चक्कर काटेंगे आकर,
उतरेगी तब त्योरी;
जीती रहे यहाँ ज्यों त्यों कर
केवल कीर्ति - किशोरी।

हम राधा-मुख देख, श्याम का
दर्शन पा जाती हैं;
किन्तु श्याम के मन मे क्या है,
नहीं जान पाती हैं।

राधा स्वयं यही कहती है—
"उसे जगत की पीड़ा;
छूट गई जिसमें पड़ कर हा!
व्रज की-सी वह क्रीड़ा।

सुख की ही संगिनी रही मैं
अपने उस प्रियतम की,
व्यथा विश्व-विषयक न तनिक भी
बँटा सकी निर्मम की।

उलटा अपना दुःख लोक को
मैंने दिया सदा को;
उस भावुक का रस जितना था,
जूठा किया सदा को!"

यह क्या कहते हो तुम उद्धव,
उसकी पद-रज लोगे?
उसे प्रणाम करोगे, तो फिर
आशिष किसको दोगे?

क्षमा करो चापल्य हमारा,
यही बहुत हम मानें,
चलो, करा दूँ दर्शन तुमको,
पर वह श्याम न जानें!

लो, वह आप आ रही देखो,
'सखी, सखी,' चिल्लाती,
पर 'उद्धव, उद्धव,' की ध्वनि भी
है यह कैसी आती?

यह क्या, यह क्या, भ्रम या विभ्रम?
दर्शन नहीं अधूरे;
एक मूर्ति, आधे में राधा,
आधे में हरि पूरे!

———

रामनरेश त्रिपाठी

प्रेम

प्रेम विचित्र वस्तु है जग मे,
अद्भुत शक्ति - निधान ;
निद्रा मे जाग्रति, जाग्रति मे,
है वह नींद समान ।
प्रेम-नशा जब छा जाता है,
आँखों मे भरपूर ;
सोना - जगना दोनों उनसे,
हो जाते हैं दूर ॥

गन्ध - विहीन फूल है जैसे
चन्द्र चन्द्रिका - हीन ;
यों ही फीका है मनुष्य का
जीवन प्रेम - विहीन ।
प्रेम स्वर्ग है, स्वर्ग प्रेम है
प्रेम अशंक अशोक ;
ईश्वर का प्रतिविम्ब प्रेम है,
प्रेम हृदय - आलोक ॥

जग की सब पीड़ाओं से है,
होता हृदय अधीर ;
पर मीठी लगती है उर मे,
सत्य प्रेम की पीर ।

व्याकुल हुआ प्रेम - पीड़ा से
जिसका कभी न प्राण ;
भाग्य-हीन उस निष्ठुर का है,
उर सचमुच पाषाण ॥

जिस पर दया-दृष्टि करते हैं,
मंगलमय भगवान ;
पूर्ण प्रेम-पीड़ा से पीड़ित
होता है वह प्राण ।
जिसने अनुभव किया प्रेम की
पीड़ा का आनन्द ;
उससे बढ़ है कौन जगत में
सुखी और स्वच्छन्द ॥

प्रेमोन्मत्त हृदय मे रहता
है न विरोध न क्रोध,
दुर्गुण नहीं प्रेम - पथ का कर
सकता है अवरोध ।
मधुर प्रेम - वेदना - मुग्ध जन
सुख - निद्रामय मस्त ;
हैं देखते प्रेम-छवि दृग भर
फिर कर जगत समस्त ॥

फूल पंखुड़ी में, पल्लव में
प्रियतम - रूप विलोक,
भर जाता है महा मोद से
प्रेमी का उर - ओक ।
कली देख करने लगता है
वह उन्मत्त - प्रलाप ;
देखें कब तक इन पत्तों में
लुके रहेंगे आप ॥

प्रेम - भरे अधखुले दृगों से
शशि को देख सहास ;
प्रेमी समझ मुग्ध होता है
प्रियतम - हास - विकास ।
उसे प्रेममय लगता है सब
सचराचर संसार ;
प्रेम - मग्न करता है वह नित
प्रेमोद्यान - विहार ॥

प्रेम - वेदना - व्यथित हृदय से
मथित प्रेम की आह ;
कढ़कर भूतल में भरती है
नवजीवन उत्साह ।
करुणाभरे प्रेम के आँसू
ढलकर सुधा समान ;
खींच दया की जड़ देते हैं
जग को आश्रय - दान ॥

जन-जन में प्रेमी को दिखती
है प्रियतम की क्रान्ति ;
इससे उसे लोक-सेवा में
मिलती है अति शान्ति ।
पीड़ित की पीड़ा, भूखे की
क्षुधा, तृषित की प्यास ;
उदासीनता निराश्रयों की
आशा - रहित उसास ॥

कुचित जाति के उन्नति-पथ के
कंटक चुन कर दूर ;
प्रेमी परम तृप्त होता है
आह्लादित भरपूर ।

दया नहीं, कर्तव्य नहीं, वह
नहीं किसीका दास ;
है चाहता देखना वह तो
प्रियतम - रूप - विकास ॥

रूप कहाँ है ? आर्त्त-मुखों पर
प्रकृत हर्ष का हास ;
होता है जब उदित, वही है
प्रियतम - रूप - विकास ॥

विश्व-सुषमा

"देखो प्रिये, विशाल विश्व को आँख उठाकर देखो ,
अनुभव करो हृदय से यह अनुपम सुषमाकर देखो ।
यह सामने अथाह प्रेम का सागर लहराता है ,
कूद पड़ूँ, तैरूँ इसमें, ऐसा जी में आता है ॥

"प्रतिक्षण नूतन वेष बनाकर रंग बिरंग निराला ,
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ मे वारिद-माला ।
नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर नील गगन है ,
घन पर बैठ बीच में बिचरूँ यही चाहता मन है ॥

"रत्नाकर गर्जन करता है मलयानिल बहता है ,
हरदम यह हौसला हृदय में प्रिये ! भरा रहता है ।
इस विशाल, विस्तृत, महिमामय रत्नाकर के घर के—
कोने कोने मे लहरों पर बैठ फिरूँ जी भर के ॥

"निकल रहा है जलनिधि-तल पर दिनकर-विम्ब अधूरा ,
कमला के कंचन-मंदिर का मानो कान्त कँगूरा ।
लाने को निज पुण्यभूमि पर लक्ष्मी की असवारी ,
रत्नाकर ने निर्मित कर दी स्वर्ण-सड़क अति प्यारी ॥

"निर्भय, दृढ़, गम्भीर भाव से गरज रहा सागर है,
लहरों पर लहरों का आना सुन्दर, अति सुन्दर है।
कहीं यहाँ से बढ़कर सुख क्या पा सकता है प्राणी!
अनुभव करो हृदय से, हे अनुराग-भरी कल्याणी!!

"जब गँभीर तम अर्द्ध निशा में जग को ढक लेता है,
अंतरिक्ष की छत पर तारों को छिटका देता है।
सस्मितवदन जगत का स्वामी मृदुगति से आता है,
तट पर खड़ा गगन-गंगा के मधुर गीत गाता है॥

"उससे ही विमुग्ध हो नभ में चन्द्र विहँस देता है,
वृक्ष विविध पत्तों पुष्पों से तन को सज लेता है।
पक्षी हर्ष सँभाल न सकते मुग्ध चहक उठते हैं,
फूल साँस लेकर सुख की सानन्द महक उठते हैं॥

"वन, उपवन, गिरि, सानु, कुंज मे मेघ बरस पड़ते हैं,
मेरा आत्म-प्रलय होता है नयन नीर झड़ते हैं।
पढ़ो लहर, तट, तृण, तरु, गिरि, नभ, किरन, जलद पर प्यारी,
लिखी हुई यह मधुर कहानी विश्व-विमोहन हारी॥

"कैसी मधुर मनोहर उज्ज्वल है यह प्रेम-कहानी,
जी में है अक्षर बन इसके बनूँ विश्व की बानी।
स्थिर, पवित्र, आनन्द-प्रवाहित सदा शान्त सुखकर है,
अहा! प्रेम का राज्य परम सुन्दर, अतिशय सुन्दर है॥"

——

द्विविधा

कुमुद इन्दु कौशिक इन्दीवर
रवि रथांग के हर्ष तेज सुख,
विधि-विधान-वश जब क्रमशः ये
ह्रास-वृद्धिमय जग के सम्मुख;

मन्द-मन्द मारुत से क्रीड़ित
पुष्पित सुरभित मधुप-निसेवित,
मंजु मालती - लता - भवन मे
था वसंत का हृदय तरंगित।

हरित तलहटी में गिरिवर की
समतल निर्झर - ध्वनित धरा पर,
छाया में अति सघन द्रुमों की
बैठ विशद हरिताभ शिला पर;
जाता हूँ मैं भूल जगत को
बार - बार अनिमेष देखकर,
रूपगर्विता प्राण - प्रिया के
यौवन - मद - विह्वल दृग सुन्दर।

किन्तु उसी क्षण क्षुधा-निपीड़ित
शिशुओं के क्रन्दन से कातर,
कहीं जीविका की तलाश में
गये हुए प्रियतम के पथ पर;
लगे हुए निज दीन देश के
अगणित नेत्र आँसुओं से तर,
आ जाते हैं दौड़ सामने
ले जाते हैं सब उमंग हर।

प्रेम-निशा में स्मृति - निद्रा - वश
प्रियम्वदा की पृथुल जाँघ पर,
सिर रख सोते ही क्षण भर में
दृग उठ पड़ते हैं अकुलाकर;
लेटे ही लेटे अचरज से
देख उदित अति निकट मनोभव;
हाथ फेर जो सुख पाता हूँ
वह क्या है सुरपुर मे संभव!

किन्तु उसी क्षण वह निर्धन जो
कुञ्चित जानुओं से उर ढककर,
टाँगें क्षीण भुजाओं से कस
पुत्र कलत्र समेत भूमि पर;
देख परस्पर बिता रहा है
आँखों में हिम-निशा भयंकर,
आता है सहसा स्मृति-पट पर
जाता है सब सुख समेटकर।

चारु चंद्रिका से आलोकित
विमलोदक सरसी के तट पर,
बौर-गन्ध से शिथिल पवन में
कोकिल का आलाप श्रवण कर;
और सरक आती समीप है
प्रमदा करती हुई प्रतिध्वनि,
हृदय द्रवित होता है सुनकर
शशि-कर छूकर यथा चन्द्रमणि।

किन्तु उसी क्षण भूख प्यास से
विकल वस्त्र-वंचित अनाथ-गण,
'हमें किसी की छाँह चाहिए'
कहते चुनते हुए अन्न कण;
आ जाते हैं हृदय-द्वार पर
मैं पुकार उठता हूँ तत्क्षण,
हाय! मुझे धिक् है जो इनका
कर न सका मैं कष्ट-निवारण।

मुझे ध्यान मे निरत देखकर
वह गुलाब का फूल तोड़कर,
मुहँ पर मार खिलखिला उठती
मैं तत्काल भुजाओं मे भर;

बार-बार चुम्बन करता हूँ
उससे जो लालिमा उमड़कर,
निखर कपोलों पर आती है
क्या है वैसी उषा मनोहर !

किन्तु उसी क्षण वे दुखिया-गण
जिनके कुम्हलाये अधरों पर,
हास्य किसी दिन खेल न पाया
अथवा जिनके गिरे-पड़े घर ;
तेल बिना दीपक-दर्शन से
वंचित रहे एक जीवन भर,
अपना दृश्य दिखाकर मेरा
ले जाते हैं हर्ष छीनकर।

मेरे कंधे को कपोल से
दाब विमल दर्पण के सम्मुख,
घन्टों प्रेम-भरी आँखों से
देखा करती है मेरा मुख ;
चश्मे के सन्निकट अकेले
मैं आँखों मे उसकी वह छवि,
देखा करता हूँ, इस सुख का
वर्णन क्या कर सकता है कवि !

एक-एक कण जिसका होगा
वट-सम बढ़े ब्याज पर अर्पण,
ऐसी अन्न-राशि की सन्निधि
प्रमुदित हैं ऋण-ग्रस्त कृषक-गण ;
अद्भुत है उनके जीवन में
यह अनुराग-विराग-विमिश्रण ;
देख ध्यान मे हो जाता हूँ
चकित विमोहित व्यथित उसी क्षण।

उमड़-घुमड़ कर जब घमंड से
उठता है सावन में जलधर,
हम पुष्पित कदम्ब के नीचे
झूला करते हैं प्रति वासर;
तड़ित-प्रभा या घन-गर्जन से
भय या प्रेमोद्रेक प्राप्त कर,
वह भुजबन्धन कस लेती है
यह अनुभव है परम मनोहर।

किन्तु उसी क्षण वह गर्वीविनी
अति विषादमय जिसके मुहँ पर,
धुने हुए छप्पर की भीषण
चिन्ता के हैं घिरे वारिधर;
जिसका नहीं सहारा कोई
आजाती है दृग के भीतर,
मेरा हर्ष चला जाता है
एक आह के साथ निकलकर।

वन-विहार मे वह उपवन के
कोने से प्रसून-दल लेकर,
दृष्टि-फेंकती हुई शंकिता
हरिणी-सी द्रुम लता गुल्म पर;
चपल पदों से आ कहती है
सस्मित 'वेणी कस दो' प्रियतम,
पूर्व पुण्य ही से होता है
प्राप्त जगत मे यह सुख अनुपम।

किन्तु उसी क्षण कोई मन में
कह उठता है—रे विमूढ़ नर!
उनका भी है ज्ञान तुझे जो
दिनभर श्रम करके जीवन भर;

प्रातःकाल सदा उठते हैं
निराधार निर्धन नतमस्तक,
मैं अदृष्ट की ओर देखने
लगता हूँ तब हाय! एकटक।

कभी छोड़ सुख-स्वप्न-मोहिता
शयिता दयिता को शय्या पर,
कुन्द-लता के निकट खड़े हो
उसके करके याद मनोहर—
भृकुटि-विलास, सप्रेम विलोकन,
रसमय वचन, सदा विहसित मुख,
हो जाता हूँ हर्ष-विमोहित
इससे बढ़ क्या है जग में सुख!

किन्तु उसी क्षण यह उठता है
कर समाज-सेवा-व्रत-धारण,
मैंने किया जगत मे इतने
आर्त्तजनों का कष्ट-निवारण;
इतनों के तमसावृत मन में
मैंने किया ज्ञान-अरुणोदय,
सोचूँगा क्या कभी? अहो! कब
होगा इस सुख का चन्द्रोदय!

जाता हूँ मैं जल-विहार को
तरणी मे तरुणी को लेकर,
मैं खेता हूँ वह गाती है
बैठ सामने मनोमुग्धकर;
लहरा उठता है भूतल पर
विस्तृत यह सुषमा का सागर,
लय हो जाता हूँ मैं उसकी
लय मे विश्व-विलास भूलकर।

किन्तु उसी क्षण जग-अरण्य में
जो अज्ञान - तिमिर के कारण,
ज्ञान-ज्योति के लिए विकल हैं
ऐसे अगणित नर-नारी-गण;
फिरने लगते हैं आँखों में
मैं न हुआ क्यों मार्ग-प्रदर्शक!
इस चिन्ता-वश तब लगता है
मुझको अपना जन्म निरर्थक।

खेल रही हैं जिन पर जल की
बूँदें मुक्ता-सी द्युति धरकर,
ऐसे पद्म-पत्र से पुलकित
विमल सरोवर में नौका पर;
कहते हुए पद्म से सुन्दर
ललना के हैं दृग मुख कर पद,
उसको रोमांचित करने से
बढ़कर और कहाँ सुख की हद!

एक बूँद जल घन से गिरकर
सरिता के प्रवाह में पड़कर,
'जाता हूँ मैं फिर न मिलूँगा'
यह पुकारता हुआ निरन्तर;
चला जा रहा है आगे से
कैसा है यह दृश्य भयावह,
इस अस्थिर जग में क्या मेरे
लिए नहीं है चिन्तनीय यह!

लम्बे सीधे सघन इकट्ठे
विविध विटप अवली से शोभित,
चिड़ियों की चहचह से जाग्रत
झरनों से दिनरात निनादित;

पर्वत की उपत्यका में है
कितना सुख ! कितना आकर्षण !
शान्ति स्वस्थता बाँट रहा है
सतत जहाँ का एक-एक क्षण !

वहीं कहीं दूर्वा-दल-शोभित
कोमल समतल विशद धरा पर,
कस्तूरी मृग ने चर-चरकर
जिसको है कर दिया बराबर;
बैठ प्रिया की मधुर गिरा में
उसके अन्तस्तल का सुन्दर,
चित्र देखकर मैं करता हूँ
उसपर निज सर्वस्व निछावर।

किन्तु उसी क्षण वह जनता जो
स्वाभिमानगत पशुवत संतत,
अत्याचार सहन करती है
बिना किये प्रतिवाद मूकवत;
आ जाती है दृग के आगे
रह जाता हूँ मन मसोस कर,
हाय ! मुझे धिक् है जो इनकी
मनोव्यथा मैं सका नहीं हर !

पर्वत-शिखरों का हिम गलकर
जल बनकर नालों में आकर,
छोटे बड़े चीकने अगणित
शिला-समूहों से टकराकर;
गिरता, उठता, फेन बहाता
करता अति कोलाहल 'हर हर',
वीर-वाहिनी की गति से वह
बहता रहता है निशिवासर।

मानो जलदों के शिशुगण, दल
बाँध खेलते हुए परस्पर,
अति उतावलेपन से चलकर
गोल पत्थरों पर गिर-गिरकर;
उठते करते नृत्य विहँसते
तथा मनाते हुए महोत्सव,
सागर से मिलने जाते हैं
पथ में करते हुए महारव।

इनका बाल-विनोद देखते
हुए किसी तीरस्थ शिला पर,
सतत सुगंधित देवदारु की
छाया में सानन्द बैठकर;
सिर धर हरि के पद पद्मों पर
करके जीवन-सुमन समर्पण,
बना नहीं सकता क्या कोई
अपने को आनन्द-निकेतन!

पर हरि के पद पद्म कहाँ हैं!
क्या सरिता के सुन्दर तट पर!
नहीं निराशा नाच रही है
जहाँ भयानक भूरि भेस धर—
निस्सहाय निरुपाय जहाँ हैं
बैठे चिन्ता-मग्न दीन जन;
उनके मध्य खड़े हरि के पद-
पंकज के मिलते हैं दर्शन।

———

विधवा का दर्पण

[१]

एक आले मे दर्पण एक,
किसी प्रणयी के सुख का सखा;
किसी के प्रियतम का स्मृति-चिह्न,
किन्हीं सुन्दर हाथों का रखा।
धूल की चादर से मुहँ ढाँक,
पड़ा था भार लिये मन का;
मूक भाषा में हाहाकार,
मचा था उसके क्रन्दन का॥

[२]

दीमकों ने उसके सब ओर,
कोरकर अपनी मनोव्यथा;
बना दी थी उस आदरहीन,
दीन की अतिशय करुण कथा।
मकड़ियाँ उसपर जाले तान,
म्लान कर मुख की सुन्दरता;
दिखाती थीं करके विस्तार,
रूप - मद की क्षण - भंगुरता॥

[३]

मुकुर यों कहने लगा सशोक,
रोककर मेरी मति - गति को;
मनुज का मिथ्या है अभिमान,
जानकर मेरी दुर्गति को।
कभी दिन मेरे भी थे हाय!
मुझे लेकर प्रिय ने कर में;
प्रियतमा को था अर्पण किया,
रीझकर उस सूने घर मे॥

[४]

देखने को उसके अनमोल,
गाल पर लोलुपता लटकी;
रसीली चितवन का उन्माद,
मनोहरता मुसकाहट की,
प्रियतमा ने पाकर एकान्त,
चूमकर हर्ष मनाया था;
जानकर प्रियतम की प्रिय वस्तु
हृदय से मुझे लगाया था।

[५]

एक मुग्धा के कोमल हाथ,
पोंछते थे मेरे मुख को;
हार पहनाते थे कर प्यार,
कहूँ मैं कैसे उस सुख को।
कामिनी करके जब शृंगार,
पास प्रियतम के जाती थी;
प्रथम मेरी अनुमति के लिए,
निकट मेरे नित आती थी॥

[६]

सभी अङ्गों में उसके नित्य,
छलकता था मद यौवन का,
अजब था रंग प्रेम से तृप्त,
अधखुले पंकज-लोचन का।
अधर पर उसके मृदु मुसकान,
निरन्तर क्रीड़ा करती थी;
दृगों में प्रियतम की छवि नित्य,
बिना विश्राम विचरती थी॥

[७]

दूध की सरिता-सी अति शुभ्र,
पंक्ति थी दाँतों की ऐसी;
जुड़ी हो तारापति के पास,
सभा ताराओं की जैसी।
मनोहर उसका अनुपम रूप,
हृदय प्रियतम का हरता था;
जभी मिलती थी, मैं जी खोल,
प्रसंशा उसकी करता था॥

[८]

कभी प्राणेश्वर के गल-बाँह,
डालकर वह मुसकाती थी;
गाल से प्रिय का कन्धा दाब,
खड़ी फूली न समाती थी।
कराती थी वह मुझसे न्याय,
"मुकुर! निष्पक्ष सदा तुम हो;
अधिक किसके मन में है प्रेम,
हमारी आँखें देख कहो"॥

[९]

गर्व उसका सुन अधर, कपोल,
चिबुक को अगणित चुम्बन से;
तृप्त कर प्रणयी निज सर्वस्व,
वारता था विमुग्ध मन से।
देखता था मैं नित यह दृश्य,
मुझे निद्रा कब आती थी;
हृदय मेरा खिल उठता था,
सामने वह जब आती थी॥

[१०]

हृदय था उसका ऐसा सरल,
प्रकृति में भी थी सुन्दरता;
वसन तन वदन देखकर मलिन,
कभी मैं निन्दा भी करता।
मानती थी न बुरा तिलमात्र,
न आलस या हठ करती थी;
स्वच्छ सुन्दर बनकर तत्काल,
देखकर मुझे निखरती थी॥

[११]

काम में रहती थी निज व्यस्त,
न वह क्षणभर अलसाती थी;
ध्यान में प्रियतम के नित मस्त
इधर जब आती जाती थी।
ठहरकर आँचल से मुहँ पोंछ,
प्यार से देख विहँसती थी;
देखती थी आँखों में मूर्ति,
प्राणधन की जो बसती थी॥

[१२]

रहे थोड़े ही दिन इस भाँति,
परम सुख से दोनों घर में;
अचानक यह सुन पड़ी पुकार,
राष्ट्रपति की स्वदेश भर में।
"कष्ट अब पर-पद-दलित स्वदेश,—
भूमि में अन्तिम सहने को;
चलो वीरो, बनकर स्वाधीन,
जगत मे जीवित रहने को"॥

[१३]

प्रियतमा का वह प्राणाधार,
मनस्वी युवकों का नेता;
राष्ट्रपति की पुकार को व्यर्थ,
भला वह क्यों जाने देता?
बड़ा भावुक था उसका हृदय,
निरन्तर मग्न वीर-रस में;
देश पर मरने का उत्साह,
भरा था उसकी नस-नस मे॥

[१४]

सुखों का बन्धन क्षण में तोड़,
देश के प्रति अति आदर से;
राष्ट्रपति की पुकार पर वीर,
प्रथम वह निकला था घर से।
तभी से वह अबला दिनरात,
घोर चिन्ता मे बहती थी;
विजय की खबरों को दे कान,
प्रतीक्षा में नित रहती थी॥

[१५]

एक दिन बड़े हर्ष के साथ,
राष्ट्रपति ने स्वदेश भर में;
घोषणा की कि, "वीर ने घोर,
युद्ध कर भीषण सङ्गर में।
विजय हम सबको देकर पूर्ण,
चूर्ण कर रिपुओं के मद को;
छोड़कर यह नश्वर संसार,
प्राप्त कर लिया परमपद को"॥

[१६]

उसी दिन उसी घड़ी से हाय!
न मैंने फिर उसको देखा;
कहाँ छिप गई अचानक हाय!
रूप की वह अनुपम रेखा।
न तब से फिर आई इस ओर,
भूल करके भी वह बाला;
पवन ने मेरे मुहँ पर धूल
झोंक अन्धा भी कर डाला॥

[१७]

दुलारों मे नित पाली हुई,
प्रेम की प्रतिमा वह प्यारी;
खिलौना इस घर की वह हाय!
कहाँ है सरला सुकुमारी!
अरे! मेरी यह दीन पुकार,
कहीं यदि सुनता हो कोई;
मुझे दिखला दे मेरा प्राण,
जगा दे फिर किस्मत सोई॥

[१८]

नहीं तो कर दे कोई मुक्त,
विरह-ज्वर से सत्वर मुझको;
मिटा दे मेरा यह अस्तित्व,
पटककर पत्थर पर मुझको।
न जाने कब से चिन्ता-मग्न,
विरह-विधुरा भूखी-प्यासी;
कहाँ होगी वह विह्वल व्यथित,
हाय! करुणा की कविता-सी॥

रूपनारायण पाण्डेय

वन-विहंगम

वन-बीच बसे थे, फँसे थे ममत्व में, एक कपोत-कपोती कहीं ;
दिन रात न एक को दूसरा छोड़ता, ऐसे हिले मिले दोनों वहीं ।
बढ़ने लगा नित्य नया नया नेह, नई नई कामना होती रहीं ;
कहने का प्रयोजन है इतना, उनके सुख की रही सीमा नहीं ।

रहता था कबूतर मुग्ध सदा अनुराग के राग मे मस्त हुआ ;
करती ही कपोती कभी यदि मान, मनाता था पास जा व्यस्त हुआ ।
जब जो कुछ चाहा कबूतरी ने, उतना वह वैसे समस्त हुआ ;
इस भाँति परस्पर पक्षियों मे भी, प्रतीति से प्रेम प्रशस्त हुआ ।

सुविशाल वनों में उड़े फिरते, अवलोकते प्राकृत चित्र छटा ;
कहीं शस्य से श्यामल खेत खड़े, जिन्हें देख घटा का भी मान घटा ।
कहीं कोसों उजाड़ में झाड़ पड़े, कहीं आड़ में कोई पहाड़ सटा ;
कहीं कुंज लता के वितान तने, सब फूलों का सौरभ था सिमटा ।

झरने झरने की कहीं झनकार फुहार का हार विचित्र ही था ;
हरियाली निराली, न माली लगा, फिर भी सब ढंग पवित्र ही था ।
ऋषियों का तपोवन था, सुरभी का जहाँ पर सिंह भी मित्र ही था ;
बस, जानलो, सात्विक सुन्दरता, सुख संयत शान्ति का चित्र ही था ।

कहीं झील-किनारे बड़े बड़े ग्राम, गृहस्थ-निवास बने हुए थे ;
खपरैलों में कद्दू, करैलों की बेल के खूब तनाव तने हुए थे ।
जल शीतल, अन्न जहाँ पर पाकर, पक्षी घरों मे घने हुए थे ;
सब ओर स्वदेश-स्वजाति समाज-भलाई के ठान ठने हुए थे ।

इसी भाँति निहारते लोक की लीला, प्रसन्न वे पक्षी फिरें घर को ;–
उन्हें देखते दूर ही से, मुख खोल के, बच्चे चलें चट बाहर को।
दुलराने, खिलाने, पिलाने से था अवकाश उन्हें न घड़ी भर को ;
कुछ ध्यान ही था न कबूतर को, कहीं काल चढ़ा रहा है शर को।

दिन एक बड़ा ही मनोहर था, छवि छाई वसन्त की कानन में ;
सब ओर प्रसन्नता देख पड़ी, जड़ चेतन के तन में मन में।
निकले थे कपोत-कपोती कहीं, पड़े झुंड में घूम रहे वन में ;
पहुँचा यहाँ घोंसले पास शिकारी, शिकार की ताक में निर्जन में।

उस निर्दय ने उसी पेड़ के पास, बिछा दिया जाल को कौशल से ;
वहाँ देख के अन्न के दाने पड़े चले बच्चे अभिज्ञ जो थे छल से।
नहीं जानते थे, कि यहीं पर है कहीं, दुष्ट भिड़ा पड़ा भूतल से ;
बस, फाँस के बाँस के बन्धन में, कर देगा हलाल हमें बल से।

जब बच्चे फँसे उस जाल में जा, तब वे घबड़ा उठे बन्धन में ;
इतने में कबूतरी आई वहाँ, दशा देख के व्याकुल हो मन में।
कहने लगी, "हाय हुआ यह क्या! सुत मेरे हलाल हुए वन में ;
अब जाल में जाके मिलूँ इनसे सुख ही क्या रहा इस जीवन में"।

उस जाल में जाके बहेलिये के, ममता से कबूतरी आप गिरी ;
इतने में कपोत भी आया वहाँ, उस घोंसले में थी विपत्ति निरी।
लखते ही अँधेरा-सा आगे हुआ, घटना की घटा वह घोर घिरी ;
नयनों से अचानक बूँद गिरे, चेहरे पर शोक की स्याही फिरी।

तब दीन कपोत बड़े दुख से कहने लगा—"हा! अति कष्ट हुआ ;
निबलों ही को दैव भी मारता है, ये प्रवाद यहाँ पर स्पष्ट हुआ।
सब सूना किया, चली छोड़ प्रिया, सब ही विधि जीवन नष्ट हुआ ;
इस भाँति अभागा अतृप्त ही मैं, सुख भोग के स्वर्ग से भ्रष्ट हुआ।

कल-कूजन-केलि-कलोल मे लिप्त हो, बच्चे मुझे जो सुखी करते ;
जब देखते दूर से आता मुझे, किलकारियाँ मोद से जो भरते।
समुहाय के, धाय के, आय के पास, उठाय के पंख नहीं टरते ;
वही हाय! हुए असहाय, अहो, इन नीच के हाथ से हैं मरते।

गृह-लक्ष्मी नहीं जो जगाय रहा करती थी सदा सुख-कल्पना को ;
शिशु भी तो नहीं, जो उन्हीं के लिए सहता इस दारुण वेदना को।
वह सामने ही परिवार पड़ा पड़ा भोग रहा यम यातना को ;
अब मैं ही वृथा इस जीवन को, रख कैसे सहूँगा विडम्बना को।

यहाँ सोचता था यों कपोत, वहाँ चिड़ीमार ने मार निशाना लिया ;
गिर लोट गया धरती पर पक्षी, बहेलिये ने मनमाना किया।
पल में कुल का कुल काल कराल ने भूत भविष्य में भेज दिया ;
क्षणभंगुर जीवन की गति का यह एक निदर्शन है बढ़िया।

हर एक मनुष्य फँसा जो ममत्व में, तत्व महत्व को भूलता है ;
उसके शिर पै खुला खड्ग सदा, बँधा धागे में धार से झूलता है।
वह जाने बिना विधि की गति को अपनी ही गड़न्त में फूलता है ;
पर अन्त को ऐसे अचानक अन्तक अस्त्र अवश्य ही हूलता है,

पर जो मन भोग के साथ ही योग के काम पवित्र किया करता ;
परिवार से प्यार भी पूर्ण रखे, पर-पीर परन्तु सदा हरता।
निज भाव न भूल के, भाषा न भूल के, विघ्न व्यथा को नहीं डरता ;
कृतकृत्य हुआ हँसते हँसते, वह सोच सँकोच बिना मरता।

प्रिय पाठक! आप तो विज्ञ ही हैं, फिर आप को क्या उपदेश करें ;
शिर पै शर ताने बहेलिया काल खड़ा हुआ है, यह ध्यान धरें।
दशा अन्त को होगी कपोत की ऐसी, परन्तु न आप जरा भी डरें ;
निज धर्म के कर्म सदैव करें, कुछ चिह्न यहाँ पर छोड़ मरें॥

लोचनप्रसाद पाण्डेय

मृगी-दुःख-मोचन

वन एक बड़ा ही मनोहर था,
रमणीयता का शुचि आकर-सा;
सुख शान्ति के साज से पूरा सजा,
वह सोहता था कुसुमाकर-सा।
शुभ सात्विक भाव की लीलास्थली,
कुछ प्राप्त उसे था अहो! वर-सा;
रहती थीं वहाँ मृग दम्पती एक,
विचार के कानन को घर-सा।

वन था वह पास तपोवनों के,
करते तपसीगण वास जहाँ;
जिनके सहवास से होता समत्व के,
साथ ममत्व विकास जहाँ।
जहाँ क्रोध विरोध का नाम न था,
रहा बोध का वृत्ति विलास जहाँ;
रहा क्षेम का शान्ति-समास जहाँ,
रहा प्रेम का पूर्ण प्रकाश जहाँ।

अति पूत परस्पर प्रेम रहा,
वन के सब जन्तुओं के मन में;
वहाँ हिंसक हिंस्र का भाव न था,
न अभाव था धर्म का जीवन में।
विपिनौषधि मिष्ट वनस्पति की,
रुचि थी सबको शुचि भोजन मे;
समझो न स्वभाव विरुद्ध इसे,
क्या प्रभाव न है तप-साधन मे।

वन में शुक मोर कपोत कहीं,
तरुओं पर प्रेम से डोलते थे;
निज लाड़लियों को रिझाते हुए,
कभी नाचते थे कभी बोलते थे।
पिक चातक मैना मनोहर बोल से,
शर्करा कर्ण में घोलते थे;
फिरते हुए साथ में बच्चे अहा!
उनके बहु भाँति कलोलते थे।

करि केहरि मुग्ध हुए मन में,
वन में कहीं प्रेम से घूमते थे,
फल फूल फले खिले थे सब ओर,
झुके तरु भूमि को चूमते थे।
झरने झरते करते रव थे,
कहीं खेत पके हुए झूमते थे;
वन शोभा मृगी मृग वे लखते,
चखते तृण यों सुख लूटते थे।

कहीं गोचर भूमि में साँड सुडौल,
भरे अभिमान सुहा रहे थे;
कहीं ढोरों को साथ में ले के अहीर,
मनोहर वेणु बजा रहे थे।
कहीं वेणु के नाद से मुग्ध हुए,
'अहि' बाहर खोहों से आरहे थे;
ऋषियों के कुमार कहीं फिरते हुए
'साम' के गायन गा रहे थे।

चढ़ जाते पहाड़ों में जाके कभी,
कभी झाड़ों के नीचे फिरें विचरें;
कभी कोमल पत्तियाँ खाया करें,
कभी मिष्ट हरी हरी घास चरें।

सरिता जल मे प्रतिविम्ब लखें,
निज शुद्ध कहीं जलपान करें;
कहीं मुग्ध हो निर्झर झर्झर से,
तरु कुंज में जा तप ताप हरें।

रहती जहाँ शाल रसाल तमाल के,
पादपों की अति छाया घनी;
चर के तृण आते थके वहाँ,
बैठते थे मृग औ उसकी घरनी।
पगुराते हुए दृग मूँदे हुए,
वे मिटाते थकावट थे अपनी;
खुर से कभी कान खुजाते कहीं,
सिर सींघ पै धारते थे टहनी।

इस भाँति वे काल बिताते रहे,
सुख पाते रहे, न उन्हें भय था;
कभी जाते चले मुनि-आश्रमों मे,
मिलता उन्हें प्रेम से आश्रय था।
ऋषि कन्यागणों के सुकोमल पाणि के,
स्पर्श का हर्ष सुखालय था;
उनका शुभ सात्विक जीवन मित्र!
पवित्र था और सुधामय था।

कुछ काल अनन्तर ईश कृपा-
वश प्राप्त हुई उन्हें सन्तति दो;
गही दम्पति प्रेम प्रशस्त की धार ने,
एक को छोड़ नई गति दो।
अब दो विधि के अनुराग जगे,
पगे वे सुख में सुकृती अति हो;
इस जीवन का फल मानो मिला,
खिला प्रेम प्रसून सुसंगति हो।

दिन एक लिये युग शावकों को,
चरने को अकेले मृगी गई थी;
वह चारु वसन्त का काल रहा,
वन शोभा निराली विभामई थी।
शुचि शैशव चंचलता वशतः
मृगछौनों की लीला नई नई थी;
भरते बहु भाँति की चौकड़ियाँ,
उनकी द्रुत दौड़ हुई कई थी।

वह तीनों जने निज नित्य के स्थान से,
दूर अनेक चले गये थे;
वन था वह नूतन ही उनको,
सब दृश्य वहाँ के नये नये थे।
तटनी तट की छवि न्यारी ही थी,
लता कुंज के ठाट भले ठये थे।
बहती थी सुगन्धित वायु अहा!
तृण कोमल खूब वहाँ छये थे।

चरने लगे वे सुख साथ वहाँ,
भय की न उन्हें कुछ भावना थी;
यहाँ होगा बहेलिया पास कहीं,
इसकी न इन्हें कभी कल्पना थी।
पर दैव विधान विचित्र बड़ा,
उसकी कुछ और ही योजना थी;
पहुँचा वहाँ व्याध कराल महा,
जिसको कि अहेर की चिन्तना थी।

लख बच्चों के साथ मृगी को वहाँ,
झट घेर उन्हें चहुँ ओर लिया;
उनके बिना जाने बिछा दिये जाल यों,
पार्श्व का मारग रोक दिया।

लगा आग दी पीछे, हुआ फिर आगे ,
लिये धनुबाण, कठोर हिया ;
उस व्याध ने छोड़ दिये फिर श्वान ,
धरो धरो का रव घोर किया।

सहसा इस घोर विपत्ति से हो ,
कर्तव्य विमूढ़ मृगी अकुलानी ;
नव मास के गर्भ के भार से थी ,
वह यों ही स्वभाव ही से अलसानी ।
फिर साथ में थे मृदु शावक दो ,
सुकुमारता की जिनकी न थी सानी ;
चहुँ ओर को देखती बोली वहाँ ,
वह कातर हो यह आरत वाणी।

दिशा उत्तर दक्षिण मे लगे जाल
फँसे उस ओर भगें जो कभी ;
यह दावा कराल है पूर्व की ओर ,
गये उस ओर हो भस्म अभी।
करता हुआ शोर शिकारी खड़ा ,
पथ पश्चिम ओर से रोक सभी ;
हम बन्दी हुए चहुँ ओर से हा !
मिटता क्या कपाल का लेखन भी।

तृण कोमल पत्तियाँ शाक ,
वनस्पतियाँ वन में फिरते चरते ;
पर-पीड़न हिंसा तथा अपकार ,
कदापि किसीकी नहीं करते।
हम भीरु स्वभाव ही से हैं हरे !
न कठोरता, भीषणता धरते ;
छल - छिद्र विहीन हैं भोले निरे ,
फिर भी हैं यहाँ हम यों मरते।

रहती मैं अकेली तो क्या भय था,
मुझे सोच न था तनु का अपने;
पर साथ में लाड़ले जीवन मूर,
ये छौने दुलारे हैं दोनों जने।
फिर गर्भ में बालक है सुकुमार,
इसी से मुझे दुख होते घने;
हम चारों का अन्त यों होगा हरे!
यह जाना न था मन में हमने।

अब क्या करूँ दीन के बन्धु हरे!
किसका मुझे बाकी भरोसा रहा;
पथ है चहुँ ओर से मेरा घिरा,
गिरा चाहता काल का वज्र महा।
यह पावक वेग से उग्र हुआ,
इसी ओर बढ़ा चला आता रहा;
जिसकी खर ज्वाल से नन्हें अहो,
इन छौनों का है तनु जाता दहा।

अरि स्वान ये तीर से आते चले,
इसी ओर को हैं अब खैर नहीं।
बढ़ता हुआ व्याध भी आ रहा है,
बस अन्त है तीर जो छोड़ा कहीं।
करते हम यों न विलाप प्रभो!
मृग प्यारा हमारा जो होता यहीं,
कहते हुए यों रुक कंठ गया,
चुप हो मृगी हो गई स्तब्ध वहीं।

करुणावरुणालय श्रीहरि की,
इतने मे हुई कुछ ऐसी दया;
घन घोष के साथ गिरी बिजली,
जिससे कि शिकारी अचेत भया।

सब स्वान भगे वन के गर्जों से,
वह जाल समूह भी तोड़ा गया;
बरसा जल मूसलाधार, बुझी
वन दावा, मिला उन्हें जन्म नया।

जिनपै हरि तुष्ट हैं तो अरि दुष्ट,
करें क्या ?, भ्रमें गिरि में नग में;
रिपु की असि शूल कराल मृणाल-सी
कोमल हो उनके पग में।
बिछते मृदु फूल अहो! पल में,
दुख कंटक छाये हुए मग में;
जब रक्षक राम खड़े अपने,
तब भक्षक कौन यहाँ जग में।

यहाँ तीनों हुए अति विस्मित से,
लखि श्री हरि की यह लीला अहा!
अति मूक हुए-से कृतज्ञता से,
घर जा रहे थे गहे मोद महा।
वहाँ देख विलम्ब को व्यग्र हुआ,
मृग ढूँढ़ने को इन्हें आता रहा;
सुख सीमा नहीं थी मिले जब चारों,
मृगी के सुनेत्र से आँसू बहा।

निज आँसू भरे नयनों से बता कर,
वृत्त अहो निज यन्त्रणा का;
मृगी ने मृग से सब हाल कहा,
उस व्याध की गुप्त कुमन्त्रणा का।
फिर वृत्त कहा जगदीश दयानिधि
के पदों में निज प्रार्थना का;
उनकी दया का, उनकी कृपा का,
उनकी दुख भंजन-साधना का।

मधुसूदन माधव की दया से,
हम रोग की ज्वाला मिटाते रहें,
भवबन्धन में हम बद्ध न हों,
करि कर्म से धर्म कराते रहें।
दुख स्वान से आकुल प्राण न हों,
हम स्वास्थ्य सुधा नित पाते रहें।
कलिकाल शिकारी के लक्ष्य न हों,
यश श्रीहरि का नित गाते रहें।

———

रामचन्द्र शुक्ल

· आमन्त्रण

दृग के प्रतिरूप सरोज हमारे उन्हें जग ज्योति जगाती जहाँ,
जल बीच कलंब-करंबित कूल से दूर छटा छहराती जहाँ,
घन अंजनवर्ण खड़े तृणजाल की झाँई पड़ी दरसाती जहाँ,
बिखरे बक के निखरे सित पंख विलोक बकी बिक जाती जहाँ,

द्रुम-अंकित, दूब-भरी, जल-खंड-जड़ी धरती छवि छाती जहाँ,
हर हीरक-हेम-मरक्त-प्रभा, ढल चन्दकला है चढ़ाती जहाँ,
हँसती मृदु मूर्ति कलाधर की कुमुदों के कलाप खिलाती जहाँ,
घन-चित्रित अंबर अंक धरे सुषमा सरसी सरसाती जहाँ,

निधि खोल किसानों के धूल-सने श्रम का फल भूमि बिछाती जहाँ,
चुन के, कुछ चोंच चला करके चिड़िया निज भाग बँटाती जहाँ,
कगरों पर काँस की फैली हुई धवली अवली लहराती जहाँ,
मिलि गोपों की टोली कछार के बीच है गाती औ गाय चराती जहाँ,

जननी धरणी निज अंक लिये बहु कीट पतंग खेलाती जहाँ,
ममता से भरी हरी बाँह की छाँह पसार के नीड़ बसाती जहाँ,
मृदु वाणी, मनोहर वर्ण अनेक लगाकर पंख उड़ाती जहाँ,
उजली कँकरीली गली में धँसी तनु धार लटी बल खाती जहाँ,

दलराशि उठी खरे आतप में हिल चंचल चौंध मचाती जहाँ,
उस एक हरे रँग में हलकी गहरी लहरी पड़ जाती जहाँ,
कल कर्बुरता नभ की प्रतिबिम्बित खंजन में मन भाती जहाँ,
कविता, वह हाथ उठाये हुए, चलिए कविवृन्द! बुलाती वहाँ।

हृदय का मधुर भार

ए हो वन, बंजर, कछार, हरे-भरे खेत !
विटप, विहंग ! सुनो अपनी सुनावें हम ।
छूटे तुम, तो भी चाह चित्त से न छूटी यह ,
बसने तुम्हारे बीच फिर कभी आवें हम ।
सड़े चले जा रहे हैं बँधे अपने ही बीच ,
जो कुछ बचा है उसे बचा कहाँ पावें हम !
मूल रस-स्रोत हो हमारे वही, छोड़ तुम्हें
सूखते हृदय सरसाने कहाँ जावें हम !
रूपों से तुम्हारे पले होंगे जो हृदय वे ही
मंगल की योग-विधि पूरी पाल पावेंगे ।
जोड़ के चराचर की सुख-सुषमा के साथ ,
सुख को हमारे शोभा सृष्टि की बनावेंगे ।
वे ही उस मँहगे हमारे नर - जीवन का
कुछ उपयोग इस लोक में दिखावेंगे ।
सुमन-विकास, मृदु आनन के हास, खग
मृग के विलास बीच भेद को घटावेंगे ॥
प्रकृति के शुद्ध रूप देखने को आँखें नहीं ,
जिन्हें वे ही भीतरी रहस्य समझाते हैं ।
झूठे-झूठे भावों के आरोप से आच्छन्न उसे
करके पाखंड कला अपनी दिखाते हैं ।
अपने कलेवर की मैली औ कुचैली वृत्ति
छोप के निराली छटा उसकी छिपाते हैं ।
अश्रु, श्वास, ज्वर, ज्वाला, नीरव रुदन नित्य.
देख अपना ही तंत्री-तार वे बजाते हैं ॥
धर्म, कर्म, व्यवहार, राष्ट्रनीति के प्रचार ,
सब में पाखण्ड देख इतने न हारे हम ।
काव्य की पुनीत भूमि बीच भी प्रवेश किन्तु
उसका विलोक रहे कैसे धीर धारे हम !

सच्चे भाव मन के न कवि भी कहेंगे यदि
कहाँ फिर जायँगे असत्यता के मारे हम !
खलेगा 'प्रकाशवाद' जिनको हमारा यह
कहेंगे कुवाद वे जो लेंगे सह सारे हम ॥
आज चली मंडली हमारी एक घूमे हुए
नाले का कछार धरे और ही उमंग में।
धुँधली-सी धूप धूल-सने वात-मंडल से
ढालती है मृदुता की आभा हर रंग में।
अंजित दृगंचल की कोर से किसीकी खुल
रंजित रसा में रसी झूमती तरंग में—
मानो मदभरी ढीली दृष्टि है किसी की बिछी,
मन को रमाती रम जाती अंग अंग में ॥
धौले, कंकरीले, कटे विटकट कगार जहाँ
जड़ों की जटा के जाल खचित दिखाते हैं।
निकल वहीं से पेड़ आड़े बढ़े हुए कई
अधर मे लेटे हुए अंग लपकाते हैं।
भूमि की सलिल सिक्त श्यामता में गुछी हरी
दूब के पटल पट शीतल बिछाते हैं।
सारी हरियाली छाँट लाल लाल छींटे बने
छिटके पलाश चित्त बीच छपे जाते हैं ॥
बातें भी हमारे साथ उठी चली चलती हैं,
माद-पूर्ण मानस के मुक्त हैं अनेक द्वार।
चारों ओर छोटे बड़े शब्द-स्रोत छूट छूट
मिलते बढ़ाते चले जाते हैं अखंड धार।
उठती हैं बीच बीच हास की तरंगें ऊँची,
झोंक में झुलाती टकराती हमे बार बार।
झाड़ियाँ कटीली कर बैठती हैं छेड़छाड़,
उलझ सुलझ कोई पाता है किसी प्रकार ॥

शिशुओं की पीवर गँठीली पेड़ियों से फूटी
सरल लचीली टूटी डालियाँ कहीं कहीं।
नील-श्याम-दल-मढ़े छोर छितराए हुए
शीर्ण मुरझाए फूल-झौंर हैं झुला रहीं।
कोरे धुंध धूमले गगनपट बीच खुले,
सेमलों के शाखा-जाल खचित खड़े वहीं।
लसे हैं विशाल लाल संपुट से फूल चोंख,
बसे हैं विहंग अंग जिनके छिपे नहीं॥
आए अब ऊपर तो देखते हैं चारों ओर
रूप के प्रसार चित्त-रुचि के प्रचार से।
उछल, उमड़ और झूम-सी रही है सृष्टि
गुंफित हमारे साथ किसी गुप्त तार से।
तोड़ा था न जिसे अभी खींच अपने को दूर,
मोड़ा था न मुहँ को पुराने परिवार से।
उत्सव मे, विप्लव में, शान्ति में, प्रकृति सदा
हमे थी बुलाती उसी प्यार की पुकार से॥
धुँधले दिगंत में विलीन हरिदाभ रेखा
किसी दूर देश की-सी झलक दिखाती है।
जहाँ स्वर्ग भूतल का अन्तर मिटा है चिर,
पथिक के पथ की अवधि मिल जाती है।
भूत औ भविष्यत की भव्यता भी सारी छिपी
दिव्य भावना-सी वहीं भासती भुलाती है।
दूरता के गर्भ मे जो रूपता भरी है वही
माधुरी ही जीवन की कटुता मिटाती है॥
निखरी सपाट कोरी चिकनी कठोर भूमि
सामने हमारे श्वेत झलक दिखाती है।
जिसके किनारे एक ओर सूखी पत्तियों की
पांडु-रक्त मेखला रणित हिल जाती है।

आस पास धूल की उमंग कुछ दूर दौड़
दूब में दमक हरियाली की दबाती है।
कंटकित नीलपत्र मोड़ती घमोइयों के
रक्तगभ - पीतपुट - दल छितराती है॥
ग्राम के सीमांत का सुहावना स्वरूप अब
भासता है, भूमि कुछ और रंग लाती है।
कहीं कहीं किंचित हेमाभ हरे खेतों पर
रह - रह श्वेत शूक आभा लहराती है।
उमड़ी-सी पीली भूरी हरी द्रुम-पुंज घटा
घेरती है दृष्टि दूर दौड़ती जो जाती है।
उसीमें विलीन एक ओर धरती ही मानों
घरों के स्वरूप मे उठी-सी दृष्टि आती है॥
देखते हैं जिधर उधर ही रसाल - पुंज
मंजु मंजरी-से मढ़े फूले न समाते हैं।
कहीं अरुणाभ, कहीं पीत पुष्पराग - प्रभा
उमड़ रही है, मन मग्न हुए जाते हैं।
कोयल उसीमे कहीं छिपी कूक उठी जहाँ,
नीचे बाल-वृन्द उसी बोल से चिढ़ाते है।
छलक रही है रस - माधुरी छकाती हुई,
सौरभ से पवन झकोरे भरे आते हैं॥
देख देव - मन्दिर पुराना एक, बैठे हम
वाटिका की ओर जहाँ छाया कुछ आती है।
काली पड़ी पत्थर की पट्टियाँ पड़ी हैं कई,
घेर जिन्हें घास फेर दिन का दिखाती है।
क्यारियाँ पटी हैं, लुप्त पथ में उगे हैं, झाड़,
बाड़ की न आड़ कहीं दृष्टि बाँध पाती है।
न जो रूप वहाँ भूमि को दिया था कभी,
उसे अब प्रकृति मिटाती चली जाती है॥

मानव के हाथ से निकाले जो गए थे कभी,
धीरे धीरे फिर उन्हें लाकर बसाती है।
फूलों के पड़ोस में घमोय, बेर औ बबूल
बसे हैं, न रोक-टोक कुछ भी की जाती है।
सुख के या रूचि के विरुद्ध एक जीव के ही
होने से न माता कृपा अपनी हटाती है।
देती है पवन, जल, धूप, सबको समान,
दाख औ बबूल में न भेद भाव लाती है॥
मेड़ पर वासक की छिन्न पंक्ति मक्खियों की
भीड़ को बुलाके मधु - विन्दु है पिला रही।
कुंद की धवल हास-माधुरी उसीके पास,
स्वास की सुवास है समीर मे मिला रही।
कोमल लचक लिये डालियाँ कनेर की जो,
अरुण प्रसून गुच्छे मोद से खिला रही।
चल चटकीली चटकाली चहकार भरी,
बार बार बैठ उन्हें हाव से हिला रही॥
कोने पर कई कोविदार पास पास खड़े,
वर्तुल विभक्त दलराशि घनी छाई है।
बीच बीच श्वेत अरुणाभ झलराए फूल
झाँकते हैं सुन "ऋतुराज की अवाई है।"
पत्तियों की कोर के कटाव पर फूली हुई
आँखों में हमारी जपा झोंकती ललाई है।
भौंरे मदमाते मँडराते गूँज गूँज जहाँ,
मधुर सुमन-गीत दे रहा सुनाई है—॥

"आओ, आओ, हे भ्रमर! कमनीय कृष्ण-कान्तिधर!!

देखो, जिस रूप, जिस रंग मे खिले हैं हम
आकुल किसीके अनुराग मे अवनि पर।

इसी रूप-रंग में खिला है कोई और कहीं ,
जाओ वहीं मधुप सुनाओ गूँज पल भर।
रंग में उसीके चूर, धूल हो हृदय यह
धीरे धीरे उड़ा चला जाता है बिखर कर।
जाओ पहुँचाओ पास प्रिय के हमारे अब
अधिक नहीं तो एक कण मित्र मधुकर!"
गर्भ में धरित्री अपने ही कुछ काल जिन्हें
धरकर गोद में उठाती फिर चाव से।
औरस सगे हैं वे ही उसके जो हरे हरे
खड़े लहराते पले मृदु क्षीर-स्राव से।
भरती है जननी प्रथम इनको ही निज
भरे हुए पालन औ रंजन के भाव से।
पालते यही हैं, बहलाते भी यही हैं फिर ,
सारी सृष्टि उसी प्राप्त शक्ति के प्रभाव से॥
तप्त अनुराग जब उर में वसुंधरा का
उठता है लहरें सकंप लहकारता।
देखता है उसे ध्वंस ज्वाला के स्वरूप में तू
प्यार की ललक नहीं उसकी विचारता।
निज खंड अनुराग से न मेल खाता देख
नर तू विभीषिका है उसको पुकारता।
दूर कर पालन की शक्ति की शिथिलता को
वही नव जीवन से भरी फूँक मारता॥
उसी अनुराग के हैं शीतल विकास सब
कोमल अरुण किसलय क्या कुसुमदल।
नीरव संदेश कहो, प्रेम कहो, रूप कहो ,
सब कुछ कहो उन्हें सच्चे रंग में ही ढल।
रंग कैसे रंग पर उड़ उड़ झुकते हैं ,
पवन मे पंख बने तितली के चाले चल।

यों जब रूप मिलें बाहर के भीतर की
भावना से, जानो तब कविता का सत्य पल ॥
गया उसी देवल के पास से है ग्राम-पथ,
श्वेत धारियों में कई घास को विभक्त कर।
थूहरों से सटे हुए पेड़ और झाड़ हरे,
गोरज से धूमले जो खड़े हैं किनारे पर।
उन्हें कई गाएँ पैर अगले चढ़ाए हुए,
कंठ को उठाए चुपचाप हो रही हैं चर।
जा रही हैं घाट ओर ग्राम - बनिताएँ कई,
लौटती हैं कई एक घट औ कलश भर ॥
इतने में बकते औ झकते से बूढ़े बूढ़े,
भगतजी एक इसी ओर बढ़े आते हैं।
पीछे पीछे लगे कुछ बालक चपल उन्हे,
'सीताराम सीताराम' कहके चिढ़ाते हैं।
चिढ़ने से उनके चिढ़ाने की चहक और,
दल को वे अपने बढ़ाते चले जाते हैं।
कई एक कुक्कुर भी मुहँ को उठाए साथ,
लगे लगे कंठ-स्वर अपना मिलाते हैं ॥
कई ललनाएँ औ कुमारियाँ कुतूहल से,
ठमक गई हैं उसी पथ के किनारे पर।
मन्दिर के सुथरे चबूतरे के पास बढ़
सिर से उतार घट-कलश हैं देती धर।
हावमयी लीला यह देख के भगतजी की
भीतर ही भीतर विनोद से रही हैं भर।
मुख से तो कहती हैं 'कैसे दुष्ट बालक हैं,'
लोचनों से और ही संकेत वे रही हैं कर ॥
सूहे बास बीच से है फूटती गोराई कहीं,
पीतपट बीच लुकी साँवली लुनाई है।

भोले भले मुख में कपोल विकसाती हुई
मंद मृदु हास-रेखा दे रही दिखाई है।
चंचल दृगों की यह चटक निराली ऐसे
जनपद छोड़ और जाती कहाँ पाई है।
विविध विकास भरी लहलही मही बीच,
घटित प्रफुल्ल द्युति यह सुघड़ाई है॥

गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'

सत्य की उपासना

सत्य सृष्टि का सार सत्य निर्बल का बल है
सत्य सत्य है सत्य नित्य है अचल अटल है।
जीवन सर मे सरस मित्रवर यही कमल है;
मोद मधुर मकरन्द सुयश-सौरभ निर्मल है॥
मन-मलिन्द मुनि-वृन्द के मचल मचल इस पर गये।
प्राण गये तो इसी पर न्योछावर हो कर गये॥

अटल सत्य का प्रेम भरे जिस नर के मन में;
पाये जो आनन्द आत्मबल के दर्शन में।
पशुबल समझे तुच्छ खड्ग भूषण गर्दन में;
सनके भी जो नहीं गोलियों की सन सन में।
जीवन में बस प्रेम ही जिसका प्राणाधार हो।
सत्य गले का हार हो इतना उस पर प्यार हो॥

तुम होगे सुकरात जहर के प्याले होंगे;
हाथों में हथकड़ी पदों में छाले होंगे।
ईसा से तुम और जान के लाले होंगे;
होगे तुम निश्चेष्ट डस रहे काले होंगे;
होना मत व्याकुल कहीं इस भवजनित विषाद से।
अपने आग्रह पर अटल रहना बस प्रह्लाद से॥

होंगे शीतल तुम्हें आग के भी अङ्गारे;
मर न सकोगे कभी मौत के भी तुम मारे।
क्या गम है, गर छूट जायँगे साथी सारे;
बहलावेंगे चित्त चन्द्र चमकीले तारे॥
दुख मे भी सुख शान्ति का नव अनुभव हो जायगा।
प्रेम सलिल से द्वेष का सारा मल धो जायगा॥

धीरज देगी तुम्हें मित्रवर मीरा बाई ;
प्रेम-पयोनिधि थाह भक्ति से जिसने पाई ।
रही सत्य पर डटी प्रेम से बाज न आई ;
कृष्ण-रंग में रँगी कीर्ति उज्ज्वल फैलाई ॥
आई भी उसकी टली वह विष प्याला पी गई ।
मरी उसीकी गोद में जिसको पाकर जी गई ॥

सत्य-रूप हे नाथ ! तुम्हारी शरण रहूँगा ;
जो व्रत है ले लिया लिये आमरण रहूँगा ।
ग्रहण किये मैं सदा आपके चरण रहूँगा ;
भीत किसीसे और न हे भयहरण रहूँगा ॥
पहली मंजिल मौत है प्रेम-पन्थ है दूर का ।
सुनता हूँ मत था यही सूली पर मन्सूर का ॥

———

क्रांति मे शांन्ति

घूमता कुलाल-चक्र कितनी ही तीव्रता से ,
एक रेखा सुस्थिर, छिपी है चकफेरे में ।
छिपी रहती है मंद मुस्कान-छवि छाया ,
भाग्य - भामिनी के तीखे तेवर - तरेरे मे ।
आशा-द्वार खुलते भी लगती नही है देर ,
डालती निराशा जब चित्त घोर घेरे मे ।
क्रान्ति मे 'सनेही' एक शांति का निवास छिपा ,
प्रबल प्रकाश छिपा अधिक अँधेरे में ॥

———

बुझा हुआ दीपक

करने चले तंग पतंग जलाकर मिट्टी मे मिट्टी मिला चुका हूँ ।
तम-तोम का काम तमाम किया दुनिया को प्रकाश में ला चुका हूँ ॥
नहिं चाह 'सनेही' सनेह की और सनेह में जी मैं जला चुका हूँ ।
बुझने का मुझे कुछ दुःख नहीं, पथ सैकड़ों को दिखला चुका हूँ ॥
जगती का अँधेरा मिटा आँखों में, आँख की तारिका होके समाये ।
परवा न हवा की करें कुछ भी, भिड़े जाके जो कीट पतंग जलाये ॥
निज ज्योति से दे नवज्योति जहान को अन्त में ज्योति में ज्योति मिलाये ।
जलना हो जिसे वो जले मुझ-सा, बुझना हो जिसे मुझ-सा बुझ जाये ॥
लघु मिट्टी का पात्र था स्नेह भरा जितना उसमें भर जाने दिया ।
धर बत्ती हिये पै कोई गया, चुपचाप उसे धर जाने दिया ॥
पर-हेतु रहा जलता मैं निशाभर मृत्यु का भी डर जाने दिया ।
मुसकाता रहा बुझते - बुझते हँसते - हँसते सर जाने दिया ॥

नहीं नहीं

आँखों-आँखों में न मुसकाते कभी आते जाते,
छुटते ही लोचनों मे जल भरते नहीं ।
बनना न होता यदि उनको हृदय हार,
हँसते ही हँसते हृदय हरते नहीं ।
सच्ची जो लगन नहीं मिलन असंभव तो,
आशावान प्रेमी हैं निराश मरते नहीं ।
अंगीकार करना न उनको 'सनेही' होता,
नहीं कर देते 'नहीं-नहीं' करते नहीं ॥

गोपालशरणसिंह

अचरज

मैंने कभी सोचा वह मंजुल मयंक में है,
देखता इसीसे उसे चाव से चकोर है।
कभी यह ज्ञात हुआ वह जलधर में है,
नाचता निहार के उसी को मंजु मोर है।
कभी यह हुआ अनुमान वह फूल में है,
दौड़कर जाता भृंग-वृन्द जिस ओर है।
कैसा अचरज है, न मैंने जान पाया कभी,
मेरे चित में ही छिपा मेरा चितचोर है।

वह

रहती उसी की मंजु मूर्त्ति मनोमन्दिर मे,
जगमग ज्योति जग रही मनभाई है।
लोचनों ने जल भर भर नहलाया उसे,
अश्रु मोतियों की मृदुमाला पहनाई है।
उर ने पवित्र प्रेम आरती दिखाई उसे,
सांसों ने चलाया पंखा अति सुखदाई है।
चित्त-वृत्तियाँ है सब सेवा में उसी की लगी,
प्राणों मे उसी की आज होती पहुनाई है।

प्रतीक्षा

बह रही तरल तरंग अंग अंग में है,
प्रेम की तरंगिणी तरंगित है तन में।
मन मे छिपाये छिपती है अभिलाषा नहीं,
झलक रही है आशा रुचिर वदन में।
त्यों त्यों देखने को दृग होते हैं अधीर और,
ज्यो ज्यों अब हो रहा विलम्ब आगमन में।
जान पड़ता है उन्हें लाने को यहाँ तुरन्त,
आतुर है प्राण उड़ जाने को पवन में।

स्मृति

प्रात प्रयाण कथा सुन के, उसके मुख-पंकज का मुरझाना।
और जरा हँस के उसका, अपने मन का वह भाव छिपाना॥
किन्तु अचानक ही उसके, वर लोचन में जल का भर आना।
संभव है न कभी मुझको, इस जीवन में वह दृश्य भुलाना॥

बालक

उठके सवेरे नित्य जाऊँगा, चराने गाय,
शाम को उन्हीं के साथ धाम लौट आऊँगा।
नाचूँ और गाऊँगा सदैव बालकों के संग,
दूध, दधि, माखन चुराके खूब खाऊँगा।
पहन वसन पीले, वनमाला, मोरपंख,
घूम घूम चारों ओर मुरली बजाऊँगा।
मैया को कहूँगा दाऊ, लेगी तू बलैया मेरी,
फिर क्या न मैया! मैं कन्हैया कहलाऊँगा॥

सुन्दर सजीला चटकीला वायुयान एक,
मैया! हरे कागज का आज मैं बनाऊँगा।
उस पर चढ़के करूँगा नभ की मैं सैर,
बादल के साथ साथ उसको उड़ाऊँगा।
मन्द मन्द चाल से चलाऊँगा उसे मैं वहाँ,
चहक चहक चिड़ियों के संग गाऊँगा।
चन्द्र का खिलौना मृगछौना वह छीन लूँगा,
मैया को गगन की तरैया तोड़ लाऊँगा॥

चन्द्र खिलौना

देख पूर्ण चन्द्रमा को मचल गया है शिशु,
"लूँगा मै खिलौना यह मुझे अति भाया है!"
माता ने अनेक भाँति उसे समझाया पर,
एक भी न माना और ऊधम मचाया है।

निज मुख-चन्द्र का रुचिर प्रतिबिम्ब तब ,
दिखाकर दर्पण में उसे बहलाया है ।
हँस कर कौतुक से बोली चारु चन्द्रमुखी ,
ले तू अब चन्द्र वह इसमे समाया है ॥

देख आरती में परछाईं पूर्ण चन्द्रमा की ,
शिशु ने समोद निज हाथ को बढ़ाया है ।
उसी क्षण चन्द्रवदनी के मुख-चन्द्र का भी ,
देख पड़ा वहाँ प्रतिबिम्ब मनभाया है ।
जान पड़ता है उन दोनों को विलोक कर ,
एक ही समान उन्हें विधि ने बनाया है ।
लूँ मैं किसे और किसे छोड़ूँ हीन मान कर ,
इस असमंजस में वह घबराया है ॥

अज्ञान

पान मैं न खाती कभी तो भी ये अधर मेरे ,
लाल लाल होते जा रहे हैं क्यो प्रवाल से ?
बढ़ गये सत्य ही क्या मेरे ये बिलोचन हैं ,
लगते न जाने क्यों वे मुझको विशाल से ?
जोर जोर मुझ से चला है क्यों न जाता अब ,
सीख-सी रही हूँ मन्द चाल मै मराल से ।
सजनी, भला क्यों मुझे यह गुड़ियों का खेल ,
खेलना न नेक भी है भाता कुछ काल से ?

ब्रज-वर्णन

आते जो यहाँ हैं ज-भूमि की छटा वे देख
नेक न अघाते होते मोद-मद-माते हैं ।
जिस ओर जाते उस ओर मन भाते दृश्य ,
लोचन लुभाते और चित्त को चुराते हैं ।

पल भर अपने को भूल जाते हैं वे सदा,
सुखद अतीत-सुधा-सिन्धु में समाते हैं।
जान पड़ता है उन्हें आज भी कन्हैया यहाँ,
मैया मैया टेरते हैं गैया को चराते हैं॥

करते निवास छवि-धाम घनश्याम-भृङ्ग,
उर कलियों मे सदा व्रज नर-नारी की।
कण-कण मे है यहाँ व्याप्त दृग सुखकारी,
मंजु मनोहारी मूर्ति जुगुल मुरारी की।
किसको नहीं है सुध आती अनायास यहाँ,
गोवर्धन देख कर गोवर्धन-धारी की!
न्यारी तीन लोक से है प्यारी जन्मभूमि यही,
जन मन हारी वृन्दा विपिन विहारी की॥

अंकित व्रजेश की छटा है सब ठौर यहाँ,
लता द्रुम-बल्लियों में और फूल फूल में।
भूमि ही यहाँ की सब काल बतला-सी रही,
ग्वाल बाल संग वह लोटे इस धूल में।
कल कल रूप में है वंशी रव गूँज रहा,
जाके सुनो कलित कलिंदजा के कूल मे।
ग्राम-ग्राम धाम-धाम में हैं घनश्याम यहाँ,
किन्तु वे छिपे हैं मंजु मानस दुकूल में॥

अब भी मुकुन्द रहते हैं व्रज भूमि ही मे,
देखते यहाँ के दृश्य दृग फेर फेर के।
छिपे उर कुञ्ज में हैं वृन्दावन वासियों के,
थकते वृथा ही, लोग उन्हे हेर हेर के।
चित्त-वृत्तियाँ हैं सब गोपियाँ उन्हीं की बनी,
रहती उन्हींके आस पास घेर घेर के।
आठों याम सब लोग लेते हैं उन्हींका नाम,
मानो हैं बुलाते 'श्याम श्याम' टेर टेर के॥

वहीं मंजु वही मही कलित कलिंदजा है,
ग्राम और धाम की विशेष छवि धाम है।
वही वृन्दावन है निकुंज-द्रुम-पुंज भी हैं,
ललित लताएँ लाल लोचनाभिराम है।
वहीं गिरिराज गोपजन का समाज वही,
वही सब साज बाज आज भी ललाम है।
ब्रज की छटा विलोक आता मन में है यही,
अब भी यहाँ ही शुभ-नाम घनश्याम है॥

देते हैं दिखाई सब दृश्य अभिराम यहाँ,
सुषमा सभी की सुध श्याम की दिखाती है।
फूलों फली सुरभित रुचिर द्रुमालियों से,
सुरभि उन्हींकी दिव्य देह की ही आती है।
सुयश उन्हींका शुक सरिका सुनाती सदा,
कूक कूक कोकिला उन्हींका गुण गाती है।
हरी भरी दृग-सुखदाई मन भाई मंजु,
यह ब्रज-मेदिनी उन्हींकी कहलाती है।

———

जगदम्बाप्रसाद मिश्र 'हितैषी'

प्रभाती

१

रविरत्न किरीट धरे द्युति कुन्तलों की नव नीरधरों पै लिये।
श्रुति भार हितैषी स्ववादित-वीण का किन्नरों से भ्रमरों पै लिये।
उतरी पड़ती नभ से परी-सी तुम स्वर्ण-प्रभात परों पै लिये।
किरणों के करों-सरों के जलजात उषा की हँसी अधरों पै लिये॥

२

सँग स्वर्ण सुमेरु को लेके कुबेर की है नभ से नगरी उतरी।
कि त्रिकूट से सिंधु में स्नान को सोने की लंक है शोभा भरी उतरी।
परिणीता नई अवधेश के सौध कि सीता बनी सँवरी उतरी।
सुरशाप से शापिता स्वर्ग से या पृथ्वी पै प्रभाती परी उतरी॥

३

नीलोत्पला शैय्या पर निद्रित नीहारिका थी,
झरने लगे थे कल कल गान करने।
उलझे उषा के केश अपने करों से जब
अलग अलग लगा अंशुमान करने।
अम्बर स्वलित होके जब ओस अम्बुधि में
सुमनों की सुषमा लगी थी स्नान करने।
नाशक वियोग रोग अनुपान आनन्द से
तब योग-वारुणी लगा मैं पान करने॥

घटा

सहते दुख "पी कहाँ" "पी कहाँ"—यों
कहते—पपिहा बिरमा रही है।
सुखदायी बनी मधुपायी जनों के
मनों के मयूर भ्रमा रही है।
उनके मद-प्लावी दृगों पर यों
लटकी लट कुंचित आ रही है।
मनो अम्बर से उतरी मधु मन्दिर पै
घनों की घटा छा रही है॥

कलिका

सहसा बिछुड़े प्रिय खोजने को धन जीवन को फिर से निकलीं,
नहीं देख सकीं जिन्हें वे दिन देखने यौवन के, फिर से निकलीं।
प्रति-द्वंद्विनी काल की कंटक भाले लिए तन के फिर से निकलीं,
महि से मृत कोमल कामिनियाँ कलिका बन के फिर से निकलीं॥

दुखियों का है

इस धूलि कणवाले लोक को तो घेरे हुए,
शोक-जल-पूर्ण पारावार दुखियों का है।
सुख की समृद्धि देखते हैं जिसे सम्मुख ये
अन्तर मे दाबे दुख-भार दुखियों का है।
शान्त जलधार मे धरा के ही अशान्त सुत
ज्वालामुखी-जनित उभार दुखियों का है।
ऊपर प्रसार तारकों के हास्य का है किन्तु
नीचे पृथ्वी के हाहाकार दुखियों का है॥

———

अनूप शर्मा

सिद्धार्थ का रंग-भवन

धीरे चलो, चुप रहो, यह यामिनी है,
सोते यहीं निकट राजकुमार भी हैं,
ऐसा न हो कि जग जायँ उठें कहीं वे,
चिन्ता करें, चल पड़ें, तज गेह भी दें।

क्या ही प्रसन्न-वदना मधु-यामिनी में
है पूर्णिमा परम निर्मल ज्योतिवाली,
अत्युज्ज्वला-तुहिन - दीधिति-अंक-शोभी
है गंधवाह बहता हृदयापहारी।

है चारु हास-सहिता छवि चन्द्रमा की
फैली हुई वसुमती - तल पै मनोज्ञा,
जो आम्र के सघन पल्लव मध्य जाके
है खेलती प्रणय - संयुत मंजरी से।

फूला अशोक-तरु है अति मोददायी,
गुंजार - युक्त भरते अलि भाँवरे हैं,
देखो, तरुस्थ खग - संहति को जगाते
भू पै मधूक गिरते परिपक्व होके।

नीलाभ व्योम अब निर्मल हो गया है
हैं रौप्य - धौत अति मंजु दिगांगनाएँ,
क्या ही अनादि नभ और अनन्त भू पै
फैली हुई सुभग सुन्दर चंद्रिका है।

शाखा - समूह हिम-दीधिति धौत-सा है ,
　　है पत्र - पुष्प सब शोभित कौमुदी में ,
लोनी लता ललित - पेशल बल्लरी की ,
　　आराम में अकथनीय प्रभा लसी है ।

उत्कंठिता सरस रागवती मनोज्ञा
　　बैठी हुई सलिल के तट पै चकोरी ,
है मंत्र-मुग्ध मन से लखती शशी को
　　प्रत्येक बार निज पक्ष फुला रही है ।

क्या स्वच्छ नीर-मय निर्झर हो रहे हैं ,
　　जो शब्द मन्द करते सित यामिनी में ।
मानो सभी निरत विश्रुत गान में हैं ,
　　गाते हुए विरुद चैत्र - विभावरी का ।

अत्युज्ज्वल रजनि की कमनीयता में
　　है व्योम की सुभग मेचकता अनूठी ,
कैसी समृद्धि अवदात निसर्ग की है
　　मानो सतोगुणमयी धरणी हुई है ।

आभा असीम सरि के सित कूल की है
　　धारा लगी रजत-पत्र-समा मनोज्ञा ,
कैसी विशिष्ट छवि नीर-तरंग की है
　　गम्भीर धीर बहती सरि रोहिणी है ।

चन्द्रोज्ज्वल सुभग सुन्दर कान्तिवाली
　　कैसी प्रशस्त छवि-संयुक्त दिग्वधू है ;
शोभामयी वसुमती कर यामिनी में
　　जोत्स्ना लसी अमित सुन्दर शोभनीया ।

छाई हुई अवनि पै मृदुतामयी जो,
नाना-प्रसून-मकरन्द-सुवासिता जो,
नक्षत्र की अंवलि से सुभगा बनी जो,
सो कौमुदी कलित रंग-निकेत में है।

होता हुआ अचल की तुहिनस्थली से
छूता हुआ सरित-सारँग आ रहा जो,
जाती-मृगांक-कलिका-मकरन्द वाही
आराम-मध्य मृग-वाहन श्वास लेता।

जो धाम के शिखर पै पहले चढ़ा था,
सो चन्द्रबिम्ब छिटका अब मेदिनी पै,
निस्तब्ध है रजनि, नीरव रोदसी है,
विश्राम-धाम शिशु-सा यह सो रहा है।

नक्षत्र की अवलि स्वर्ण-ललाम धारे,
सुप्ता यथा रजनि एण-दृशी लसी हो,
प्रत्येक बार मिष तोरण-वाद्य के जो,
स्वप्नस्थ है इसलिए बक-सी रही है।

जो द्वारपाल-ध्वनि विश्रुत हो रही है,
मुद्रामयी अयच्च अंकन-युक्त सो है।
होती समीर-सनकार गभीरता से,
निद्रा-निमग्न सब संसृति हो रही है।

विश्राम-धाम पर मंजु मयूख-माला,
होती निविष्ट गृह-मध्य गवाक्ष-द्वारा,
सोती हुई विधु-मुखी रमणी जनों की,
आदर्श-से अधर पै झुक झूमती है।

श्रीरंग - गेह परिचालन - शील बाला,
हैं सो रही सकल भू पर उर्वशी-सी,
आसक्त नेत्र पड़ते जिस कामिनी पै,
रंभा-समान दिखला पड़ती वही है।

प्रत्येक सुप्त रमणी अति ही मनोज्ञा,
निद्रा-निमीलित-दृशी अब ईदृशी है,
मानो विलोक रजनी दृढ़-बद्ध होके,
ले अंक मे कमलिनी अलि सो गई है।

कैसी प्रसुप्त छवि रूप प्रदर्शिनी है,
आँखे जहाँ निरखती रुकती वहीं हैं,
जैसे समूह पटु-गारुड - नीलकों के,
आकृष्ट नेत्र करते द्रुत दर्शकों के।

सोती पड़ीं अवनि पै परिचारिकाएँ,
है गात्र की न जिनको सुधि वस्त्र की भी,
आधे-खुले सुभग मंजु उरोज ऐसे,
जैसे 'अनूप' कवि की कविता लसी हो।

कोई कला-कलित केश-कलाप बाँधे,
हैं पुष्प-दाम जिनमें बहु रंगवाले,
वेणी अनंग-धनु-शिंजिनि-सी किसीकी,
है लंक-मध्य लिपटी पवनाशिनी-सी।

कोयष्टिका दिवस में मृदुगीत गाके,
सोती यथा रजनि मे श्रम-संयुता हो,
वैसे प्रभूत रम गायन-वाद्य मे वे,
सीमंतिनी सकल भू पर सो रही हैं।

कैसे सुगंधमय मंजु प्रकाश वाले,
सोते प्रदीप गृह के प्रति-कोण में हैं,
आलोक-युक्त कर रंग-निकेत को वे
प्रत्येक भित्ति पर विम्बित हो रहे हैं।

संयुक्त चन्द्र-कर से वह दीप-आभा,
कैसे सुदृश्य अति शुभ्र दिखा रही है,
झोंका उसे पवन का लगता कहीं तो,
होता प्रकाश बहु रंग-विरंग का है।

ऐसे प्रकाशमय मंदिर मे अचेता,
सुप्ता सभी छविवती युवती पड़ी है,
शोभा-पयोधि-गत-विभ्रम-मीन-सी वे
आभा-तड़ाग-हृदयस्थल पै लसी है।

हैं वस्त्र गात्र परसे सरके किसीके,
ऐसी असंज्ञ वह गाढ़ सुषुप्ति में है।
ज्योत्स्नामयी अनुपमा सुषमा विलोकी,
मानो उसे लिपट के छवि सो रही हो।

देखो, सरोज-कर एक उरोज पै है,
है दूसरा सुमुखिके मुख को छिपाए,
मानो स-नाल सरसीरुह शम्भु पै या
राकेश पै स-विष कैरव की कली है।

है पुंडरीक-सम आनन चारुशोभी,
आभा कपोल पर कोकनदोपमा है,
इन्दीवराम्बक समावृत हैं निशा में,
हैं योषिता सकल मंजु मृणालिनी-सी।

है एक जो सुमुखि श्यामल आस्यवाली ,
अत्यन्त गौरतम तो मुख दूसरी का ,
सिन्दूर-लिप्त मृदु आनन अन्य का है ,
देखो, त्रिरंग विधु-विम्ब-मयी त्रिवेणी ।

भ्रू देख देख मन में यह भ्रान्ति होती
कोदंड दो कुसुम शायक के पड़े हैं ,
हैं पक्ष्म जो विनत बन्द विलोचनों मे
वे पंचबाण-शर-से उतरे हुए हैं ।

विम्बोष्ठ हैं सुघर, जो कुछ ही खुले हैं ,
है मध्यगा धवलिमा द्विज-राजि की भी ,
श्री युक्त ओस-कण सुन्दर मोतियों-से
मानो प्रफुल्ल सरसीरुह में पड़े हैं ।

क्या ही प्रकोष्ठ पर कंकण सोहते हैं ,
हैं गुल्फ में विशद बन्धन नूपुरों के ,
ज्यों ही सचेष्ट हिलते अँग कामिनी के
निर्घोष पंचशर - दुंदुभि का सुनाता ।

सोत्क्रोश पार्श्व-परिवर्तन से सखी के
है तारतम्य मिटता सुख-स्वप्न का जो ,
तो शीघ्र ही अधर-आकृति भंग होती ,
है आस्य की विकृति भी मृदु सुन्दरी की ।

देखो, पड़ी धरणि पै सुमुखी प्रसुप्ता ,
उत्संग में परम सुन्दर वल्लकी है ,
संदेश मूक श्रुति में यह तार देते ,
'तू स्वस्थ और उलझे हम यों पड़े हैं ।'

मानो सखी परम रागवती मनोज्ञा
वीणा बजाकर बनी रस-मत्त ऐसी,
है देह की न सुधि, ज्ञात नहीं अवस्था,
आनन्द-मग्न दृढ़-मीलित-लोचना है।

सोई समीप अपरा सुमुखी सलोनी,
ले अंक में हरिण-शावक सुप्त ऐसा,
जो अर्ध खादित पलाश बिहाय भू पै
रोमन्थ भूलकर संप्रति सो गया है।

माला रही विरचती युग नारियाँ जो
वे सो गईं शिथिल होकर यामिनी में,
देखो कि सूत्र मणि-बन्धन में फँसा है,
लेटे हुए कुसुम कामिनि-क्रोड़ में हैं।

आराम को समुद आकर भेंटती जो,
है रोहिणी रमणशीलवती नदी जो,
लोरी-समान कल शब्द सुना-सुना के
है पुष्प-काल-लघु-बालक को सुलाती।

श्वेताभ कूल पर संस्थित पत्थरों पै
देती निसर्ग-शिशु को थपकी नदी है,
ऐसे सुमन्द रव को सुनती-सुनाती
सीमंतिनी सकल भूपर सो रही है।

डूबी सुषुप्ति-सरसी-रस में, निशा में,
है कामिनी-कमलिनी अति ही मनोज्ञा,
मूँदे हुए सुभग अम्बुज-अम्बकों को
आदित्य के उदय का क्षण देखती है।

पर्यंक - वाम - महि पै यह गौतमी है
गंगा, लखो, शयन-दक्षिण में पड़ी है,
दोनों सखी परम रूपवती गुणाढ्या,
हैं सेविका - वलय की मणियाँ मनोज्ञा।

हैं गन्धसार - मय गेह - कपाट सारे,
स्वर्णाभ मेचक हरे परदे पड़े हैं,
सोपान-मार्ग चढ़ सम्मुख दृष्टि डालो,
सिद्धार्थ - रंग - गृह है यह मोददायी।

कौशेय के परम पूत बिछे बिछौने
जो कंज-पत्र-सम सौख्यद अंग को हैं,
है दाम भित्ति पर सिंहल-मौक्तिकों के,
यों अन्तरंग गृह का हँसता खड़ा है।

नेत्राभिराम छत मर्मर की बनी है,
उत्कीर्ण चित्र जिसमें व्रज-रत्न के हैं,
कैसे गवाक्ष अति शोभित चन्द्रिका से
भृंगप्रिया - मुकुल - सौरभ - गेह - से हैं।

राकेश की किरण और समीर, दोनों
संयुक्त प्राप्त करते सुख गन्ध का हैं,
शोभायमान नग रंग - बिरंग वाले
पर्यंक में कुसुम-आकृति के जड़े हैं।

ऐसे महान सुषमामय मोददायी
विश्राम के भवन मध्य शयान दोनों,
सिद्धार्थ हैं निकट सुप्त यशोधरा है,
निद्राभिभूत यह दम्पति हो रहे हैं।

गृह-त्याग

तदा गोपा सोई, सिसक कर दुःस्वप्न-दुख से
पुनः सोते सोते 'समय अब आया,' सुन पड़ा ;
प्रिया के सोते ही विगत कर चिन्ता हृदय की
लखे फूले तारे रजनिकर - संयुक्त नभ में।

निहारे तारे जो चमककर मानो कह रहे,
'तमिस्रा है आई जब सुख करो, या दुख हरो ;
बनो चाहे राजा सुख-विभव से युक्त अथवा
तपस्या के द्वारा सकल जग का मंगल करो !'

कहा, "हे हे तारो, समय वह आया निकट ही
करूँगा मैं रक्षा भव-रुज-निमग्ना धरणि की ;
नहीं हूँगा राजा मुकुट सज के वंश-गत जो,
यहाँ आया हूँ मैं सकल जग का ताप हरने।

न इच्छा देशों को विजित कर होऊँ नृपति मैं,
बहेगी धारा-सी मम असि न संग्राम-महि में ;
न होंगे लोहू से हय-गज कभी रक्त रण में,
कलंकीभूता यों अब न मुझको ख्याति करना।

गुफा होगी मेरी वसति, सुख-शैय्या धरणि की,
त्वचा वृक्षों की भी परम सुखकारी वसन-सी ;
सदा संगी-साथी विपिनचर होंगे सुहृद-से,
फिरूँगा योगी हो सुखद जग के भोग तजके।

तरंगे भावों की हृदय - तल में आज उठतीं,
करूँगा रक्षा मैं भव-भय-विपन्ना धरणि की,
प्रयत्नों के द्वारा परम गति है साध्य सबको,
तितिक्षा की सत्ता, समय अब है, स्थापित करूँ।

अहो ! प्राणी कैसे अवनितल पै क्लेश सहते ,
दुखी हो, रोगी हो, मृत बन पुनः जन्म धरते ;
सदा भोगों में वे रत रह अघी हाय ! बनते ,
यही क्या लोगों का अर्थ, इति यही क्या जगत की ?

धरा छोड़ूँगा मैं अतल खनि है जो अनय की ,
अभी मैं त्यागूँगा धन-विभव जो हेतु दुख का ;
तजूँगा नारी जो विषयतरु की मूल दृढ़ है ,
अभी मैं जाऊँगा जगत-हित के हेतु गृह से ।

बनें साक्षी सारे तपन - विधु-नक्षत्र-धरणी ,
प्रिये, मैं त्यागूँगा पुर, जन, प्रिया, गेह-सुख भी ;
अभी छोड़ूँगा मैं सुदृढ़तर वामा-भुज-लता
नहीं छोड़ा जाना स-हरि हर को शक्य जिसका ।

तजूँगा मैं सोते अति सुखद गर्भस्थ शिशु को ,
हमारे स्नेहों का प्रथम फल जो श्रेष्ठतम है ;
अहा ! कैसा सो भी स्फुरित बनता है उदर में ,
विदा देना चाहे यह कि मुझको रोक रखना ।

पिता के-माता के युग हृदय को युक्त करके
हुआ है वंश-श्री-तिलक सुत गर्भस्थ यह जो ;
करेगा गोपा के मलिन जब अंगांग रज से
उसे गम्या होगी प्रणय-गत जो है विमलता ।

अहो ! मेरी वामा, सुत, जनक, वासी नगर के ,
सहो जैसे-तैसे कुछ दिवस लौं जो दुख पड़ें ;
तुम्हारे दुःखों से यदि सुखमयी ज्योति प्रकटे ,
सभी प्राणी पावें सुपथ उस निर्वाण-गृह का ।

अतः जाता हूँ मैं, समय ढिग, संकल्प दृढ़ है,
न लौटूँगा प्यारी, जब तक न होगी सफलता ;
धराशायी होगा जब तक न सो केतु अघ का
ध्वजा ऊँची होगी जब तक न सो, जो लख पड़ी।

तमिस्रे, हे निद्रे, कमल-दल यों बन्द कर दो
कि गोपा के दोनों नयन-पुट भी आवृत रहें ;
अहो! जोत्स्ने, वामा-अधर अब संपुष्ट कर दो
सुनाई दें 'हाहा'—वचन उसके जो न मुझको।

अहो! सोते सोते वचन सुन ले, हे सहचरी,
सदा तू देती थी परम सुख, है दुःख तजना ;
न छोड़ूँ तो भी तो अति दुखद है अन्त सबका
जरा है, बाधा है, मरण-गति है, जन्म फिर है।

प्रिये, निद्रा का-सा ऊगमतर लेखा मरण का,
धराशायी होना, अचल बनना, जाड्य गहना ;
हुई म्लाना माला तब फिर कहाँ गंध उसमें?
दशा तैलाभ्यंगा जब न रहती, दीप बुझता।

यथा शाखाओं में अति लहलहे पत्र लगते,
धराशायी होते, पतझड़ उन्हें शुष्क करता,
कुठाराघातों से विटप कटते, दारु बनते,
न ऐसे खोऊँगा परम प्रिय है जीवन मुझे।

विदा लेता हूँ मैं, कमलनयने, इन्दु-वदने,
क्षमा देना प्यारी, यदि दुख लगे धैर्य धरना ;
तुम्हें सौंपा मैंने हृदय-धन गर्भस्थ शिशु को,
प्रिये, जाता हूँ मैं प्रतिनिधि यहीं छोड़ अपना।

प्रिये, शैया पै मैं अब न पद दूँगा पलट के
फिरूँगा, छानूँगा सकल जग की रेणु रज में।"

पुण्य-प्रभात

(गौतम के संबोध का प्रभाव)

पाई संसृति ने मनोजजित से निर्वाण की संपदा,
प्राची में उदिता उषा-छवि हुई, फैली प्रभा भूमि पे,
आया वासर दिव्य, सत्य-रवि ने मेटी मृषा यामिनी,
मानो श्रीभगवान की विजय की थी घोषणा हो रही।

रेखा जो धुँधली दिगन्त पर थी, सो रक्त होने लगी,
दोषा थी तमसावृता गगन में, सो भी अदृश्या हुई;
डूबा निष्प्रभ शुक्र व्योम-तल में, भू पै प्रभा छा गई,
क्या ही पुण्य-प्रभात विश्व तल में फैला महज्ज्योति से।

पाई दीधिति मेरु ने प्रथम ही, माना स्वयं को कृती,
शुभ्रा ज्योति-किरीट-मंडित-शिखा थी राजती पूर्व में;
प्रातः वायु बहा सुगंध-युत हो, ले मन्दता शैत्य भी,
फूले पुष्प, उठे शिलीमुख, चले सानन्द राजीव पै।

जो दूर्वादल पै पड़ी रजनि मे थी ओस सो भी उड़ी,
फैली ज्योति प्रभात की अवनि पै याता बनी यामिनी,
हो हेमाभ चलायमान बनते थे ताल के वृन्त भी,
ज्योतिर्युक्त हुई गुफा गहन की, शैलाद्रि की कंदरा।

शोभा से नव सूर्य की जग पड़ी आह्लादिनी निम्नगा,
मानो थी सित-रत्न-निर्मिति बनी धारा मनोहारिणी;
पक्षी भी उठके विराव करते आनन्द में मग्न थे,
आई दौड़ रथांगिनी स्वपति से बोली, "त्रियामा गई।"

ऐसा पुण्य-प्रभात धर्म-रवि का फैला सभी ओर था ,
आये श्री-सुख-प्रेम-शान्ति महि मे, आनन्द होने लगा ,
त्यागा बन्धन व्याध ने त्वरित ही वैदेह ने व्याज भी ,
मूषा जो पर-द्रव्य था रजनि मे लौटा दिया चोर ने ।

फैला धर्म-प्रभात था अवनि मे पीयूष-संचार-सा ,
रोगी, वृद्ध; अशक्त भी मुदित थे पा स्वास्थ्य की संपदा ;
भूपों ने रण से निवृत्त असि की क्रोधाग्नि से मुक्त हो ,
सारी संसृति सत्य-चिन्तन-परा, निर्वाण-भावा बनी ।

प्राणी जो म्रियमाण थे वह उठे पाके नई चेतना ,
संध्या जीवन की अहो ! बदल के प्रत्यूष-भूषा हुई ;
बैठी दीन यशोधरा स्व-पति के पर्यंक के पास थी ,
सो भी प्रात-प्रफुल्ल-पंकरुह-सी आनंदिता हो उठी ।

शुष्का निर्जन भूमि भी लख पड़ी स्वर्गीय सौन्दर्य से
मानो आगम देख देवपति का आशा जगी मुक्ति की ;
सारे किन्नर-यक्ष-देव सुख से गाने लगे व्योम में
फैला क्यों जग मे प्रमोद इतना, जाना किसीने नहीं ।

वाणी अम्बर में हुई, "खुल गया कल्याण का मार्ग है"
जो थी विस्तृत स्वर्ण-ज्योति नभ मे भू-लोक मे आ गई ;
सारे जीव विहाय वैर पुर मे कान्तार में घूमते ,
गो के संग मृगेन्द्र और वृक के थे साथ मे मेष भी ।

छोड़ा क्ष्वेड भुजंग ने, गरुड़ ने मैत्री रची सर्प से ,
लावा श्येन अभीत थे, बक लगे होने सखा मीन के ;
सारे जंगम थे प्रसन्न जड़ भी कल्याण के भाव मे ,
पक्षी मे पशु मे तथा मनुज में फैली दया-भावना ॥

———

गुरुभक्तसिंह

मलयानिल

मलयानिल ! संदेश प्रेम का मेरा उस तक पहुँचा दो ।
उसके अति कठोर मानस को रस दे देकर पिघला दो ॥
बालापन के क्रीड़ाओं की उसको याद दिला देना ।
कंजाती उस दबी आग को दे दे फूंक जिला देना ॥

फूल खिलाना, फिर बसंत की मदिरा पिला पिला कर ।
जगा जगा कर पूर्व प्रणय वह सोता, हिला हिला कर ॥
मेरी याद दिलाना उसको फिर करुणा उपजा कर ।
मेरी दुःख कहानी उसको विधिवत सुना सुना कर ॥
जो कुछ कहे प्रिया उत्तर में ठीक ठीक वह लाना ।
उसी भाव से सब सम्वाद मिलन का मुझे सुनाना ॥
देर हुई अब तनिक दया कर, जरा हवा हो जाना ।
अगर उसे सोते पाना तो झटपट नहीं जगाना ॥
जाकर पहले छिप उपवन मे कलियों को चिटकाना ।
फिर भँवरों को भेज कमलमुख पर गुण गान कराना ॥
तितली दल पंखों से झलता रहे किरण के छींटे ।
पत्तों को समझाते रहना कि ताली मत पीटें ॥
फिर भी नींद उचट जाये जब वह अँगड़ाई ले ले ।
उठकर आँखों को मलती ही हृदय हार से खेले ॥
या जा फूलों की क्यारी मे गिने सुमन पंखड़ियाँ ।
या निकुंज में ही सुलझाती उलझी मोती लड़ियाँ ॥

तब धीरे से, खेल, शीश से अंचल को खिसकाना ।
निकट कान के जा धीरे से मेरी कथा सुनाना ॥
चिहुँक उठेगी वह घबड़ाकर इधर उधर जब झाँके ।
तब तुम फूलों में छिप जाना भौरों को दिखला के ॥
शनैः शनैः अनुराग बढ़ाना, जब वह दूत बुलावे ।
और भाव से निज अधीरता भली भाँति दिखलावे ।
तब तुम जाकर निकट तुरत मेरा सन्देश सुनाना ।
और कहे जो कुछ उत्तर मे उसे शीघ्र ले आना ॥

अम्बुधि कुमार

मात पिता के संरक्षण से ऊब गया ज्यों विहग कुमार ।
नीड़ त्याग नभ मे उड़ने को पर फड़काता बारम्बार ॥
इच्छाओं के प्रबल झोक में अनिलधार से कूद हठात ।
नव डैनों के डाँड चलाता तिरता जाता हो दिनरात ॥
वैसे ही अम्बुधि कुमार यह घन, स्वतंत्र, इच्छाचारी ,
जनक-ताड़ना अवहेलन कर, भाग भाग कर रव भारी ,
विद्युत के विमान पर बैठे, मन मारुत की कर पतवार ।
द्विजगण की टोली से होड़ लगाते करते हुए विहार ॥
विविध देश प्रान्तर भूखण्डों पर होते करते कौतुक ,
किसी शैल-कन्या के अन्तःपुर मे घुस जाते लुक लुक ॥
राह रोकते कभी पथिक की, जो पत्नी के मिलने हित
द्रुतगति से निज सदन जा रहा है विभोर हो चिन्तित-चित ॥
राह निरख है रही प्रिया ऊँचे से झाँक झरोके से ।
पट खटकाकर प्रिय आगमन बताकर उसको धोके से ॥
मिलन उमंग भंग कर डाला, द्वार खोल जब हुई हताश ।
तब उसकी व्याकुलता पर होकर प्रसन्न कर अट्टहास ॥
बढ़ते बढ़ते चढ़ते चढ़ते किसी शैल से टकराये ।
कभी कभी कानन में खोकर रो रो कर बाहर आये ॥

ग्राम-नगर उपवन-गिरि-कानन का लेता आनन्द महान।
हिमगिरि के प्रदेश में जा पहुँचा स्वतंत्र मेघों का यान॥
बाल-सुलभ उच्छृंखलता में चलने को तो निकल पड़े।
पर जब घर की सुधि आई तो बच्चे व्याकुल हुए बड़े॥
आगे बढ़ने लगे, हिमाचल ने ऊँची निज भुजा पसार।
कहा डाँट कर, रुको अगर आगे बढ़ने का किया विचार॥
तो मैं शीत दण्ड से सारी गरमी ठंडी कर दूँगा।
कर पाषाण जमा कर सब के उड़ते पंख कतर दूँगा॥
गति रुक गई नहीं कुछ आगा पीछा उनको दीख पड़ा।
घर था दूर शिथिल अँग उनका बादल दल रह गया खड़ा॥
हिमगिरि को फिर देखा सबने श्वेत केश वह महा कठोर।
शीत दंड ताने सक्रोध ही देख रहा था उनकी ओर॥
धीर अधिक रख सके नहीं वे सिसक सिसक कर फूट पड़े।
आँसू आँसू हो बेचारे व्योम नयन से टूट पड़े॥
माता सरिता धीरज दे दे बुला बुला कर अपने पास।
उनके पिता-गेह तक पहुँचाने का है कर रही प्रयास॥

अरुणा

अंगड़ाई लेती शतदल पर, अरुणा नत शोभा के भार,
छक छक रस, मन में उमंग भर, निकल पड़ी करने अभिसार।
दबे पाँव चलने पर भी नूपुर कलिका दल उठे चिटक,
दृग तूली जिस ओर फेरती सतराग छवि गई छिटक।
उसके पावन पद प्रहार से विहँस विटप होते मुकुलित,
रश्मि चित्रलेखा ने कर दी चित्रों से भूपट मुद्रित।
दोनों हाथों से चारों दिशि सोना बरसाती झरझर,
सुमन अधर मकरन्द पान से मलयानिल गति है मन्थर।
झलक देख हो मुग्ध, केलि कर, ऊषा प्रियतम श्यामकुमार,
स्नेह हीन दीपक घर करता, हिम हीरक प्रेयसि पर मार।

छिप था गया चुरा मन उसका, अन्तरिक्ष में, घन के बीच,
कलिका दीपक शिखा बढ़ाता, नक्षत्रों की आँखें मीच।
मुहँ खोला सुमनों ने ज्यों ही कहने को रहस्य सुन्दर,
बना दिया अवाक़ मुहँ छूकर, भँवरों ने भाँवरियाँ भर।

बाल हंस ने नील नीड़ से, जग कर तोले अपने पर,
हँसी प्रकृति, स्वागत में खगकुल नाच उठा मंगल गाकर।
अन्तरिक्ष पट से दिग्वधुओं ने विनोद से लख उस ओर,
इंगित ही से बता दिया, था छिपा जहाँ अरुणा चितचोर।
पुलकित हो ऊषा मुसकायी किरण कमन्द तुरत ली धर,
ऊपर जा, रवि वातायन से, झाँक उधर, प्रियतम लखकर।
कूद पड़ी अनन्त के उर मे, लिपट गयी निज प्रियतम पा,
निज अस्तित्व मिला उसमें ही वह असीम मे गयी समा।
उसने तो प्रणयी निज पाया, मैने पाकर भी खोया,
निद्रा मे थी अङ्क लगाये, जगी, भाग्य मेरा सोया।
प्रिय के सरस गूढ़ चुम्बन से भरे, तप्त हैं अधर मधुर,
मचल रहा उसास ले लेकर गाढ़ालिंगन से मन उर।
सचमुच ही क्या वे आये थे ? बाहों में है मीठी पीर,
धुँधली-सी सुध है सपने की, मन मत बहक, तनिक धर धीर।

शैल-बाला

हरियाली से भरी हुई है घाटी की गहराई,
जिसमें खग कूजन की धारा फिरती है लहराई।
शिलाखण्ड में मूर्ति बनाती, धार वारि छेनी से,
मग में रुक कुछ कह लेती है, भोली मृगनयनी से।
गिरती पड़ती चक्कर खाती, नाच भँवर में, गाती,
सुमन-राशि अंचल में भरती, मदमाती, इठलाती।
कानन श्री-छवि, सलिल सूत्र मे, चुन चुन, विहँस पिरोती,
परिरम्भन कर चुम्बन देती न्योछावर हँस होती।

गूँथ गूँथ, सरि ने शृंगों को वनमाला पहनाई,
सुर वधुएँ देखा करती हैं यह शोभा ललचाई।
लिपटे हैं आकाश अङ्क में शृंग श्रेणियों के शिशुगण,
मचल मचल, उन्नत पयोधरों में, लुक-छिप, कर ताप शमन,
सन्ध्या से, रवि कंदुक क्रीड़ा में, जो, छीन छिपाते हैं,
चमक चमक कर, रँग में भर भर, अद्भुत रूप दिखाते हैं।

मेहर का शैशव

इन घासों के मैदानों मे, इन हरे-भरे मखतूलों पर,
इन गिरि-शिखरों के अंकों में, इन सरिताओं के कूलों पर।
जो रहा चाटता ओस रात भर प्यासा ही था घूम रहा,
वह मारुत पुष्पों का प्याला खाली कर कर है झूम रहा।
पर्वत के चरणों में लिपटी वह हरी भरी जो घाटी है,
जिसमें झरने की झर झर है, फूलों ही से जो पाटी है।
उसके तट से सुरम्य भू पर, झाडी के झिलमिल घूँघट में,
है नई कली इक झाँक रही लिपटी घासों ही के पट में।
कैसी प्यारी वह कलिका है—नवजात बालिका सोई है,
वह पड़ी अकेली देख रही है पास न उसके कोई है।
हैं खेल रही उससे आकर क्वाँरी क्वाँरी हिम बालाएँ,
हो गई निछावर इस छवि पर नभ की सब तारक मालायें।
यह नव मयंक है उगा हुआ चारों दिशि छिटके तारे हैं,
ऊषा ने किये निछावर ये मोती जो प्यारे प्यारे हैं।
स्वर लहरी तो है खेल रही परदे में जननी वीणा है,
इस भू-मण्डल की मुँदरी का यह कन्या सुघर नगीना है।
मृदु कलियाँ चुटकी बजा बजाकर बच्चे को बहलाती हैं,
कोमल प्रभात किरणें हिमकण में नहा नहा नहलाती हैं।
यह भावी के रहस्यमय अभिनय की पहली ही झाँकी है,
यह सुभग चित्र किसने खींचा? क्या मूर्ति गढ़ी यह बाँकी है।

छिप था गया चुरा मन उसका, अन्तरिक्ष में, घन के बीच,
कलिका दीपक शिखा बढ़ाता, नक्षत्रों की आँखें मीच।
मुहँ खोला सुमनों ने ज्यों ही कहने को रहस्य सुन्दर,
बना दिया अवाक मुहँ छूकर, भँवरों ने भाँवरियाँ भर।

बाल हंस ने नील नीड़ से, जग कर तोले अपने पर,
हँसी प्रकृति, स्वागत में खगकुल नाच उठा मंगल गाकर।
अन्तरिक्ष पट से दिग्वधुओं ने विनोद से लख उस ओर,
इंगित ही से बता दिया, था छिपा जहाँ अरुणा चितचोर।
पुलकित हो ऊषा मुसकायी किरण कमन्द तुरत ली धर,
ऊपर जा, रवि वातायन से, झाँक उधर, प्रियतम लखकर।
कूद पड़ी अनन्त के उर मे, लिपट गयी निज प्रियतम पा,
निज अस्तित्व मिला उसमें ही वह असीम में गयी समा।
उसने तो प्रणयी निज पाया, मैंने पाकर भी खोया,
निद्रा में थी अङ्क लगाये, जगी, भाग्य मेरा सोया।
प्रिय के सरस गूढ़ चुम्बन से भरे, तप्त हैं अधर मधुर,
मचल रहा उसास ले लेकर गाढ़ालिंगन से मन उर।
सचमुच ही क्या वे आये थे ? बाहों में है मीठी पीर,
धुँधली-सी सुध है सपने की, मन मत बहक, तनिक धर धीर।

शैल-बाला

हरियाली से भरी हुई है घाटी की गहराई,
जिसमे खग कूजन की धारा फिरती है लहराई।
शिलाखण्ड में मूर्ति बनाती, धार वारि छेनी से,
मग में रुक कुछ कह लेती है, भोली मृगनयनी से।
गिरती पड़ती चक्कर खाती, नाच भँवर में, गाती,
सुमन-राशि अंचल में भरती, मदमाती, इठलाती।
कानन श्री-छवि, सलिल सूत्र में, चुन चुन, विहँस पिरोती,
परिरम्भन कर चुम्बन देती न्योछावर हँस होती।

गूँथ गूँथ, सरि ने शृंगों को वनमाला पहनाई,
सुर वधुएँ देखा करती हैं यह शोभा ललचाई।
लिपटे हैं आकाश अङ्क में शृंग श्रेणियों के शिशुगण,
मचल मचल, उन्नत पयं घरों में, लुक-छिप, कर ताप शमन,
सन्ध्या से, रवि कंदुक क्रीड़ा में, जो, छीन छिपाते हैं,
चमक चमक कर, रँग में भर भर, अद्भुत रूप दिखाते हैं।

मेहर का शैशव

इन घासों के मैदानों में, इन हरे-भरे मखनूलों पर,
इन गिरि-शिखरों के अंकों में, इन सरिताओं के कूलों पर।
जो रहा चाटता आस रात भर प्यासा ही था घूम रहा,
वह मारुत पुष्पों का प्याला खाली कर कर है झूम रहा।
पर्वत के चरणों में लिपटी वह हरी भरी जो घाटी है,
जिसमें झरने की झर झर है, फूलों ही से जो पाटी है।
उसके तट से सुरम्य भू पर, झाड़ी के झिलमिल घूँघट में,
है नई कली इक झाँक रही लिपटी घासों ही के पट में।
कैसी प्यारी वह कलिका ?—नवजात बालिका सोई है,
वह पड़ी अकेली देख रही है पास न उसके कोई है।
हैं खेल रही उससे आकर क्वाँरी क्वाँरी हिम बालाएँ,
हो गईं निछावर इस छवि पर नभ की सब तारक मालायें।
यह नव मयंक है उगा हुआ चारों दिशि छिटके तारे हैं,
ऊषा ने किये निछावर ये मोती जो प्यारे प्यारे हैं।
स्वर लहरी तो है खेल रही परदे में जननी वीणा है,
इस भू-मण्डल की मुँदरी का यह कन्या सुघर नगीना है।
मृदु कलियाँ चुटकी बजा बजाकर बच्चे को बहलाती हैं,
कोमल प्रभात किरणें हिमकण में नहा नहा नहलाती हैं।
यह भावी के रहस्यमय अभिनय की पहली ही झाँकी है,
यह सुभग चित्र किसने खींचा ? क्या मूर्ति गढ़ी यह बाँकी है।

सुरभित पुष्पों की रज औ लेकर मोती का पानी,
हिम बालाओं के कर से जो गई प्रेम से सानी।
पृथिवी की चाक चलाकर दिनकर ने है मूर्ति बनाई,
छवि फिर वसंत की लेकर उसमें डाली है सुघराई।
चरखे नक्षत्रों के चल थे सूत कातते जाते,
जिनको लपेट रवि, कर से, थे ताना था फैलाते।
सुन्दर विहंग आ जाकर जिसमें बुनते थे बाना,
फिर सान्ध्य जलद भर जाता तितली का रंग सुराना।
ऐसे अनुपम पट में थी शोभित वह विश्व निकाई,
जिसकी छवि निरख निरख कर मोहित थी विधि निपुणाई।

बल्देवप्रसाद मिश्र

जीवन का मर्म

उधर, कर जनक-राज से भेंट,
फिरे जब निज कुटिया को राम।
भरत ने पथ में पा एकान्त,
छेड़ दी अपनी बात ललाम।

प्रणति पूर्वक पूछा, ज्यों शिष्य,
"प्रभो, क्या है जीवन का मर्म,
इधर है हृदय उधर मस्तिष्क,
इधर है प्रेम उधर है कर्म।"

एक पल हुए मौन श्रीराम,
निहारे मन के सारे भाव।
भरत का कर पकड़ा सस्नेह,
कंठ से उँमगा उर का चाव।

निकट थी घने वृक्ष की छाँह,
जहाँ थी पड़ी शिला अभिराम।
उसी पर होकर सुख-आसीन,
लगे कहने यों तत्व ललाम।

"गहन तम में चेतन का स्फोट,
शून्य में खिला रुचिर संसार।
निमित्तों ने देखा दिक्काल;
गगन में झूले तारक-हार।

तारकों में वसुन्धरा भरी,
भरे सागर वन पर्वत पुंज।
मनुज के बिना किन्तु, बस, रही,
निपट सूनी - सी वसुधा-कुंज।

सागरों मे थे मत्स्य विचित्र,
वनों में थे खग मृग अभिराम।
व्योम के लोको में थे देव,
न जिनको जरा-मृत्यु से काम।
किन्तु जब नर ने किया प्रवेश,
बाल-वपु मे विभ-तत्व समेट—
हो गई अखिल चराचर सृष्टि,
एक उसके चरणों पर भेंट।
देखने ही को वह संकीर्ण,
विपुल है उसके 'स्व' का प्रसार।
देह तक मृत्यु, जीव तक बन्ध,
असीमित आत्मा का अधिकार।
वही दासोहं सोहं वही,
वही है असह एक ओंकार।
उसीके देव बन गये दास,
उसीके हेतु सृष्टि-व्यापार।
वही शासित है बनकर व्यक्ति,
वही शासक है बनकर राष्ट्र।
उसी में है अन्तर - राष्ट्रीय,
बन्धनों से छन छन कर राष्ट्र।
सभी रंगों में एक असंग,
कहाँ गोरे काले का भेद।
वही शिव - सुन्दर - सत्य महान,
उसीकी महिमा में रत वेद।
अमिट उसका अस्तित्व विशाल,
काल क्या कभी हो सका वक्र?
खड़ा वह 'यथा पूर्व' है यहाँ,
लाँघ कर सृष्टि प्रलय के चक्र।

भले ही कुछ देहें मिट जायँ,
भले ही कुछ बुदबुद हों लीन।
किन्तु है अचल अटल सब भाँति,
मनुज-रत्नाकर अघट अदीन।

व्याकरण अक्षर का जब हुआ,
धूल पर छाया उसका स्नेह—
हुआ तब उसका ही प्रतिबिम्ब,
एक जीवन ले मनुज सदेह।

मनुज के जीवन का है मर्म,
मनुजता ही का हो उत्थान।
मनुजता में समृद्ध अमरत्व,
मनुजता में अग जग की तान।

मनुजता की यह देख समृद्धि,
सुरों के सहमे शासन-तंत्र।
मनुज की देहों से मिल किया,
मनुजता के विरुद्ध षड्यन्त्र।

सहायक ही होना था जिसे,
दिखाने लगी वही स्वामित्व—
अनश्वर ही अपने को मान,
उठा नर का नश्वर व्यक्तित्व।

दब गया प्रेम, दबा सत्कर्म,
रह गई काम क्रोध की बात।
ध्येय हो उठे विहाराहार,
उभय के मूल द्रव्य—संघात।

द्रव्य-संघात ! द्रव्य-संघात !!
छा गया सिक्कों का वह जाल—
कौडियों पर ही लुटने लगे,
करोड़ों मनुजों के कंकाल।

कई निर्धन कुटियाँ कर चूर,
धनी का उठा एक प्रासाद।
अनेकों को दे दृढ़ दासत्व,
एक ने पाया प्रभुता-स्वाद।
विपुल गृह या कि गृहिणियाँ छीन,
किसीने साधी अपनी सिद्धि।
किसी ने भरकर ईर्ष्या द्वेष,
बन्धुओं की की दग्ध समृद्धि।

संघ की शक्ति बन गई आप,
व्यक्ति की शक्ति गई जब हार।
बढ़े राष्ट्रों के भीषण संघ,
बढ़ाने को यह अत्याचार।
व्यक्ति या राष्ट्र कि जिनमें रहा,
द्वेष मूलक ही कार्य-कलाप—
उन्हींको पाकर फूला फला,
मनुजता-मारक मोहक पाप।

कहीं ब्राह्मण क्षत्रिय में वैर,
कहीं क्षत्रिय क्षत्रिय संग्राम।
कहीं है आर्य अनार्य विरोध,
लुट गये मानवता के धाम।
कभी जो पुण्य-श्लोक महान,
विदित था जग में आर्यावर्त्त।
आज बर्बरता से आक्रान्त,
गिरा वह ही दुःखों के गर्त।

तुम्हें क्या विदित नहीं लंकेश,
कि जिसने भर सुवर्ण भरपूर—
न भर पाया है अपना लोभ,
न कर पाई है तृष्णा दूर।

दक्षिणापथ के 'वा-नर' किये
संघि-सी रचकर नर से भिन्न।
तपवनों को कर पीड़ित पूर्ण,
आर्य-संस्कृति कर दी विच्छिन्न।
उसे चाहिए विपुल साम्राज्य,
उसे चाहिये अनेकों दास।
उसे चाहिये राक्षसी वृद्धि,
वृद्धि के हेतु विश्व-आवास।
वृद्धि के तारतम्य का किन्तु,
कहाँ जाकर होगा अवसान।
प्रयत्नों की उमंग में आज,
कहाँ है उसको इसका ध्यान।
मनुजता रही कराह कराह,
आह! है कौन पूछता हाल।
राक्षसी चक्की में पिस रहे,
मनुजता के जर्जर कंकाल।
यही आदेश कि 'पशु से रहो,
रहे पर गड़ी दासता-गाँस।
सहो, पर, देखो, बहें न आँस,
जियो, पर, चले न लम्बी साँस।
किये जिन देवों ने षड्यन्त्र,
उन्हीं पर अब उसका अधिकार।
बना विज्ञान देह का दास,
कौन फिर नर से पावे पार।
इन्द्र हैं थके, वरुण हैं थके,
थकी है यम-कुबेर की शक्ति।
हटा सकता है वह आतंक,
मनुज के बिना कौन अब व्यक्ति॥

अकेला रावण क्यों इस काल,
अनेकों खर दूषण के वृन्द,
कुचलते चलते बन मातंग,
मनुजता के कोमल अरविन्द।

अनेकों देख रहे ऋषिवृन्द,
न कोई चलता किन्तु उपाय।
महा भीषण यह अत्याचार,
मनुज मनुजों ही को खा जाय।

मनुज में शक्ति, मनुज में भक्ति,
जनार्दन का जन है अवतार।
वही जन यदि ले मन में ठान,
'ध्वस्त हो जाये अत्याचार।

फूंक देती है दुर्गम दुर्ग,
दग्ध उर से जो उठती आह।
करोड़ों वज्रों - सी दुर्दम्य,
मनुजता की वह अन्तर्दाह।

मनुज जीवन का यह ही मर्म,
आह की गहराई ले जान।
मनुजता की रक्षा के हेतु,
निछावर कर दे अपने प्राण।

जगायेगा जन जन मे भरी,
मनुजता को जो मनुज महान।
विश्व-रक्षा हित उसमें शक्ति,
भरेंगे विश्वम्भर भगवान।

जगत् रक्षा के व्रत में सदा
रहा है सूर्यवंश विख्यात।
निभाता गया अभी तक यहाँ,
एक ही वीर एक यह बात।

विधाता की इच्छा से आज,
बन्धु ! हम एक नहीं, हैं चार।
दिशाएँ चारों होंगी सुखी,
संभालें यदि कन्धों पर भार।

यहाँ तुम शक्ति संगठित करो
कि जिससे विकसे आर्यावर्त्त।
यहाँ मैं उत्तर-अभिमुख करूँ,
वनों में रह दक्षिण-आवर्त्त।

उभय दिश, एकादश की भाँति,
एक भाई का है ही सङ्ग।
हो उठें उत्तर दक्षिण एक,
तुम्हारा भरत बने अभंग।

बृहत्तर आर्यावर्त्त ललाम,
भरत का भारत हो विख्यात।
समन्वित संस्कृति इसकी करे,
विश्व भर को उज्ज्वल अवदात।

पूज्य हो इसकी कण-कण भूमि,
बढ़े यों महिमा अमिट अपार।
रहें इच्छुक निर्जर भी सदा,
यहाँ पर लेने को अवतार।

———

भरत का निर्णय

धैर्य धरा कर बाहर आये,
देखी भरी सभा मुनियों की।
अवध और मिथिला सचिवों की,
नीति-दर्शियों की, गुणियों की।

बैठ गये श्रीराम विनत हो ;
पल भर को सन्नाटा छाया।
चला विचार कि करे सभा में—
कौन कहाँ से अथ मनभाया।
बोल उठे जावालि मुनीश्वर,
"मैंने जो सोचा समझा है।
और जगत के अथ का इति का,
मुझको जो कुछ मिला पता है।
उसके बल पर कह सकता हूँ,
राम! न आई लक्ष्मी टालो।
नर प्रभुता से प्रभु होता है,
प्रभुता यदि मिल रही, सँभालो।
इस प्रभुता के हेतु, न जाने
कहाँ कहाँ है छिड़ी लड़ाई।
इस प्रभुता के हेतु भिड़ पड़ा,
इस जग मे भाई से भाई।
किन्तु वही प्रभुता लौटाने,
आज एक भाई जब आया।
बड़ी भूल होगी यदि तुमने,
उसे न सुख से गले लगाया।
दुनियाँ में जब सब नश्वर है,
'यथापूर्व' जब बन्धन-माला—
किसकी है अत्यन्त-मुक्ति फिर,
किसके यश का अमिट उजाला!
बँधा न जो आदर्शवाद से,
परलोकों का ध्यान न लाता—
हाय, हाय से मुक्त सदा जो,
मुक्त वही जीवन कहलाता।

ग्रन्थों के बहु पंथ फँसाते,
मनुज-बुद्धि कोरी उलझन में।
जीवन का रस कहीं मिला है,
उन सूखे रेतों के कन में!

मरे सभी परलोक-विचारक,
मरे सभी सच्चित्-अवतारी।
जिया वही, जिसने इस जग में,
मस्ती से निज आयु सँवारी!

दो दिन का तो यह जीवन है,
वह भी तप ही करते बीते?
तप वे बेचारे करते हैं—
जिनको भोगों के न सुभीते।

यौवन की ये नयी उमंगे,
दुनियाँ से उफ्! दूर न भागो।
ईश्वरता के सुख तो भोगो,
इस नन्दन में कुछ तो जागो।

औरों को न सता कर भी है,
निभ सकती मनमानी भू पर।
बस सकते हैं इन्द्रिय-सुख भी—
टिक कर सदा न्याय के ऊपर।

न्याय्य राज्य का भोग तुम्हारा,
पास तुम्हारे जब यों आया।
कौन तुम्हें तब सुज्ञ कहेगा,
यदि तुमने उसको ठुकराया।

प्रकृति, पुरुष के लिए भोग्य बन,
नित्य नयी छवि है दिखलाती।
शब्द, स्पर्श, रूप, रस, सौरभ
के पंचामृत - पात्र सजाती।

सबको मिले सुधा-सुख मंजुल,
राजा वह सुविधा लाता है।
इसीलिये भोगों का भाजन,
जग का इन्द्र कहा जाता है।

सुख - सुविधा - साधन देती है,
एक गाँव की भी ठकुराई।
तुमने तो उत्तर - कोसल की,
अनुपम चक्रवर्तिता पाई।

ऐसे महाराज होकर भी,
यदि तुम हो यों वल्कलधारी।
और न कुछ कह यही कहूँगा—
आह! गई है मति ही मारी।

गई पिता के साथ वरों की,
कथा, अम्ब की बातें मानो।
धर्म-तत्व कहता है, सुख ही,
एक ध्येय जीवन का जानो।

यदि इच्छा ही है कि वनों में,
निज को काँटों से उलझा लो।
कहाँ तुम्हें अधिकार कि तुम,
वैदेही को भी दुख में डालो।"

लौकिक पक्ष प्रकट करने में,
थे जाबालि प्रसिद्ध धरा पर।
आस्तिक कहे कि नास्तिक कोई,
उन्हें न थी चिन्ता रत्ती भर।

पर वैदेही की चर्चा का,
उनने जो था तीर चलाया।
उसने स्मृति-कर्ता मुनिवर को,
तत्व-कथन-हित विवश बनाया।

कहा अत्रि ने अतः कि · "अपना,
सुख दुख वैदेही ही जानें।
हमें चाहिये हम तो केवल,
नीति तत्व की बात बखानें।
क्योंकि नीति पर सपद् ही क्यों,
निश्चित टिका समग्र जगत् है।
और जगत जीवन दोनों का,
अंतिम ध्येय अखंडित सत् है।

राम! विदित है मुझे कि तुमको,
वन-विहरण कितना भाता है।
राम! विदित है मुझे कि तुमसे,
स्थल यह कितना सुख पाता है।
तुमने ऐसी ज्योति जगा दी,
वन्यों के गाँवों गाँवों में।
एक अहिंसक क्रान्ति आप ही,
जाग उठी सबके भावों मे।
शौर्य, शील, सौन्दर्य तुम्हारे,
बरबस सबके मन हरते हैं।
नर-वानर के हृदय मिला कर,
भारत का एका करते हैं।
तुममें बद्ध हुई आ आकर,
ऋषियों की वाणी कल्याणी।
हुए अनार्य्य आर्य्य-सम्मानित,
तरी पतित नारी पाषाणी।

राम! विदित है मुझे सभी वह,
किधर तुम्हारी रुचि जाती है।
किससे हृदय सुखी होता है,
किस पर चित्त वृत्ति छाती है।

किन्तु चाहता हूँ मैं, कोई
कह न सके यह कहने वाला।
तुमने तन या मन के सुख को,
कर्तव्यों का पथ दे डाला।

नृप इस जग में सर्वोपरि है,
पर विधान से बँधा हुआ वह।
स्मृतिकारों के नियमों पर ही,
भली भाँति है सधा हुआ वह।

उसे नहीं अधिकार कि पैतृक
राज्य जिसे चाहा दे डाला।
उसे नहीं अधिकार, किसीको
जब चाहे दे देश-निकाला।

दशरथ नृप ने अनधिकार-मय
वह अधिकार कहाँ दिखलाया!
रानी ने था एक यंत्र से,
बिना विचारे 'हाँ' कहलाया।

बिखर गया वह यंत्र बिचारा,
अपनी ही 'हाँ' के उस स्वर में।
और भर गया 'ना' की गरिमा,
रानी के भी उर अन्तर में।

उस 'हाँ' की कीमत ही कितनी,
उसे न अब तुम और सँभालो।
उसके लिये राज्य - शासन में,
परम्परा की रूढ़ि न टालो।

जब कि मनाने आया तुमको
बन्धु भरत, कुल का उजियारा।
अवध-राज्य-कल्याण विचारो;
कहता है कर्त्तव्य तुम्हारा।

शासन दंड हाथ में लेकर,
भारत एक बना सकते तुम।
है इतना सामर्थ्य कि जग में
आर्य्य-सभ्यता छा सकते तुम।
फिर क्यों चौदह वर्षों तक तुम,
वन वन भटको बने उदासी।
तुम पालो कर्तव्य, सुखी हों
तुमको पाकर अवध-निवासी।"
अवध-निवासी सुख के इच्छुक,
केवल उत्सुक ही रह पाये।
लखा उन्होंने, रामचन्द्र थे
प्रणत भाव से नयन झुकाये।
किन्तु प्रणत के साथ-साथ ही,
स्वीकृति भी थी या कि नहीं थी।
इसकी किसी प्रकार सूचना,
उस आनन पर नहीं कहीं थी।
गुरुवर ने देखा विदेह को,
बोले तब मिथिला के स्वामी।
"नई बात कोई न कहेगा,
मुनि-मंडल का यह अनुगामी।
प्रथम मुनीश्वर ने समझाई,
सुख के पथ की दुनियादारी।
अपर महामुनि ने सत्पथ की
स्मार्तप्रथा उपयुक्त विचारी।
चित् को अंतिम लक्ष्य मान कर,
मैं भी उसी बात पर आया।
राम! करो वह काम, रहे आदर्श,
रहे पर, लोक - सुहाया।

भला किया जो वचन मान कर,
तुमने तब गृह-कलह बचाई।
राज बचा लो वचन मान कर
आज, खड़ा है सन्मुख भाई।
यही बड़ा आश्चर्य कि अब तक,
क्यों न अवध पर अरिगण टूटे।
यह न किसीको कांक्ष्य, विदेशी
आकर अपनी लक्ष्मी लूटे।
आर्यावर्त्त - अधीश्वर भटके
वन वन, तापस वेश उदासी।
अखिल प्रजा में क्या अनार्य, फिर,
होगा शुचि आर्यत्व - विकासी?
पिता सदा सम्मान्य पुत्र का,
अटल जनक-आदेश बड़ा है।
किन्तु पिता से भी बढ़ कर, उस
जगत्-पिता का देश बड़ा है।
सीमा से सद्वृत्त बढ़े जो,
दुर्वृत्तों-सा त्याज्य हुआ वह।
किन वचनों पर मन अटकाना,
जब कि अराजक राज्य हुआ यह।
ब्राह्मण राज्य तपोवन में है,
क्षत्रिय राज्य पुरों में सीमित।
वैश्य राज्य लंका में सुनते,
शूद्र राज्य गाँवों में निर्मित।
चारों की अपनी महिमा है,
राज्य न हो, पर, राज्य-विहर्ता।
मुझे जान पड़ता है, तुम हो
चातुर्वर्ण्य — समन्वय — कर्त्ता।

सत्य महा महिमा-शाली है,
तात-प्रतिज्ञा पूर्ण निभाओ।
पर शासन की सिद्ध शक्ति भी,
मत अपनी यों व्यर्थ बनाओ।
दण्डक के ही किसी गाँव में,
अवध-राजधानी बस जावे।
चौदह वर्षों तक इस ही विधि
देश निदेश तुम्हारे पावे।
राज्य व्यक्ति का या कि वर्ग का,
राज्य प्रजा का या राजा का।
चर्चा ही है व्यर्थ, क्योंकि वह
है त्रिभुवन के अधिराजा का।
जितना जिसको न्यास मिला है,
उचित है कि वह उसे सँभाले।
और अन्त में उज्ज्वल मुख से,
जिसकी वस्तु उसे दे डाले।
घर मे, वन में, या कि राज्य मे,
बँध कर रह जाना न भला है।
सत्य सरीखे नियमों में भी,
फँस कर रह जाना न भला है।
त्याग - भावना - भरे हुए हों
लोक-संग्रही धर्म हमारे।
जीवन कर्मशील हो, पर हों—
ब्रह्मार्पण ही कर्म हमारे।
सुलझे चित्रकूट-कुटिया पर,
एक न घर की आज समस्या।
सुलझे घर के साथ-साथ ही
भारत भर की आज समस्या।

सिद्धि वरण करती है उनको—
स्वतः विवेक और विनयों की।
जो चलते हैं इस दुनिया में,
बात जान कर चार जनों की।"

सन्नाटा छा गया सभा में,
मृदु स्वर से तब रघुवर बोले।
"मैं हूँ धन्य कि पूज्य पधारे,
नीति धर्म जिनने सब तोले।

जैसा हो आदेश सबों का,
सुख से शीश चढ़ाऊँगा मैं।
उधर पिता हैं, इधर आप हैं,
दुःख कहाँ फिर पाऊँगा मैं।"

सन्नाटा फिर हुआ सभा में,
उधर राम थे, इधर भरत थे।
और बीच में भरे अनेकों
प्रेम और नियमों के व्रत थे।

असमंजस में विज्ञ पड़े सब,
कौन 'एक आदेश' सुनायें—
जिससे शील उभय पक्षों के
और न्याय-निर्णय निभ जायें।

गुरु वशिष्ठ ने भाव टटोले,
और सुनाया सबका निर्णय।
"धन्य तुम्हें है राम! हमारे
हित तुमने त्यागा निज निश्चय।

पर हम केवल यही चाहते,
पूरी करो भरत - अभिलाषा।
उनकी ही अन्तर्भाषा में,
निहित हमारी सबकी भाषा।"

भरत जिधर थे उधर सबों की
उत्सुक आँखें बरबस धाईं।
दौड़े इतने भाव, न सकीं
सँभाल, भरत आँखें भर आईं।
चढ़ा दृगों में ज्वार, और
मुख के रंगों पर भाटा छाया।
लहरों ने टकरा टकरा कर,
उर-सागर में तुमुल मचाया।
'विषम कलंक मिटाने का हठ,
और विविध शंकाएँ सबकी।
प्रभु को फिर लौटा लाने की,
खरतर आकांक्षाएँ कब की।
एक ओर साकेत-स्वार्थ है,
स्वार्थ भरत का जिसमें पूरा।
और दूसरी ओर कार्य है
प्रभु का, जो अब भी कि अधूरा॥
इधर अड़ा कर्तव्य अटल-सा,
उधर प्रेम की आँखें तर हैं।
सेवक-धर्म और प्रभु-इच्छा,
समझ सके क्या नागर नर हैं!
प्रभु का हो सान्निध्य सदा ही,
इससे बढ़ सुखकोष कहाँ है।
इस सुखकोष-याचना में, पर,
प्रभु का ही सन्तोष कहाँ है॥
कल की वह गुरुतर प्रभु वाणी,
आज त्रिरत्नों की चर्चा यह।
प्रभु इच्छा ही सेवक-कृति हो,
मानी हुई भक्ति-अर्चा यह।

भरद्वाज संकेत मार्ग का,
गाँवों की शासन-शैली वह।
एक - समन्वित - राष्ट्र - अभिमुखी,
धन्य जाति भू पर फैली वह।'

चलचित्रों - सी क्रमशः आईं,
और गईं ऐसी बहु बातें।
आखिर हठ की सब चालों ने,
खाईं पूरी पूरी मातें।

प्रेम, विनय, नय-निष्ठा ने मिल,
दिया सहारा उन्हें उठाया।
शांत हुईं अंतर की लहरें,
शब्द-स्रोत बढ़ बाहर आया।

हगों हगों सबको प्रणाम कर,
नीचे ही हग अपने डाले।
स्नेह-सिंधु को उर में रोके,
और कण्ठ पर गिरा सँभाले,

पल-पल में रोमांच आर्द्र कर,
शब्द शब्द में भर स्वर कातर।
बोले भरत, समुत्थित होकर,
कर्तव्यों की असिधारा पर।

"गुरुजन के रहते मैं बोलूँ!
आह! दुसह यह भार उठाऊँ!
निज अभिलाषाओं का अपने
हाथों ही संहार रचाऊँ!

किन्तु हुआ आदेश, विवश हूँ,
उर पर सौ-सौ वज्र सहूँगा।
जिसे न सपने में चाहा था,
इस मुख से वह बात कहूँगा।

मुझ अनुचर की अभिलाषा क्या,
प्रभु - इच्छा अभिलाषा मेरी।
प्रभु को जो सङ्कोच दिलावे,
कभी न हो वह भाषा मेरी।
जान चुका हूँ प्रभु की इच्छा,
पथ विपरीत गहूँ मैं कैसे।
रोम-रोम जिसको कहता था,
अब वह बात कहूँ मैं कैसे।
अवध और मिथिला के वासी,
सकल परिस्थिति देख रहे हैं।
प्रभु का विश्वरूप, वर्न्यो की
जागृति मे वे लेख रहे हैं।
मुनियों ने, मिथिलेश्वर ने जो,
निर्णय का संकेत बताया।
मानूँगा मैं धन्य स्वतः को,
उतना भी यदि प्रभु को भाया।
सानुकूल स्वामी हैं सन्मुख,
और कलङ्क धुला है सारा।
किन्तु कठोर धर्म सेवक का,
जिससे स्वार्थ सभी विघ हारा।
उनकी इच्छा है कि अवध में,
मैं विरहातुर दिवस बिताऊँ।
तब मैं कैसे कहूँ, चलें, वे,
अवध, कि मैं ही वन को जाऊँ?
शशि ने जल में लहर उठाकर,
खींचा, सागर में बिखराया।
प्रभु ने भाव दास के उर का
खींचा, जग भर में बिखराया।

पर अब उन बिखरे भावों में,
शशि ही निज शीतलता छाये।
उर तो उर-प्रेरक का चेरा,
वह दुख दे या सुख पहुँचाये।
आया था अपनी इच्छा से,
जाऊँगा प्रभु - इच्छा लेकर।
मैंने क्या क्या आज न पाया,
इस वन में अपनापन देकर।
राज्य उन्हींका यहाँ वहाँ भी,
मैं तो केवल आज्ञाकारी।
चौदह वर्ष धरोहर सँभले,
बल-संबल पाऊँ दुखहारी।
चरण-पीठ करुणा-निधान के,
रहें सदा आँखों के आगे।
मैं समझूँगा प्रभु-पद-पंकज
ही हैं सिंहासन पर जागे।
उनसे जो प्रेरणा मिलेगी,
तदनुकूल सब कार्य करूँगा।
उन्हें अवधि-आधार जानकर,
उन पर नित्य निछावर हूँगा।
आशीर्वाद मिले वह जिससे,
प्रभु में जीवन-स्रोत मिला लूँ।
उनके लिए उन्हींकी चीजें,
या उनका आदेश, सँभालूँ।
फूले फले जगत् यह उनका,
इसीलिए, बस, प्यार करूँ मैं।
और अवधि ज्यों ही पूरी हो,
सारा भार उतार धरूँ मैं।"

बढ़े राम झट गद्गद होकर,
लिपटा लिया दीर्घ बाहों में।
मौन भरत भावों से झुककर,
बिखर पड़े अपनी आहों में।
उन पीठों पर सुर-सुमनों से,
बरसे स्नेह - सुधामय मोती।
जिनकी ज्योति न जाने कब तक,
रही सबों के हृदय भिंगोती।

ऊर्मिला का सागर

दूर ऊर्मिला का सागर था,
देह महल में रुद्ध हुई थी, पर न निरुद्ध विरह-निर्झर था।
भरीं दृगों ने जल-धाराएँ, शब्द शब्द करुणा-कातर था,
किन्तु माण्डवी को तो आहों का भरना भी वर्जिततर था।
सम्मुख है राकेश, चकोरी पर न उधर निज नयन उठाये,
विकसी प्रभा प्रभाकर की है, पर न कमलिनी मोद मनाये।
था वसन्त आँखों के आगे, पर कीलित ही पिक का स्वर था,
अहह! मांडवी को तो आहों का भरना भी वर्जिततर था।
जो है दूर उसीकी आशा रखकर मन समझाया जाये,
समझ सराहूँ मैं उस मन की, पास रहे पर पास न आये।
सलिल-विरह की बात न जिसमें, स्वतः प्यास उठना दुर्भर था,
अहह! मांडवी को तो आहों का भरना भी वर्जिततर था।

———

सुभद्राकुमारी चौहान

झाँसी की रानी की समाधि

इस समाधि में छिपी हुई है,
एक राख की ढेरी।
जल कर जिसने स्वतन्त्रता की,
दिव्य आरती फेरी॥

यह समाधि, यह लघु समाधि है,
झाँसी की रानी की।
अन्तिम लीलास्थली यही है,
लक्ष्मी मरदानी की॥

यहीं कहीं पर बिखर गई वह,
भग्न विजय - माला - सी।
उसके फूल यहाँ सञ्चित हैं,
है यह स्मृति - शाला - सी॥

सहे वार पर वार अन्त तक,
लड़ी वीर बाला - सी।
आहुति-सी गिर चढ़ी चिता पर,
चमक उठी ज्वाला - सी॥

बढ़ जाता है मान वीर का,
रण में बलि होने से।
मूल्यवती होती सोने की,
भस्म यथा सोने से॥

रानी से भी अधिक हमें अब,
यह समाधि है प्यारी।
यहाँ निहित है स्वतन्त्रता की,
आशा की चिनगारी॥

इससे भी सुन्दर समाधियाँ,
हम जग में हैं पाते।
उनकी गाथा पर निशीथ में,
क्षुद्र जन्तु ही गाते॥

पर कवियों की अमर गिरा में,
इसकी अमिट कहानी।
स्नेह और श्रद्धा से गाती,
है वीरों की वानी॥

बुन्देले हरबोलों के मुख,
हमनें सुनी कहानी।
खूब लड़ी मरदानी वह थी,
झाँसी वाली रानी॥

यह समाधि, यह चिर समाधि है,
झाँसी की रानी की।
अन्तिम लीलास्थली यही है,
लक्ष्मी मरदानी की॥

झाँसी की रानी

सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी,
बूढ़े भारत में भी आयी फिर से नयी जवानी थी,
गुमी हुई आजादी की कीमत सबने पहचानी थी,
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी,
चमक उठी सन सत्तावन में,
वह तलवार पुरानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुहँ
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

कानपूर के नाना की, मुहँबोली बहन 'छबीली' थी,
लक्ष्मीबाई नाम, पिता की वह सन्तान अकेली थी,
नाना के सँग पढ़ती थी वह, नाना के सँग खेली थी,
बरछी ढाल, कृपाण कटारी उसकी यही सहेली थी,
वीर शिवाजी की गाथायें
उसको याद जबानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुहँ
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

लक्ष्मी थी या दुर्गा थी वह स्वयम् वीरता की अवतार,
देख मराठे पुलकित होते उसकी तलवारों के वार,
नकली युद्ध-व्यूह की रचना और खेलना खूब शिकार,
सैन्य घेरना, दुर्ग तोड़ना ये थे उसके प्रिय खिलवार,
महाराष्ट्रकुल-देवी उसकी
भी आराध्य भवानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुहँ
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

हुई वीरता की वैभव के साथ सगाई झाँसी में,
ब्याह हुआ रानी बन आयी लक्ष्मीबाई झाँसी में,
राज महल में बजी बधाई खुशियाँ छायीं झाँसी में,
सुभट बुन्देलों की विरुदावलि-सी वह आई झाँसी में,

चित्रा ने अर्जुन को पाया,
शिव से मिली भवानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुहँ
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

उदित हुआ सौभाग्य, मुदित महलों में उजियाली छायी,
किन्तु काल-गति चुपके चुपके काली घटा घेर लायी,
तीर चलाने वाले कर में उसे चूड़ियाँ कब भायीं!
रानी विधवा हुई, हाय! विधि को भी नहीं दया आयी,
निःसन्तान मरे राजा जी
रानी शोक-समानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुहँ
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

बुझा दीप झाँसी का तब डलहौजी मन में हरषाया,
राज्य हड़प करने का उसने यह अच्छा अवसर पाया,
फौरन फौज भेज दुर्ग पर अपना झंडा फहराया,
लावारिस का वारिस बनकर ब्रिटिश राज्य झाँसी आया,
अश्रुपूर्ण रानी ने देखा
झाँसी हुई बिरानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुहँ
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

अनुनय विनय नहीं सुनती है, विकट शासकों की माया,
व्यापारी बन दया चाहता था जब यह भारत आया,
डलहौजी ने पैर पसारे अब तो पलट गई काया,
राजाओं नव्वाबों को भी उसने पैरों ठुकराया,
रानी दासी बनी, बनी यह
दासी अब महरानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुहँ
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

छिनी राजधानी देहली की, लखनऊ छीना बातों-बात,
कैद पेशवा था बिठूर में, हुआ नागपुर का भी घात,
उदैपुर, तंजोर, सतारा, कर्नाटक की कौन बिसात!
जब कि सिन्ध, पंजाब ब्रह्म पर अभी हुआ था वज्र-निपात,
बंगाले मद्रास आदि की
भी तो वही कहानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुहँ
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

रानी रोयीं रनिवासों में, बेगम गम से थीं बेजार,
उनके गहने कपड़े बिकते थें कलकत्ते के बाजार,
सरे-आम नीलाम छापते थे अँग्रेजों के अखबार,
'नागपूर के जेवर ले लो' 'लखनऊ के लो नौलख हार'

यों परदे की इज्जत परदेशी
के हाथ बिकानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुहँ
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

कुटियों में थी विषम वेदना, महलों में आहत अपमान,
वीर सैनिकी के मन में था अपने पुरखों का अभिमान,
नाना धुन्धू पन्त पेशवा जुटा रहा था सब सामान,
बहन छबीली ने रण-चंडी का कर दिया प्रकट आह्वान।
हुआ यज्ञ प्रारम्भ उन्हें तो
सोयी ज्योति जगानी थी।
बुन्देलो हरबोलों के मुहँ
हमने सुनी कहानो थी—
खूब लडी मर्दानो वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

महलों ने दी आग, झोपड़ी ने ज्वाला सुलगाई थी,
यह स्वतन्त्रता की चिनगारी अन्तरतम से आयी थी।
झाँसी चेती, दिल्ली चेती, लखनऊ लपटें छायी थी,
मेरठ, कानपूर, पटना ने भारी धूम मचायी थी,
जबलपूर कोल्हापुर में भी
कुछ हलचल उकसानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुहँ
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

इस स्वतन्त्रता महायज्ञ में कई वीरवर आये काम,
नाना, धुन्धूपन्त, ताँतिया, चतुर अजीमुल्ला सरनाम,
अहमदशाह मौलवी, ठाकुर कुँवरसिंह सैनिक अभिमान,
भारत के इतिहास गगन में अमर रहेंगे जिनके नाम,
लेकिन आज जुर्म कहलाती
उनकी जो कुरबानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुहँ
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

इनकी गाथा छोड़, चलें हम झाँसी के मैदानों में,
जहाँ खडी है लक्ष्मीबाई मर्द बनी मर्दानों में,
लेफ्टिनेंट वौकर आ पहुँचा, आगे बढ़ा जवानों में,
रानी ने तलवार खींच ली, हुआ द्वन्द्व असमानों में,
जख्मी होकर वौकर भागा,
उसे अजब हैरानी थी।
बुन्देले हरबोलों के मुहँ
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

रानी बढ़ी काल्पी आयी कर सौ मील निरन्तर पार,
घोड़ा थककर गिरा भूमि पर, गया स्वर्ग तत्काल सिधार,
यमुना तट पर अँग्रेजों ने फिर खायी रानी से हार,
विजयी रानी आगे चल दी, किया ग्वालियर पर अधिकार,

अँग्रेजों के मित्र सिन्धिया
ने छोड़ी रजधानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुहँ
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

विजय मिली, पर अँग्रेजों की फिर सेना घिर आयी थी,
अब के जनरल स्मिथ सम्मुख था, उसने मुहँ की खायी थी,
काना और मुन्दरा सखियाँ रानी के सँग आयी थी,
युद्ध क्षेत्र में उन दोनों ने भारी मार मचायी थी।
पर पीछे ह्यू रोज आ गया,
हाय! घिरी अब रानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुहँ
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

तो भी रानी मार-काट कर चलती बनी सैन्य के पार,
किन्तु सामने नाला आया, था यह संकट विषम अपार।
घोड़ा अड़ा, नया घोड़ा था, इतने में आ गये सवार,
रानी एक शत्रु बहुतेरे, होने लगे वार-पर-वार,
घायल होकर गिरी सिंहनी
उसे वीरगति पानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुहँ
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

रानी गयी सिधार, चिता अब उसकी दिव्य सवारी थी,
मिला तेज से तेज, तेज की वह सच्ची अधिकारी थी,
अभी उम्र कुल तेइस की थी, मनुज नहीं अवतारी थी,
हमको जीवित करने आई बन स्वतन्त्रता-नारी थी,
दिखा गई पथ, सिखा गयी
हमको जो सीख सिखानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुहँ
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

जाओ रानी! याद रखेंगे ये कृतज्ञ भारतवासी,
यह तेरा बलिदान जगावेगा स्वतन्त्रता अविनाशी,
होवे चुप इतिहास, लगे सच्चाई को चाहे फाँसी,
हो मदमाती विजय, मिटा दे गोलों से चाहे झाँसी,
तेरा स्मारक तू ही होगी,
तू खुद अमिट निशानी थी,
बुन्देले हरबोलों के मुहँ
हमने सुनी कहानी थी—
खूब लड़ी मर्दानी वह तो
झाँसी वाली रानी थी।

———

जलियाँवाला बाग में वसन्त

यहाँ कोकिला नहीं, काक हैं शोर मचाते,
काले-काले कीट, भ्रमर का भ्रम उपजाते।
कलियाँ भी अधखिली, मिली हैं कंटक कुल से,
वे पौधे, वे पुष्प शुष्क हैं अथवा झुलसे।

परिमल-हीन पराग दाग-सा बना पड़ा है,
हा! यह प्यारा बाग खून से सना पड़ा है।
आओ, प्रिय ऋतुराज! किन्तु धीरे से आना,
यह है शोक-स्थान यहाँ मत शोर मचाना।

वायु चले, पर मन्द चाल से उसे चलाना,
दुख की आहें सङ्ग उड़ाकर मत ले जाना।
कोकिल गावे, किन्तु राग रोने का गावे,
भ्रमर करे गुंजार, कष्ट की कथा सुनावे।

लाना सँग में पुष्प, न हों वे अधिक सजीले,
तो सुगन्ध भी मन्द, ओस से कुछ कुछ गीले।
किन्तु न तुम उपहार भाव आकर दरसाना,
स्मृति में पूजा-हेतु यहाँ थोड़े बिखराना।

कोमल बालक मरे यहाँ गोली खा-खाकर,
कलियाँ उनके लिए गिराना थोड़ी लाकर।
आशाओं से भरे हृदय भी छिन्न हुए हैं,
अपने प्रिय परिवार-देश से भिन्न हुए हैं।

कुछ कलियाँ अधखिली यहाँ इसलिए चढ़ाना,
करके उनकी याद अश्रु के ओस बहाना।
तड़प तड़प कर वृद्ध मरे हैं गोली खाकर,
शुष्क पुष्प कुछ वहाँ गिरा देना तुम जाकर।

यह सब करना, किन्तु बहुत धीरे से आना,
यह है शोक-स्थान, यहाँ मत शोर मचाना।

मेरा बचपन

बार बार आती है मुझको
मधुर याद बचपन तेरी,
गया, ले गया तू जीवन की
सबसे मस्त खुशी मेरी।

चिन्ता रहित खेलना-खाना
वह फिरना निर्भय स्वच्छन्द,
कैसे भूला जा सकता है
बचपन का अतुलित आनन्द।
ऊँच नीच का ज्ञान नहीं था
छुआछूत किसने जानी,
बनी हुई थी अहा! झोपड़ी
और चीथड़ों में रानी।
किये दूध के कुल्ले मैंने
चूस अँगूठा सुधा पिया,
किलकारी कल्लोल मचाकर
सूना घर आबाद किया।
रोना और मचल जाना भी
क्या आनन्द दिखाते थे,
बड़े बड़े मोती से आँसू
जयमाला पहनाते थे।
मैं रोयी, माँ काम छोड़कर
आयी, मुझको उठा लिया,
झाड़ पोंछ कर चूम चूम
गीले गालों को सुखा दिया।
दादा ने चन्दा दिखलाया,
नेत्र-नीर द्रुत दमक उठे,
धुली हुई मुसकान देख कर
सबके चेहरे चमक उठे।
वह सुख का साम्राज्य छोड़कर,
मैं मतवाली बड़ी हुई,
लुटी हुई, कुछ ठगी हुई-सी
दौड़ द्वार पर खड़ी हुई।

लाजभरी आँखें थीं मेरी
मन में उमँग रँगीली थी,
तान रसीली थी कानों में
चंचल छैल - छबीली थी।

दिल में एक चुभन-सी थी
यह दुनिया सब अलबेली थी,
मन में एक पहेली थी
मैं सबके बीच अकेली थी।

मिला, खोजती थी जिसको है
बचपन ! ठगा दिया तूने,
अरे ! जवानी के फन्दे में
मुझको फँसा दिया तूने।

सब गलियाँ उसकी भी देखीं
उसकी खुशियाँ न्यारी हैं,
प्यारी, प्रीतम की रँग-रलियों
की स्मृतियाँ भी प्यारी हैं।

माना मैंने युवा-काल का
जीवन खूब निराला है,
आकांक्षा, पुरुषार्थ, ज्ञान का
उदय मोहने वाला है।

किन्तु यहाँ झंझट है भारी
युद्ध - क्षेत्र संसार बना,
चिन्ता के चक्कर में पड़कर
जीवन भी है भार बना।

आ जा बचपन ! एक बार फिर
दे दे अपनी निर्मल शान्ति,
व्याकुल व्यथा मिटाने वाली
वह अपनी प्राकृत विश्रान्ति।

वह भोली-सी मधुर सरलता
वह प्यारा जीवन निष्पाप,
क्या फिर आकर मिटा सकेगा
तू मेरे मन का सन्ताप ?
मैं बचपन को बुला रही थी
बोल उठी बिटिया मेरी,
नन्दन वन-सी फूल उठी यह
छोटी-सी कुटिया मेरी।
'माँ ओ' कहकर बुला रही थी
मिट्टी खाकर आयी थी,
कुछ मुहँ में कुछ लिये हाथ में
मुझे खिलाने आयी थी।
पुलक रहे थे अङ्ग, दृगों में
कौतूहल था छलक रहा,
मुहँ पर थी आह्लाद-लालिमा
विजय-गर्व था झलक रहा।
मैंने पूछा "यह क्या लायी ?"
बोल उठी वह "माँ, काओ",
हुआ प्रफुल्लित हृदय खुशी से
मैंने कहा—"तुम्हीं खाओ।"
पाया मैंने बचपन फिर से
बचपन बेटी बन आया,
उसकी मंजुल मूर्ति देखकर
मुझमें नव जीवन आया।
मैं भी उसके साथ खेलती
खाती हूँ, तुतलाती हूँ।
मिलकर उसके साथ स्वयं मैं
भी बच्ची बन जाती हूँ।

जिसे खोजती थी बरसों से
अब जाकर उसको पाया,
भाग गया था मुझे छोड़कर
वह बचपन फिर से आया।

इसका रोना

तुम कहते हो मुझको इसका रोना नहीं सुहाता है,
मैं कहती हूँ इस रोने से अनुपम सुख छा जाता है।
सच कहती हूँ इस रोने की छवि को जरा निहारोगे।
बड़ी-बड़ी आँसू की बूँदों पर मुक्तावलि वारोगे।

ये नन्हें से ओंठ और यह लम्बी-सी सिसकी देखो,
यह छोटा-सा गला और यह गहरी-सी हिचकी देखो।
कैसी करुणा-जनक दृष्टि है! हृदय उमड़ कर आया है।
आत्मीयता के यह सोते भाव जगाकर लाया है।

हँसी बाहरी चहल-पहल को ही प्रायः दरसाती है,
पर रोने में अन्तरतम तक की हलचल मच जाती है।
जिससे सोई हुई आत्मा जागृत हो अकुलाती है।
छूटे हुए किसी साथी को अपने पास बुलाती है।

मैं सुनती हूँ कोई मेरा मुझको कहीं बुलाता है,
जिसकी करुणा-पूर्ण चीख से मेरा केवल नाता है।
मेरे ऊपर वह निर्भर है खाने, पीने, सोने में,
जीवन की प्रत्येक क्रिया में हँसने में ज्यों रोने में।

मैं हूँ उसकी प्रकृति-सङ्गिनी उसकी जन्म-प्रदाता हूँ,
वह मेरी प्यारी बिटिया है, मैं ही उसकी माता हूँ।
तुमको सुन कर चिढ़ आती है, मुझको होता है अभिमान,
जैसे भक्तों की पुकार सुन गर्वित होते हैं भगवान।

कदम्ब का पेड़

यह कदम्ब का पेड़ अगर माँ, होता यमुना तीरे
मैं भी उस पर बैठ कन्हैया बनता धीरे धीरे।
ले देतीं यदि मुझे बाँसुरी तुम दो पैसे वाली,
किसी तरह नीचे हो जाती यह कदम्ब की डाली।

तुम्हें नहीं कुछ कहता, पर मैं चुपके-चुपके आता,
उस नीची डाली से अम्मा, ऊँचे पर चढ़ जाता।
वहीं बैठ फिर बड़े मजे से मैं बाँसुरी बजाता,
'अम्मा-अम्मा' कह वंशी के स्वर मे तुम्हें बुलाता।

सुन मेरी वंशी को माँ, तुम इतनी खुश हो जातीं,
मुझे देखने काम छोड़कर तुम बाहर तक आतीं।
तुमको आता देख बाँसुरी रख मैं चुप हो जाता,
पत्तों में छिपकर मैं धीरे से फिर बाँसुरी बजाता।

तुम हो चकित देखतीं चारों ओर न मुझको पाती,
तब व्याकुल-सी हो कदम्ब के नीचे तक आ जाती।
पत्तों का मर्मर स्वर सुन जब ऊपर आँख उठातीं,
मुझको ऊपर चढ़ा देखकर कितनी घबरा जातीं।

गुस्सा होकर मुझे डाँटतीं, कहती नीचे आ जा,
पर जब मैं न उतरता हँसकर कहतीं—"मुन्ना राजा,
नीचे उतरो मेरे भैया! तुम्हें मिठाई दूँगी,
नये खिलौने माखन मिश्री दूध मलाई दूँगी।"

मैं हँसकर सबसे ऊपर की टहनी पर चढ़ जाता,
एक बार "माँ" कह पत्तों में वहीं कहीं छिप जाता।
बहुत बुलाने पर भी माँ, जब मैं न उतर कर आता,
तब माँ, माँ का हृदय तुम्हारा बहुत विकल हो जाता।

तुम अञ्चल पसार कर अम्माँ, वहीं पेड़ के नीचे,
ईश्वर से कुछ विनती करतीं बैठी आँखें मीचे।

तुम्हें ध्यान में लगी देख मैं धीरे-धीरे आता,
और तुम्हारे फैले अञ्चल के नीचे छिप जाता।

तुम घबराकर आँख खोलतीं फिर भी खुश हो जातीं।
जब अपने मुन्ने राजा को गोदी ही में पातीं।
इसी तरह कुछ खेला करते हम-तुम धीरे-धीरे,
माँ, कदम्ब का पेड़ अगर यह होता यमुना तीरे।

श्यामनारायण पाण्डेय

"हल्दीघाटी का युद्ध"

सावन का हरित प्रभात रहा, अम्बर पर थी घनघोर घटा,
फहराकर पङ्ख थिरकते थे, मन हरती थी वन-मोर-छटा।

पड़ रही फुही झींसी झिनझिन, पर्वत की हरी वनाली पर,
'पी कहाँ' पपीहा बोल रहा, तरु-तरु की डाली-डाली पर।

वारिद के उर मे चमक-दमक, तड़-तड़ थी बिजली तड़क रही,
रह रहकर जल था बरस रहा, रणधीर-भुजा थी फड़क रही।

धरती की प्यास बुझाने को, वह घहर रही थी घन-सेना,
लोहू पीने के लिए खड़ी, यह हहर रही थी जन-सेना।

नभ पर चम चम चपला चमकी, चम चम चमकी तलवार इधर,
भैरव अमन्द घन-नाद उधर, दोनों दल की ललकार इधर।

वह कड़-कड़ कड़ कड़ कड़क उठी, यह भीमनाद से तड़क उठी,
भीषण-संगर की आग प्रबल, वैरी सेना में भड़क उठी।

डग-डग डग-डग रण के डंके, मारू के साथ भयद बाजे,
टप - टप - टप घोड़े कूद पड़े, कट-कट मतंग के रद बाजे।

कल-कल कर उठी शत्रु-सेना, किलकार उठी, ललकार उठी,
असि म्यान-विवर से निकल तुरत, अहि-नागिन-सी फुफकार उठी।

फर-फर-फर फर-फर फहर उठा, अकबर का अभिमानी निशान,
बढ़ चला कटक लेकर अपार, मद-मस्त द्विरद पर मस्त-मान।

कोलाहल पर कोलाहल सुन, शस्त्रों की सुन झनकार प्रबल,
मेवाड़-केसरी गरज उठा, सुनकर अरि की ललकार प्रबल।

हर एकलिंग को माथ नवा, लोहा लेने चल पड़ा वीर,
चेतक का चंचल वेग देख, था महा महा-लज्जित समीर।

लड़-लड़ कर अखिल महीतल को, शोणित से भर देनेवाली ,
तलवार वीर की तड़प उठी, अरि-कण्ठ कतर देनेवाली ।

राणा का ओज भरा आनन, सूरज-समान चमचमा उठा ,
बन महाकाल का महाकाल, भीषण-भाला दमदमा उठा ।

भेरी प्रताप की बजी तुरत, बज चले दमामे धमर धमर ,
धम-धम रण के बाजे बाजे, बज चले नगारे धमर-धमर ।

कुछ घोड़े पर, कुछ हाथी पर, कुछ योद्धा पैदल ही आये ,
कुछ ले बरछे कुछ ले भाले, कुछ शर से तरकस भर लाये ।

रण-यात्रा करते ही बोले, राणा की जय, राणा की जय ,
मेवाड़-सिपाही बोल उठे, शत बार महाराणा की जय ।

हल्दीघाटी के रण की जय, राणा प्रताप के प्रण की जय ,
जय जय भारत माता की जय, मेवाड़-देश-कण-कण की जय ।

हर एकलिंग, हर एकलिंग, बोला हर-हर अम्बर अनन्त ,
हिल गया अचल, भर गया तुरत, हर-हर निनाद से दिग-दिगन्त ।

घनघोर घटा के बीच चमक, तड़-तड़ नभ पर तड़िता तड़की ,
झनझन असि की झनकार इधर, कायर-दल की छाती धड़की ।

अब देर न थी वैरी-वन में, दावानल के सम छूट पड़े ,
इस तरह वीर झपटे उन पर, मानो हरि मृग पर टूट पड़े ।

हाथी सवार हाथी पर थे, बाजी सवार बाजी पर थे ,
पर उनके शोणित-मय मस्तक, अवनी पर मृत राजी पर थे ।

कर की असि ने आगे बढ़कर, संगर-मतंग-सिर काट दिया ,
बाजी वक्षःस्थल गोभ-गोभ, बरछी ने भूतल पाट दिया ।

गज गिरा, मरा पिलवान गिरा, हय कटकर गिरा, निशान गिरा ,
कोई लड़ता उत्तान गिरा, कोई लड़कर बलवान गिरा ।

झटके से शूल गिरा भू पर, बोला भट, मेरा शूल कहाँ ,
शोणित का नाला बह निकला, अवनी-अम्बर पर धूल कहाँ ।

कोई करता था रक्त वमन, छिद गया किसी मानव का तन,
कट गया किसी का एक बाहु, कोई था सायक-विद्ध नयन।
तो भी रख प्राण हथेली पर, वैरी-दल पर चढ़ते ही थे,
मरते कटते मिटते भी थे, पर राजपूत बढ़ते ही थे।

राणा की तलवार

चढ़ चेतक पर तलवार उठा,
रखता था भूतल-पानी को;
राणा प्रताप सिर काट-काट,
करता था सफल जवानी को।

कलकल बहती थी रण-गङ्गा,
अरि-दल को डूब नहाने को;
तलवार वीर की नाव बनी,
चटपट उस पार लगाने को।

वैरी-दल को ललकार गिरी,
वह नागिन-सी फुफकार गिरी;
था शोर मौत से बचो, बचो,
तलवार गिरी, तलवार गिरी।

पैदल से हय दल, गज-दल में,
छप-छप करती वह विकल गई,
क्षण कहाँ गई कुछ पता न फिर,
देखो चम-चम वह निकल गई।

क्षण इधर गई, क्षण उधर गई,
क्षण चढ़ी बाढ़-सी उतर गई,
था प्रलय, चमकती जिधर गई,
क्षण शोर हो गया किधर गई!

क्या अजब विषैली नागिन थी,
जिसके डसने में लहर नहीं,
उतरी तन से मिट गये वीर,
फैला शरीर में जहर नहीं।

थी छुरी कहीं तलवार कहीं,
वह बरछी-असि-खरधार कहीं,
वह आग कहीं, अंगार कहीं,
बिजली थी कहीं, कटार कहीं।

लहराती थी शिर काट-काट,
बल खाती थी भू पाट-पाट,
बिखराती अवयव बाट-बाट,
तनती थी लोहू चाट-चाट।

क्षण भीषण हलचल मचा-मचा,
राणा-कर की तलवार बढ़ी,
था शोर रक्त पीने को यह,
रण-चंडी जीभ पसार बढ़ी।

हृदयनारायण पाण्डेय

तिनका

कहाँ एक तिनका, कहाँ एक सागर—
  न सागर ही अपना, न अपना किनारा!
बहा जा रहा है, निरुद्देश्य-जीवन—
  मिला कब किसीको, किसी का सहारा!

बहा जा रहा है, बहे जाएगा ही—
  न बहने के अतिरिक्त है और चारा।
ये नन्हें से तिनके का साहस तो देखो—
  'पकड़ लूँगा जाकर उदधि का किनारा !!'

कोई चाह की एक सीमा बनादे!
  ये इतना-सा तिनका, ये सागर, किनारा !!
उस वक्ष से फूट ज्वाला मुखी-सा—
  हुआ छिन्न, विस्फोट से शैल उर का।

बुझाने को दावाग्नि की घोर लपटें,
  है दो बूँद आँसू की सामर्थ्य कितनी!
मगर—लोग कहते हैं क्यों एक तिनका
  भी, डूबे को देता बड़ा ही सहारा!

यह है ओस के चाटने का उपक्रम—
  न भीगा मरुस्थल का प्यासा-किनारा !!
कहाँ एक तिनका, कहाँ एक सागर,
  न सागर ही अपना, न अपना किनारा !!

आँसू

रोना निर्धन का धन है, रोना निर्बल का बल है,
मजबूरी की दुनियाँ में रोने का राज्य अटल है।

यह प्राणों का गायन है, यह है मूकों की भाषा,
आश्रय असहायजनों का, यह है हताश की आशा।

असफलता से, जीवन हो, जब घोर युद्ध छिड़ता है,
तब रोने की छाया में, आहत को सुख मिलता है।

पावन-बूँदों का वर्षण जग को पावन कर देता,
आँसू का मृदु-आकर्षण उर को वश में कर लेता।

आँसू है गूढ़ प्रणय की व्याख्या युत सरला टीका,
इस अनुपम-रस के आगे नव-रस षट-रस सब फीका।

आँसू ही युगल-हृदय में दृढ़ स्नेह-ग्रंथि ग्रथ देता,
आँसू ही प्रणय-जगत में उर-सागर को मथ देता।

आँसू ही प्रिय-स्वागत में उर-हार बधाई का है,
आँसू ही स्नेह-जगत में उपहार बिदाई का है।

परिचायक नव-स्नेह का विश्वास-चिह्न युग-उर का,
इस मतलब की दुनियाँ में आँसू धन है सुर पुर का।

जब नवल-प्रेम के अंकुर आँसू से हैं सिंच जाते,
तब विस्तृत परिवर्धित हो वे तरु विशाल बन जाते।

गल कर गीले आँसू से पाषाण कलेजे कितने!
पानी-पानी हो करके लगते हैं क्षण में बहने!

जब प्रखर निराशा के शर उर में चुभ विष बोते हैं,
आँखों के उष्णोदक से धुल घाव शान्त होते हैं।

तूफानों से टकरा कर तरणी जल-मग्न होती,
नाविक की कातर आशा जब सिसक सिसक कर रोती।

तब रोने की लहरों से हिलता प्रभु का सिंहासन,
आँसू की जंजीरों में बँध आते कृपा-निकेतन।

दुखिया के जब आँसू से भगवान स्नान कर लेते,
तब करुणा-लोचनों से लख उसका सब दुख हर लेते।

दृग की गीली-गंगा में आँसू बन कर 'हरि आते',
दिल के पिछले पानी में वे अपनी चमक दिखाते।

यह विरह-वियोगिनि अँखियाँ बन भोगिन बरुनी-वन में,
जल पलक-कमंडल में भर रत हैं अब तप-साधन में।

था पिया सरोज-कली ने वारिज-वन में जितना जल,
बूँदों बूँदों बरसाया ढरकाया करके छल-छल।

यह रूप-माधुरी चुगकर अब मोती उगल रहे हैं,
छवि जाल मध्य उलझे हैं उड़ने को मचल रहे हैं।

रंग

जयशङ्कर 'प्रसाद'

देश हमारा

अरुण यह मधुमय देश हमारा,
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा।
सरस तामरस-गर्भ विभा पर—नाच रही तरुशिखा मनोहर,
छिटका जीवन हरियाली पर—मङ्गल कुंकुम सारा।
लघु सुरधनु से पंख पसारे—शीतल मलय समीर सहारे,
उड़ते खग जिस ओर मुहँ किये—समझ नीड़ निज प्यारा।
बरसाती आँखों के बादल—बनते जहाँ भरे करुणा जल,
लहरें टकरातीं अनन्त की—पाकर जहाँ किनारा।
हेम-कुम्भ ले उषा सवेरे—भरती ढुलकाती सुख मेरे,
मदिर ऊँघते रहते जब—जग कर रजनीभर तारा।

भारतवर्ष

हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार,
उषा ने हँस अभिनन्दन किया और पहनाया हीरक हार।
जगे हम, लगे जगाने विश्व लोक में फैला फिर आलोक,
व्योम-तम-पुञ्ज हुआ तब नष्ट, अखिल संसृति हो उठी अशोक।
विमल वाणी ने वीणा ली कमल-कोमल कर में सप्रीति,
सप्त स्वर सप्तसिन्धु में उठे, छिड़ा तब मधुर साम संगीत।
बचा कर बीज-रूप से सृष्टि, नाव पर झेल प्रलय का शीत,
अरुण-केतन लेकर निज हाथ वरुण पथ में हम बढ़े अभीत।
सुना है दधीचि का वह त्याग हमारी जातीयता विकास,
पुरन्दर ने पवि से है लिखा अस्थि-युग का मेरे इतिहास।
सिन्धु-सा विस्तृत और अथाह एक निर्वासित का उत्साह,
दे रही अभी दिखाई भग्न मग्न रत्नाकर में वह राह।

धर्म का ले लेकर जो नाम हुआ करती बलि, कर दी बन्द,
हमी ने दिया शान्ति-सन्देश, सुखी होते देकर आनन्द।
विजय केवल लोहे की नहीं, धर्म की रही धरा पर धूम,
भिक्षु होकर रहते सम्राट् दया दिखलाते घर-घर घूम।
यवन को दिया दया का दान चीन को मिली धर्म की दृष्टि,
मिला था स्वर्ण-भूमि को रत्न शील की सिंहल को भी सृष्टि।
किसी का हमने छीना नहीं, प्रकृति का रहा पालना यहीं,
हमारी जन्मभूमि थी यही, कहीं से हम आये थे नहीं।
जातियों का उत्थान-पतन, आँधियाँ, झड़ी, प्रचंड समीर,
खड़े देखा झेला हँसते, प्रलय मे पले हुए हम वीर।
चरित के पूत, भुजा मे शक्ति, नम्रता रही सदा सम्पन्न,
हृदय के गौरव मे था गर्व, किसी को देख न सके विपन्न।
हमारे सञ्चय में था दान, अतिथि थे सदा हमारे देव,
वचन में सत्य, हृदय में तेज, प्रतिज्ञा में रहती थी टेव।
वही है रक्त, वही है देश, वही साहस है, वैसा ज्ञान,
वही है शांति, वही है शक्ति, वही हम दिव्य आर्य्य-संतान।
जिये तो सदा उसी के लिये यही अभिमान रहे, यह हर्ष,
निछावर कर दें हम सर्वस्व, हमारा प्यारा भारतवर्ष।

आह्वान-गीत

हिमाद्रि तुंग श्रृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती—
स्वयं - प्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती—
"अमर्त्य वीरपुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है—बढ़े चलो बढ़े चलो।"

असंख्य कीर्तिरश्मियाँ,
विकीर्ण दिव्यदाह-सी।
सपूत मातृभूमि के—
रुको न शूर साहसी!
अराति-सैन्य-सिन्धु में—सुबाड़वाग्नि-से जलो,
प्रवीर हो जयी बनो—बढ़े चलो बढ़े चलो।

आत्म कथा

मधुप गुन-गुना कर कह जाता कौन कहानी यह अपनी,
मुरझाकर गिर रहीं पत्तियाँ देखो कितनी आज घनी।

इस गम्भीर अनन्त-नीलिमा में असंख्य जीवन इतिहास—
यह लो, करते ही रहते हैं अपना व्यङ्ग्य-मलिन उपहास।

तब भी कहते हो—कह डालूँ दुर्बलता अपनी-बीती,
तुम सुनकर सुख पाओगे, देखोगे—यह गागर रीती।

किन्तु कहीं ऐसा न हो कि तुम ही खाली करने वाले—
अपने को समझो, मेरा रस ले अपनी भरने वाले।

यह विडम्बना! अरी सरलते तेरी हँसी उड़ाऊँ मैं,
भूलें अपनी, या प्रवञ्चना औरों की दिखलाऊँ मैं।

उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की,
अरे खिल-खिला कर हँसते होने वाली उन बातों की।

मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया!
आलिङ्गन आते-आते मुसक्याकर जो भाग गया।

जिसके अरुण-कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में,
अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में।

उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक की पन्था की,
सीवन को उधेड़ कर देखोगे क्यों मेरी कन्था की।

छोटे से जीवन की कैसे बड़ी कथायें आज कहूँ,
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूँ।
सुनकर क्या तुम भला करोगे—मेरी भोली आत्म-कथा,
अभी समय भी नहीं—थकी सोई है मेरी मौन व्यथा।

ले चल वहाँ भुलावा देकर

ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक ! धीरे धीरे।

जिस निर्जन में सागर लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी—
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे।

जहाँ साँझ-सी जीवन छाया,
ढीले अपनी कोमल काया,
नील नयन से ढुलकाती हो,
ताराओं की पाँति घनी रे।

जिस गम्भीर मधुर छाया में—
विश्व चित्र-पट चल माया में—
विभुता विभु-सी पड़े दिखाई,
दुख-सुख वाली सत्य बनी रे।

श्रम-विश्राम क्षितिज-वेला से—
जहाँ सृजन करते मेला से—
अमर जागरण उषा नयन से—
बिखराती हो ज्योति घनी रे!

आह वेदना मिली विदाई !

आह ! वेदना मिली बिदाई !
मैंने भ्रम-वश जीवन सञ्चित,
मधुकरियों की भीख लुटाई।

छलछल थे सन्ध्या के श्रमकण,
आँसू-से गिरते थे प्रतिक्षण।
मेरी यात्रा पर लेती थी—
नीरवता अनन्त अँगड़ाई।

श्रमित स्वप्न की मधुमाया में,
गहन-विपिन की तरु छाया में,
पथिक उनींदी श्रुति में किसने—
यह बिहाग की तान उठाई।

लगी सतृष्ण दीठ थीं सबकी,
रही बचाये फिरती कबकी।
मेरी आशा आह ! बावली,
तूने खो दी सकल कमाई।

चढ़कर मेरे जीवन रथ पर,
प्रलय चल रहा अपने पथ पर।
मैंने निज दुर्बल पद-बल पर,
उससे हारी-होड़ लगाई।

लौटा लो यह अपनी थाती,
मेरी करुणा हा-हा खाती !
विश्व ! न सँभलेगी यह मुझसे,
इससे मन की लाज गँवाई !

——

बीति विभावरी जागरी

बीती विभावरी जाग री !
अम्बर पनघट में डुबो रही—
तारा घट ऊषा नागरी !

खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अञ्चल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई—
मधु मुकुल नवल रस गागरी !

अधरों में राग अमन्द पिये,
अलकों में मलयज बन्द किये—
तू अब तक सोई है आली !
आँखों में भरे विहाग री !

लाज भरा सौन्दर्य

तुम कनक–किरण के अन्तराल में,
लुक-छिप कर चलते हो क्यों ?
नत - मस्तक गर्व वहन करदे,
यौवन के धन, रस - कन ढरते,
हे लाज भरे सौन्दर्य !
बता दो मौन बने रहते हो क्यों ?
अधरों के मधुर कगारों में,
कल-कल-ध्वनि की गुञ्जारों में,
मधुसरिता-सी यह हँसी,
तरल अपनी पीते रहते हो क्यों ?
बेला विभ्रम की बीत चली,
रजनीगंधा की कली खिली—
अब सान्ध्य मलय-आकुलित,
दुकूल कलित हो, यों छिपते हो क्यों ?

मलयानिल

चल वसन्त बाला अञ्चल से किस घातक सौरभ में मस्त ,
आतीं मलयानिल की लहरें जब दिनकर होता है अस्त ।
मधुकर से कर सन्धि, विचर कर उषा नदी के तट उस पार ;
चूसा रस पत्तों-पत्तों से फूलों का दे लोभ अपार ।
लगे रहे जो अभी डाल से बने आवरण फूलों के ,
अवयव थे शृङ्गार रहे जो वनबाला के झूलों के ।
आशा देकर गले लगाया रुके न वे फिर रोके से ,
उन्हें हिलाया बहकाया भी किधर उठाया झोंके से ,
कुम्हलाए, सूखे, ऐंठे फिर गिरे अलग हो वृन्तों से ,
वे निरीह मर्माहत होकर कुसुमाकर के कुन्तों से ।
नवपल्लव का सृजन ! तुच्छ है किया बात से वध जब क्रूर ,
कौन फूल-सा हँसना देखे ? वे अतीत से भी अब दूर ।
लिखा हुआ उनकी नस-नस में इस निर्दयता का इतिहास ,
तू अब 'आह' बनी घूमेगी उनके अवशेषों के पास ।

नीरद

अलका की किस विकल विरहिणी की पलकों का ले अवलम्ब ,
सुखी सो रहे थे इतने दिन, कैसे हे नीरद निकुरम्ब !
बरस पड़े क्यों आज अचानक सरसिज कानन का सङ्कोच ,
अरे जलद में भी यह ज्वाला ! झुके हुए क्यों किसका सोच ?
किस निष्ठुर ठण्डे हृत्तल में जमे रहे तुम बर्फ समान ?
पिघल रहे हो किस गर्मी से ? हे करुणा के जीवन-प्रान !
चपला की व्याकुलता लेकर चातक का ले करुण विलाप ,
तारा-आँसू पोंछ गगन के, रोते हो किस दुख से आप ?
किस मानस-निधि में न बुझा था बड़वानल जिससे बन भाप ,
प्रणय-प्रभाकर-कर से चढ़कर इस अनन्त का करते माप ।

क्यों जुगनू का दीप जला, है पथ में पुष्प और आलोक !
किस समाधि पर बरसे आँसू किसका है यह शीतल शोक !
थके प्रवासी बनजारों से लौटे हो मन्थर गति से ;
किस अतीत की प्रणय-पिपासा जगती चपला-सी स्मृति से !

आँसू

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति-सी छाई
दुर्दिन मे आँसू बनकर
वह आज बरसने आई।

मेरे क्रन्दन में बजती
क्या वीणा !—जो सुनते हो
धागों से इन आँसू के
निज करुणा-पट बुनते हो।

रो-रो कर सिसक-सिसक कर
कहता मैं करुण-कहानी।
तुम सुमन नोचते सुनते
करते जानी अनजानी।

मैं बल खाता जाता था
मोहित बेसुध बलिहारी
अन्तर के तार खिचे थे
तीखी थी तान हमारी।

झंझा झकोर गर्जन था
बिजली थी, नीरद माला
पाकर इस शून्य हृदय को
सबने आ डेरा डाला।

घिर जातीं प्रलय घटायें
कुटिया पर आकर मेरी
तम-चूर्ण बरस जाता था
छा जाती अधिक अँधेरी।

बिजली माला पहने फिर
मुसक्याती थी आँगन में
हाँ, कौन बरस जाता था
रस-बूँद हमारे मन में!

तुम सत्य रहे चिर सुन्दर
मेरे इस मिथ्या जग के
थे केवल जीवन-सङ्गी
कल्याण कलित इस मग के।

कितनी निर्जन रजनी में
तारों के दीप जलाये
स्वर्गङ्गा की धारा में
उज्ज्वल उपहार चढ़ाये!

गौरव था, नीचे आये
प्रियतम मिलने को मेरे
मैं इठला उठा अकिञ्चन,
देखे ज्यों स्वप्न सबेरे।

मधुराका मुसक्याती थी
पहले देखा जब तुमको
परिचित-से जाने कब के
तुम लगे उसी क्षण हमको।

परिचय राका जलनिधि का
जैसे होता हिमकर से
ऊपर से किरणें आतीं
मिलती हैं गले लहर से।

मैं अपलक इन नयनों से
निरखा करता उस छवि को
प्रतिभा डाली भर लाता
कर देता दान सुकवि को।

निर्झर-सा झिर-झिर करता
माधवी-कुञ्ज छाया में
चेतना बही जाती थी
हो मन्त्र-मुग्ध माया में।

पतझड़ था, झाड़ खड़े थे
सूखी सी फुलवारी में
किसलय नव कुसुम बिछाकर
आये तुम इस क्यारी में।

शशि-मुख पर घूँघट डाले
अन्तर में दीप छिपाये
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आये।

घन में सुन्दर बिजली-सी
बिजली में चपल चमक सी
आँखों में काली पुतली
पुतली मे श्याम झलक सी।

प्रतिमा में सजीवता सी
बस गई सुछवि आँखों में
थी एक लकीर हृदय में
जो अलग रही लाखों मे।

माना कि रूप-सीमा है
सुन्दर! तव चिर यौवन मे
पर समा गये थे, मेरे
मन के निस्सीम गगन में।

लावण्य - शैल राई सा
जिस पर वारी बलिहारी
उस कमनीयता कला की
सुषमा थी प्यारी - प्यारी ।

प्रलय की छाया

"थके हुए दिन के निराशा भरे जीवन की
सन्ध्या है आज भी तो धूसर क्षितज में ।
और उस दिन तो ;
निर्जन जलधि-वेला रागमयी सन्ध्या से—
सीखती थी सौरभ से भरी रंग-रलियाँ ।
दूरागत वंशी रव—
गूँजता था धीवरों की छोटी छोटी नावों से ,
मेरे उस यौवन के मालती-मुकुल में ,
रंध्र खोजती थीं, रजनी की नीली किरणें ।
उसे उकसाने को—हँसाने को ।
पागल हुई मैं अपनी ही मृदुगन्ध से—
कस्तूरी मृग जैसी ।
पश्चिम जलधि में ,
मेरी लहरीली नीली अलकावली समान
लहरें उठती थीं मानो चूमने को मुझको ,
और साँस लेता था समीर मुझे छूकर ।
नृत्य शीला शैशव की स्फूर्तियाँ
दौड़कर दूर जा खड़ी हो हँसने लगी ।
मेरे तो ,
चरण हुए थे विजड़ित मधु-भार से ।
हँसती अनङ्ग-बालकायें अन्तरिक्ष में

मेरी उस क्रीड़ा के मधु अभिषेक में
नत-शिर देख मुझे।
कमनीयता थी जो समस्त गुजरात की
हुई एकत्र इस मेरी अङ्गलतिका में
पलकें मदिर भार से थीं झुकी पड़ती।
नन्दन की शत-शत दिव्य कुसुम-कुन्तला
अप्सरायें मानो वे सुगन्ध की पुतलियाँ
आ-आकर चूम रहीं अरुण अधर मेरा
जिसमें स्वयं ही मुसकान खिल पड़ती।
नूपुरों की झनकार घुली मिली जाती थी
चरण-अलक्तक की लाली से।
जैसे अन्तरिक्ष की अरुणिमा
पी रही दिगन्त व्यापी सन्ध्या-संगीत को।
कितनी मादकता थी !
लेने लगी झपकी मैं
सुख-रजनी की विश्रम्भ-कथा सुनती ;
जिसमे थी-आशा
अभिलाषा से भरी थी जो
कामना के कमनीय मृदुल प्रमोद में
जीवन सुरा की वह पहली ही प्याली थी।"
"आँखें खुलीं ;
देखा मैंने चरणों में लोटती थी
विश्व की विभव-राशि ,
और थे प्रणत वहीं गुर्जर-महीप भी !
वह एक सन्ध्या थी।"
"श्यामा-सृष्टि युवती थी
तारक-खचित नीलपट परिधान था
अखिल अनन्त में

चमक रही थीं लालसा की दीप्त मणियाँ—
ज्योति मयी, हास मयी, विकल विलास मयी।
बहती थी धीरे-धीरे सरिता
उस मधु यामिनी में
मदकल मलय पवन ले ले फूलों से
मधुर मरन्द-विन्दु उसमें मिलाता था।
चाँदनी के अंचल में,
हरा-भरा पुलिन अलस नींद ले रहा।
सृष्टि के रहस्य-सी परखने को मुझको
तारकायें झाँकती थीं।
शत शतदलों की
मुद्रित मधुर गन्ध भीनी-भीनी रोम में
बहाती लावण्य-धारा।
स्मर-शशि किरणें,
स्पर्श करती थीं इस चन्द्रकान्त मणि को
स्निग्धता विछलती थी जिस मेरे अंग पर।
अनुराग पूर्ण था हृदय उपहार में
गुर्जरेश पाँवड़े बिछाते रहे पलकों के;
तिरते थे—
मेरी अँगड़ाइयों की लहरों में।
पीते मकरन्द थे—
मेरे इस अधखिले आनन-सरोज का।
कितना सोहाग था, कैसा अनुराग था?
खिली स्वर्ण मल्लिका की सुरभित वल्लरी-सी
गुर्जर के थाले मे मरन्द वर्षा करती मैं"।
"और परिवर्तन वह!
क्षितिज पटी को आंदोलित करती हुई
नीले मेघ-माला-सी

नियति नटी थी आई सहसा गगन में
तड़ित विलास सी नचाती भौंहें अपनी।
"पावक-सरोवर में अवभृथ स्नान था
आत्म-सम्मान-यज्ञ की वह पूर्णाहुति
सुना—जिस दिन पद्मिनी का जल मरना
सती के पवित्र आत्म गौरव की पुण्य-गाथा
गूँज उठी भारत के कोने कोने जिस दिन;
उन्नत हुआ था भाल
महिला-महत्व का।
इस मेवाड़ के पवित्र बलिदान का
ऊर्जित आलोक
आँख खोलता था सब की।
सोचने लगी थीं कुल-वधुयें, कुमारिकायें
जीवन का अपने भविष्य नये सिर से;
उसी दिन
बँधने लगी थी विषमय परतंत्रता।
देव-मन्दिरों की मूक घण्टा-ध्वनि
व्यंग्य करती थी जब दीन संकेत से
जाग उठी जीवन की लाज भरी निद्रा से।
मैं भी थी कमला,
रूप-रानी गुजरात की।
सोचती थी—
पद्मिनी जली थी स्वयं किन्तु मैं जलाऊँगी—
वह दावानल ज्वाला
जिसमें सुलतान जले।

—

लज्जा

[छायामूर्ति लज्जा और श्रद्धा का संवाद]

"कोमल किसलय के अंचल में
नन्हीं कलिका ज्यों छिपती सी ;
गोधूली के धूमिल पट में
दीपक के स्वर में दिपती सी।
मंजुल स्वप्नों की विस्मृति में
मन का उन्माद निखरता ज्यों।
सुरभित लहरों की छाया में
बुल्ले का विभव बिखरता ज्यों ;
वैसी ही माया में लिपटी
अधरों पर उँगली धरे हुए ;
माधव के सरस कुतूहल का
आँखों में पानी भरे हुए।
नीरव निशीथ में लतिका सी
तुम कौन आ रही हो बढ़ती !
कोमल बाहें फैलाये सी
आलिंगन का जादू पढ़ती !
किन इन्द्रजाल के फूलों से
लेकर सुहाग-कण राग भरे ;
सिर नीचा कर हो गूँथ रही
माला जिससे मधु धार ढरे !
पुलकित कदम्ब की माला सी
पहना देती हो अन्तर में ;
झुक जाती है मन की डाली
अपनी फलभरता के डर में।

वरदान-सदृश हो डाल रही
नीली किरणों से बुना हुआ;
यह अंचल कितना हलका सा
कितने सौरभ से सना हुआ।

सब अंग मोम से बनते हैं
कोमलता में बल खाती हूँ;
मैं सिमट रही सी अपने में
परिहास-गीत सुन पाती हूँ।

स्मित बन जाती है तरल हँसी
नयनों में भर कर बाँकपना;
प्रत्यक्ष देखती हूँ सब जो
वह बनता जाता है सपना।

मेरे सपनों में कलरव का
संसार आँख जब खोल रहा;
अनुराग-समीरों पर तिरता
था इतराता सा डोल रहा।

अभिलाषा अपने यौवन में
उठती उस सुख के स्वागत को;
जीवन भर के बल वैभव से
सत्कृत करती दूरागत को।

किरनों का रज्जु समेट लिया
जिसका अवलम्बन ले चढ़ती;
रस के निर्झर में धँस कर मैं
आनन्द-शिखर के प्रति बढ़ती।

छूने में हिचक देखने में
पलकें आँखों पर झुकती हैं;
कलरव परिहास भरी गूँजे
अधरों तक सहसा रुकती हैं।

संकेत कर रही रोमाली
चुपचाप बरजती खड़ी रही ;
भाषा बन भौंहों की काली
रेखा - सी भ्रम में पड़ी रही ।
तुम कौन ? हृदय की परवशता ?
सारी स्वतन्त्रता छीन रहीं ;
स्वच्छन्द सुमन जो खिले रहे
जीवन-वन से हो बीन रहीं !"
सन्ध्या की लाली में हँसती ,
उसका ही आश्रय लेती-सी ;
छाया प्रतिमा गुनगुना उठी
श्रद्धा का उत्तर देती-सी ।
"इतना न चमत्कृत हो बाले !
अपने मन का उपकार करो !
मैं एक पकड़ हूँ जो कहती
ठहरो कुछ सोच विचार करो ।
अम्बर-चुम्बी हिम-शृंगों से
कलरव-कोलाहल साथ लिये ;
विद्युत की प्राणमयी धारा
बहती जिसमें उन्माद लिये ।
मंगल कुंकुम की श्री जिसमे
निखरी हो ऊषा की लाली ;
भोला सुहाग इठलाता हो
ऐसी हो जिसमें हरियाली ।
हो नयनों का कल्याण बना
आनन्द-सुमन-सा विकसा हो ;
वासन्ती के वन-वैभव में
जिसका पंचम स्वर पिक-सा हो ;

जो गूँज उठे फिर नस-नस में
मूर्च्छना समान मचलता-सा ;
आँखों के साँचे में आकर
रमणीय रूप बन ढलता-सा ;
नयनों की नीलम की घाटी
जिस रस-घन से छा जाती हो ;
वह कौंध कि जिससे अंतर की
शीतलता ठंडक पाती हो।
हिल्लोल भरा हो ऋतुपति का
गोधूली की-सी ममता हो ;
जागरण प्रात-सा हँसता हो
जिसमें मध्याह्न निखरता हो।
हो चकित निकल आई सहसा
जो अपने प्राची के घर से ;
उस नवल चंद्रिका से बिछले
जो मानस की लहरों पर से।
फूलों की कोमल पंखड़ियाँ
बिखरें जिसके अभिनंदन में,
मकरंद मिलाती हो अपना
स्वागत के कुंकुम-चंदन में।
कोमल किसलय मर्मर रव से
जिसका जय-घोष सुनाते हों ;
जिसमें दुख-सुख मिलकर मन के
उत्सव - आनन्द मनाते हों।
उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौंदर्य जिसे सब कहते हैं ;
जिसमें अनन्त अभिलाषा के
सपने सब जगते रहते हैं।

मैं उसी चपल की धात्री हूँ
गौरव-महिमा हूँ सिखलाती ;
ठोकर जो लगने वाली है
उसको धीरे से समझाती !

मैं देव-सृष्टि की रति रानी
निज पंचबाण से वंचित हो ;
बन आवर्जना-मूर्ति दीना
अपनी अतृप्ति की संचित हो ।

अवशिष्ट रह गई अनुभव में
अपनी अतीत असफलता-सी ;
लीला विलास की खेद-भरी
अवसादमयी श्रम-दलिता सी ।

मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ
मैं शालीनता सिखाती हूँ ;
मतवाली सुन्दरता पग में
नूपुर-सी लिपट मनाती हूँ ।

लाली बन सरल कपोलों में
आँखों में अंजन-सी लगती ;
कुंचित अलकों-सी घुँघराली
मन की मरोर बन कर जगती ।

चंचल किशोर सुन्दरता की
मैं करती रहती रखवाली ;
मैं वह हलकी-सी मसनल हूँ
जो बनती कानों की लाली ।"

"हाँ ठीक, परन्तु बताओगी
मेरे जीवन का पथ क्या है !
इस निविड़ निशा मे संसृति की
आलोकमयी रेखा क्या है !

वह आज समझ तो पाई हूँ
मैं दुर्बलता में नारी हूँ ;
अवयव की सुन्दर कोमलता
लेकर मैं सबसे हारी हूँ ।
पर मन भी क्यों इतना ढीला
अपने ही होता जाता है ।
घनश्याम-खंड सी आँखों मे
क्यों सहसा जल भर आता है ?
सर्वस्व समर्पण करने की
विश्वास महा तरु छाया में ;
चुपचाप पड़ी रहने की क्यों
ममता जगती है माया में ?
छाया-पथ में तारक-द्युति-सी
झिल-मिल करने की मधु-लीला ;
अभिनय करती क्यों इस मन में
कोमल निरीहता श्रम-शीला ?
निस्संबल होकर तिरती हूँ
इस मानस की गहराई में ;
चाहती नहीं जागरण कभी
सपने की इस सुघराई में ।
नारी जीवन का चित्र यही
क्या विकल रंग भर देती हो ;
अस्फुट रेखा की सीमा में
आकार कला को देती हो ।
रुकती हूँ और ठहरती हूँ
पर सोच विचार न कर सकती ;
पगली - सी कोई अन्तर में
बैठी जैसे अनुदिन बकती ।

मैं जभी तोलने का करती
उपचार स्वयं तुल जाती हूँ ;
भुज लता फँसा कर नर-तरु से
झूले-सी झोंके खाती हूँ ।
इस अर्पण में कुछ और नहीं
केवल उत्सर्ग छलकता है ;
मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ
इतना ही सरल झलकता है ।"
"क्या कहती हो ठहरो नारी !
संकल्प - अश्रु - जल से अपने ;
तुम दान कर चुकी पहले ही
जीवन के सोने-से सपने ।
नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास - रजत-नग-पग-तल में ;
पीयूष - स्रोत - सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में ।
देवों की विजय, दानवों की
हारों का होता युद्ध रहा ;
संघर्ष सदा उर - अंतर मे
जीवित रह नित्य विरुद्ध रहा ।
आँसू से भीगे अंचल पर
मन का सब कुछ रखना होगा ;
तुमको अपनी स्मित-रेखा से
यह संधि-पत्र लिखना होगा ।"

———

रहस्य

त्रिदिक् विश्व, आलोक-बिंदु भी
तीन दिखाई पड़े अलग वे ;
त्रिभुवन के प्रतिनिधि थे मानो
वे अनमिल थे किन्तु सजग थे ।

मनु ने पूछा, "कौन नये ग्रह
ये हैं, श्रद्धे मुझे बताओ ;
मैं किस लोक बीच पहुँचा, इस
इन्द्रजाल से मुझे बचाओ ।"

"इस त्रिकोण के मध्य-बिन्दु तुम
शक्ति-विपुल-क्षमता वाले ये ;
एक एक को स्थिर हो देखो
इच्छा, ज्ञान, क्रिया वाले ये ।

वह देखो रागारुण है जो
ऊषा के कन्दुक-सा सुन्दर ;
छायामय कमनीय कलेवर
भावमयी प्रतिमा का मन्दिर ।

शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध की
पारदर्शिनी सुघड़ पुतलियाँ ;
चारों ओर नृत्य करतीं ज्यों
रूपवती रंगीन तितलियाँ ।

इस कुसुमाकर के कानन के
अरुण-पराग पटल-छाया में ;
इठलातीं सोतीं जगतीं ये
अपनी भाव भरी माया में ।

वह संगीतात्मक ध्वनि इनकी
कोमल अँगड़ाई है लेती ;
मादकता की लहर उठा कर
अपना अम्बर तर कर देती ।
आलिंगन-सी मधुर प्रेरणा
छू लेती, फिर सिहरन बनती ;
नव अलम्बुषा की व्रीड़ा-सी
खुल जाती है, फिर जा मुँदती ।
यह जीवन की मध्य भूमि है
रस धारा से सिंचित होती ,
मधुर लालसा की लहरों से
यह प्रवाहिका स्पंदित होती ।
जिसके तट पर विद्युत-कण से
मनोहारिणी आकृति वाले ,
छायामय सुषमा मे विह्वल
विचर रहे सुन्दर मतवाले ।
सुमन-संकुलित भूमि-रंध्र से
मधुर गंध उठती रस-भीनी ,
वाष्प अदृश्य फुहारे इसमें
छूट रहे, रस बूँदें झीनी ।
घूम रही है यहाँ चतुर्दिक्
चल चित्रों-सी संसृति-छाया ;
जिस आलोक-विन्दु को घेरे
वह बैठी मुसक्याती माया ।
भाव-चक्र यह चला रही है
इच्छा की रथ-नाभि घूमती ,
नव रस भरी अराएं अविरल ,
चक्रवाल को चकित चूमतीं ।

यहाँ मनोमय विश्व कर रहा
रागारुण चेतन उपासना,
माया राज्य यही परिपाटी
पाश बिछा कर जीव फाँसना।

ये अशरीरी रूप, सुमन से
केवल वर्ण गंध में फूले;
इन अप्सरियों की तानों के
मचल रहे हैं सुन्दर झूले।

भाव-भूमिका इसी लोक की
जननी है सब पुण्य-पाप की;
ढलते सब, स्वभाव प्रतिकृति बन
गल ज्वाला से मधुर ताप की।

नियममयी उलझन-लतिका का
भाव-विटपि से आ कर मिलना;
जीवन-वन की बनी समस्या
आशा नभकुसुमों का खिलना।

चिर वसंत का यह उद्‌गम है
पतझर होता एक ओर है;
अमृत-हलाहल यहाँ मिले हैं
सुख-दुख बँधते, एक डोर हैं।"

"सुन्दर यह तुमने दिखलाया
किन्तु कौन वह श्याम देश है?
कामायनी! बताओ उसमें
क्या रहस्य रहता विशेष है?"

"मनु यह श्यामल कर्म लोक है
धुँधला कुछ कुछ अंधकार-सा;
सघन हो रहा अविज्ञात यह
देश मलिन है धूम धार-सा।

कर्म-चक्र-सा घूम रहा है
यह गोलक, बन नियति-प्रेरणा ;
सबके पीछे लगी हुई है
कोई व्याकुल नयी एषणा ।
श्रम-मय कोलाहल, पीड़न-मय
विकल प्रवर्तन महायंत्र का ;
क्षण भर भी विश्राम नहीं है
प्राण दास है क्रिया-तंत्र का ।
भाव-राज्य के सकल मानसिक
सुख यों दुख में बदल रहे हैं ;
हिंसा गर्वोन्नत हारों में
ये अकड़े अणु टहल रहे हैं ।
ये भौतिक सदेह कुछ करके
जीवित रहना यहाँ चाहते ;
भाव-राष्ट्र के नियम यहाँ पर
दंड बने हैं, सब कराहते ।
करते हैं संतोष नहीं, हैं
जैसे कशाघात-प्रेरित-से
प्रति क्षण करते ही जाते हैं
भीति-विवश ये सब कंपित-से ।
नियति चलाती कर्म-चक्र यह
तृष्णा-जनित ममत्व-वासना ;
पाणिपादमय पंच-भूत की
यहाँ हो रही है उपासना ।
यहाँ सतत संघर्ष, विफलता
कोलाहल का यहाँ राज है ;
अंधकार में दौड़ लग रही
मतवाला यह सब समाज है ।

स्थूल हो रहे रूप बना कर
कर्मों की भीषण परिणति है ;
आकांक्षा की तीव्र पिपासा !
ममता की यह निर्मम गति है ।

यहाँ शासनादेश घोषणा
विजयों की हुंकार सुनाती ;
यहाँ भूख से विकल दलित को
पदतल मे फिर फिर गिरवाती ।

यहाँ लिये दायित्व कर्म का
उन्नति करने के मतवाले,
जला जला कर फूट पड रहे
ढुल कर बहने वाले छाले ।

यहाँ राशिकृत विपुल विभव सब
मरीचिका-से दीख पड़ रहे ;
भाग्यवान बन क्षणिक भोग के
वे विलीन, ये पुनः गड़ रहे ।

बड़ी लालसा यहाँ सुयश की
अपराधों की स्वीकृति बनती ;
अंध प्रेरणा से परिचालित
कर्ता मे करते निज गिनती ।

प्राण तत्व की सघन साधना
जल, हिम उपल यहाँ है बनता ;
प्यासे घायल हो जल जाते
मर मर कर जीते ही बनता ।

यहाँ नील-लोहित-ज्वाला कुछ
जला गला कर नित्य ढालती ;
चोट सहन कर रुकने वाली
धातु, न जिसको मृत्यु सालती ।

वर्षा के घन नाद कर रहे
तट कूलों को सहज गिराती ;
प्लावित करती वन कुंजों को
लक्ष्य-प्राप्ति-सरिता बह जाती ॥"
"बस ! अब और न इसे दिखा तू
यह अति भीषण कर्म जगत है ;
भद्रे ! वह उज्वल कैसा है
जैसी पुंजी-भूत रजत है ।"
"प्रियतम ! यह तो ज्ञान-क्षेत्र है
सुख दुख से है उदासीनता ;
यहाँ न्याय निर्मम, चलता है
बुद्धि-चक्र, जिसमे न दीनता ।
अस्ति-नास्ति का भेद, निरंकुश
करते ये अणु तर्क युक्ति से ;
ये निस्संग, किन्तु कर लेते
कुछ संबन्ध विधान मुक्ति से ।
यहाँ प्राप्य मिलता है केवल
तृप्ति नहीं, कर भेद बाँटती ;
बुद्धि, विभूति सकल सिकता-सी
प्यास लगी है ओस चाटती ।
न्याय, तपस, ऐश्वर्य में पगे
ये प्राणी चमकीले लगते ;
इस निदाघ मरु में, सूखे-से
स्रोतों के तट जैसे जगते ।
मनोभाव से कार्य-कर्म का
सम-तोलन में दत्त चित्त से ;
ये निस्पृह न्यायासन वाले
चूक न सकते तनिक वित्त से ।

अपना परिमित पात्र लिये ये
बूँद बूँद वाले निर्झर से ;
माँग रहे हैं जीवन का रस
बैठ यहाँ पर अजर अमर-से ।

यहाँ विभाजन धर्म तुला का
अधिकारों की व्याख्या करता ;
यह निरीह, पर कुछ पा कर ही
अपनी ढीली साँसें भरता ।

उत्तमता इनका निजस्व है
अम्बुज वाले सर-सा देखो ;
जीवन मधु एकत्र कर रहीं
उन मधुमाखियों-सा बस लेखो ।

यहाँ शरद की धवल ज्योत्स्ना
अंधकार को भेद निखरती ;
यह अनवस्था, युगल मिले से
विकल व्यवस्था सदा बिखरती ।

देखो वे सब सौम्य बने हैं
किन्तु सशंकित हैं दोषों से ;
वे संकेत दम्भ से चलते
भू-चालन मिस परितोषों से !

यहाँ अछूत रहा जीवन रस
छूओ मत संचित होने दो ;
बस इतना ही भाग तुम्हारा
तृषा ! मृषा, वंचित होने दो ।

सामंजस्य चले करने ये
किन्तु विषमता फैलाते हैं ;
मूल स्वत्व कुछ और बताते
इच्छाओं को झुठलाते हैं ।

स्वयं व्यस्त पर शान्त बने से
शास्त्र-शस्त्र रक्षा मे पलते ;
ये विज्ञान भरे अनुशासन
क्षण-क्षण परिवर्तन मे ढलते ।
यही त्रिपुर है देखा तुमने
तीन बिन्दु ज्योतिर्मय इतने ,
अपने केन्द्र बने दुख सुख में
भिन्न हुए हैं ये सब कितने ।
ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है
इच्छा क्यों पूरी हो मन की ;
एक दूसरे से न मिल सके
यह विडम्बना है जीवन की ।"

माखनलाल चतुर्वेदी

पुष्प की अभिलाषा

चाह नहीं मैं सुरबाला के
गहनों में गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं, प्रेमी-माला में
बिंध प्यारी को ललचाऊँ,
चाह नहीं, सम्राटों के शव
पर हे हरि डाला जाऊँ,
चाह नहीं, देवों के शिर पर
चढ़ूँ, भाग्य पर इठलाऊँ।
मुझे तोड़ लेना वनमाली!
उस पथ में देना तुम फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने
जिस पथ जावें वीर अनेक।

कैदी और कोकिला

क्या गाती हो?
क्यों रह रह जाती हो?
कोकिल बोलो तो!
क्या लाती हो?
सन्देशा किसका है?
कोकिल बोलो तो!

ऊँची काली दीवारों के घेरे में,
डाकू, चोरों बटमारों के डेरे में,
जीने को देते नहीं पेट भर खाना,
मरने भी देते नहीं, तड़प रह जाना!
जीवन पर अब दिन-रात कड़ा पहरा है,
शासन है, या तम का प्रभाव गहरा है?
हिमकर निराश कर गई रात भी काली,
इस समय कालिमामयी जगी क्यूँ आली?

क्यों हूक पड़ी?
वेदना-बोझ वाली सी,
कोकिल बोलो तो!
क्या लुटा?
मृदुल वैभव की रखवाली-सी,
कोकिल बोलो तो!

बन्दी सोते हैं, है घर घर श्वासों का,
दिन के दुख का रोना है निश्वासों का,
अथवा स्वर है लोहे के दरवाजों का,
बूँटों का, या सन्त्री की आवाजों का,
या गिनने वाले करते हाहाकार।
गिनती करते हैं—एक, दो, तीन, चार—।
मेरे आँसू की भरी उभय जब प्याली,
बेसुरा! मधुर क्यों गाने आई आली?

क्या हुई बावली?
अर्द्ध रात्रि को चीखी,
कोकिल बोलो तो!
किस दावानल की
ज्वालाएँ हैं दीखीं?
कोकिल बोलो तो!

निज मधुराई को कारागृह पर छाने,
जी के घावों पर तरलामृत बरसाने,
या वायु-विटप-वल्लरी चीर, हठ ठाने
दीवार चीर कर अपना स्वर अजमाने,
या लेने आयी इन आँखों का पानी?
नभ के ये दीप बुझाने की है ठानी!
खा अन्धकार, करते वे जग रखवाली
क्या उनकी शोभा तुझे न भायी आली?

तुम रवि-किरणों से खेल,
जगत को रोज जगाने वाली,
कोकिल बोलो तो!
क्यों अर्द्ध रात्रि में विश्व
जगाने आयी हो? मतवाली!
कोकिल बोलो तो!

दूबों के आँसू धोती रवि-किरनों पर,
मोती बिखराती विन्ध्या के झरनों पर,
ऊँचे उठने के व्रतधारी इस वन पर,
ब्रह्मांड कँपाती उस उद्दंड पवन पर,
तेरे मीठे गीतों का पूरा लेखा
मैंने प्रकाश में लिखा सजीला देखा!

तब सर्वनाश करती क्यों हो,
तुम, जाने या बेजाने?
कोकिल बोलो तो!
क्यों तमोपत्र पर विवश हुई
लिखने चमकीली तानें?
कोकिल बोलो तो!

क्या ?—देख न सकती जंजीरों का गहना ?
हथकड़ियाँ क्यों? यह ब्रिटिश-राज का गहना,
कोल्हू का चर्रक चूँ ?—जीवन की तान,
गिट्टी पर लिखे अँगुलियों ने क्या गान ?
हूँ मोट खींचता लगा पेट पर जूआ,
खाली करता हूँ ब्रिटिश अकड़ का कूआ।
दिन में करुणा क्यों जगे, रुलाने वाली,
इसलिए रात में गजब ढा रही आली ?

इस शान्त समय में,
अन्धकार को बेध, रो रही क्यों हो ?
कोकिल बोलो तो !
चुपचाप, मधुर विद्रोह-बीज
इस भाँति बो रही क्यों हो ?
कोकिल बोलो तो !

काली तू, रजनी भी काली,
शासन की करनी भी काली,
काली लहर कल्पना काली,
मेरी काल कोठरी काली,
टोपी काली कमली काली,
मेरी लोह-श्रृंखला काली,
पहरे की हुंकित की व्याली,
तिस पर है गाली, ऐ आली !

इस काले संकट-सागर पर
करने को, मदमाती !
कोकिल बोलो तो !
अपने गति वाले गीतों को
गाकर हो तैराती !
कोकिल बोलो तो !

तेरे 'माँगे हुए' न बेना,
री, तू नहीं बन्दिनी मैना,
तू न स्वर्ण-पिंजड़े की पाली,
तुझे न दाख खिलाये आली!
तोता नहीं, नहीं तू तूती,
तू स्वतन्त्र, बलि की गति कूती।
तब तू रण का ही प्रसाद है,
तेरा स्वर बस शंखनाद है।

दीवारों के उस पार
या कि इस पार दे रही गूँजें?
हृदय टटोलो तो!
त्याग शुक्लता,
तुझ काली को, आर्य-भारती पूजे,
कोकिल बोलो तो!

तुझे मिली हरियाली डाली,
मुझे नसीब कोठरी काली!
तेरा नभ भर में संचार,
मेरा दस फुट का संसार!
तेरे गीत कहावें वाह,
रोना भी है मुझे गुनाह!
देख विषमता तेरी मेरी,
बजा रही तिस पर रण-भेरी!

इस हुंकृति पर,
अपनी कृति से और कहो क्या कर दूँ?
कोकिल बोलो तो!
मोहन के व्रत पर,
प्राणों का आसव किसमें भर दूँ?
कोकिल बोलो तो!

फिर कुहू !...अरे क्या बन्द न होगा गाना ?
इस अन्धकार में मधुराई दफनाना ?
नभ सीख चुका है कमजोरों को खाना ,
क्यों बना रही अपने को उसका दाना ?
फिर भी करुणा-गाहक बन्दी सोते हैं ,
स्वप्नों में स्मृतियों की श्वासें धोते हैं !
इन लोह-सीखचों की कठोर पाशों में ,
क्या भर दोगी ? बोलो निद्रित लाशों में ?

क्या ? घुस जायेगा रुदन
तुम्हारा निश्वासों के द्वारा ,
कोकिल बोलो तो !
और सबेरे हो जावेगा
उलट-पुलट जग सारा ,
कोकिल बोलो तो !

मील का पत्थर

रूठूँ ? मेरी प्रेम-कथा में ,
रानी, इतना स्वाद नहीं है ,
और मनूँ, ऐसा भी मुझमें ,
कोई प्रणयोन्माद नहीं है ।
मैं हूँ सजनि, मील का पत्थर ,
अंक पढ़ो चुपचाप पधारो ,
मत आरोपो अपनेपन को ,
मत मुझ पर देवत्व उतारो ।
दर्पण में, मरकत, सरवर में ,
कर लो तुम अपने में दर्शन ,
पर मुझमें तुम निज को देखो ,
यह कैसा पागल आकर्षण !

जाओ वहाँ कि, सीखे हैं वे,
छवि लेना फिर लौटा देना,
मैं पत्थर हूँ, मुझ पर ऊगा
करता-कभी न लेना देना।

वे ही हैं, सन्मुख जाने पर
दिखलाते प्रतिबिम्ब तुम्हारा,
हट जाने पर, धो लेते हैं,
अपने जी का चित्रण सारा!

मैं गरीब, क्या जानूँ उतना,
बदल-बदल चमकीला होना!
मेरे अंक अमिट होते हैं,
बेकाबू है जिनका धोना।

दौड़-दौड़ कर लम्बी रातें
क्यों छोटी कर आयीं रानी!
बोलो तो पत्थर क्या देवे,
मीठे ओंठ, न खारा पानी!

अपनी कोमल अंगुलियों से,
मेरी निष्ठुरता न लजाओ,
मन्दिर की मूरत में गढ़ कर,
मत मेरा उपहास सजाओ!

जाओ मंजिल पूरी कर लो,
अभी मिलेंगे पथ के पत्थर,
जिनको तुम साजन कहती हो,
बड़ी दूर पर है उनका घर!

जाकर इतना-सा सन्देसा,
मेरा भी तुम पहुँचा देना,
"फूलों को जो फूल रखो, तो
पत्थर-पत्थर रहने देना।"

क्या मंजिल पर आ पहुँची हो ?
यहीं बनेगा मन्दिर प्यारा ?
जंगल में मंगल देखे ! हम
से बोझीला भाग हमारा ।

तुम अपना प्रभु पूजो रानी !
मैं पथिकों को आमन्त्रित कर
रोका करूँ, अमर हो जाऊँ,
तोड़ो नहीं मील का पत्थर ।

सिपाही

गिनो न मेरी श्वास,
छुए क्यों मुझे विपुल सम्मान ?
भूलों के इतिहास,
खरीदे हुए विश्व-ईमान !!
अरि-मुण्डों का दान,
रक्त-तर्पण भर का अभिमान,
लड़ने तक महमान,
एक पूँजी है तीर-कमान !

मुझे भूलने में सुख पाती,
जग की काली स्याही,
बन्धन दूर, कठिन सौदा है
मैं हूँ एक सिपाही !

क्या ? वीणा की स्वर-लहरी का
सुनूँ मधुरतर नाद ?
छिः, मेरी प्रत्यंचा भूले
अपना यह उन्माद !

झंकारों का कभी सुना है,
भीषण वाद-विवाद?
क्या तुमको है कुरु-क्षेत्र
हलदी घाटी की याद?

सिर पर प्रलय, नेत्र में मस्ती,
मुट्ठी में मन-चाही,
लक्ष्य मात्र मेरा प्रियतम है,
मैं हूँ एक सिपाही!

खींचो राम-राज्य लाने को,
भू-मण्डल पर त्रेता!
बनने दो आकाश छेदकर
उसको राष्ट्र-विजेता,

जाने दो, मेरी किस
बूते कठिन परीक्षा लेता,
कोटि कोटि 'कण्ठों' जय जय है
आप कौन हैं, नेता?

सेना छिन्न, प्रयत्न भिन्न कर,
पा मुराद मन-चाही,
कैसे पूजूँ गुमराही को?
मैं हूँ एक सिपाही!

बोल अरे सेनापति मेरे!
मन की घुंडी खोल,
जल-थल-नभ, हिल-डुल जाने दे,
तू किंचित मत डोल!

दे हथियार या कि मत दे तू!
पर तू कर हुंकार,
ज्ञातों को मत, अज्ञातों को,
तू इस बार पुकार!

धीरज रोग, प्रतीक्षा चिन्ता,
सपने बने तबाही,
कह 'तैयार'! द्वार खुलने दे,
मैं हूँ एक सिपाही!

बदलें रोज बदलियाँ, मत कर
चिन्ता इसकी लेश,
गर्जन-तर्जन रहे, देख
अपना हरियाला देश!

खिलने से पहले टूटेंगी,
तोड़, बता मत भेद,
वनमाली, अनुशासन की
सूजी से अन्तर छेद!

श्रम-सीकर-प्रहार पर जीकर,
बना लक्ष्य आराध्य,
मैं हूँ एक सिपाही! बलि है
मेरा अन्तिम साध्य!

कोई नभ से आग उगल कर
किये शान्ति का दान,
कोई माँज रहा हथकड़ियाँ
छेड़ क्रान्ति की तान।

कोई अधिकारों के चरणों
चढ़ा रहा ईमान,
'हरी घास शूली के पहले
की', तेरा गुण गान!

आशा मिटी, कामना टूटी,
बिगुल बज पड़ी यार!
मैं हूँ एक सिपाही! पथ दे,
खुला देख वह द्वार!!

जवानी

आज अन्तर में लिये, पागल जवानी !
कौन कहता है कि तू
विधवा हुई, खो आज पानी !

चल रहीं घड़ियाँ,
चलें नभ के सितारे,
चल रहीं नदियाँ,
चलें हिम-खण्ड प्यारे,
चल रही है साँस,
फिर तू ठहर जाये !
दो सदी पीछे कि
तेरी लहर जाये !

पहन ले नर - मुण्ड - माला,
उठ, स्वमुंड सुमेरु कर ले;
भूमि-सा तू पहन बाना आज धानी
प्राण तेरे साथ हैं, उठ री जवानी !

द्वार बलि का खोल
चल, भूडोल कर दें,
एक हिम-गिरि एक सिर
का मोल कर दें,
मसल कर, अपने
इरादों-सी, उठा कर,
दो हथेली हैं कि
पृथ्वी गोल कर दें ?

रक्त है ? या है नसों में क्षुद्र पानी !
जाँच कर, तू सीस दे दे कर जवानी ?

वह कली के गर्भ से, फल—
रूप में, अरमान आया।

देख लो मीठा इरादा, किस
तरह, सिर तान आया !
डालियों ने भूमि पर लटका
दिये फल, देख आली !
मस्तकों की दे रही
संकेत कैसे, वृक्ष-डाली !

फल दिया ? या सिर दिया ? तरु की कहानी,
गूँथ कर युग में, बताती चल जवानी !

श्वान के सिर हो—
चरण तो चाटता है !
भौंक ले—क्या सिंह
को वह डाँटता है ?
रोटियाँ खायीं कि
साहस खा चुका है,
प्राणि हो, पर प्राण से
वह जा चुका है।

तुम न खेलो ग्राम-सिंहों में भवानी !
विश्व की अभिमान मस्तानी जवानी !

ये न मग हैं, तव
चरण की रेखियाँ हैं,
बलि दिशा की अमर
देखा-देखियाँ हैं।
विश्व पर, पद से लिखे
कृति लेख हैं ये,
धरा तीर्थों की दिशा,
की मेख हैं ये।

प्राण-रेखा खींच ये, उठ बोल रानी,
री मरण के मोल की चढ़ती जवानी।

टूटता-जुड़ता समय
'भूगोल' आया,
गोद में मणियाँ समेट
खगोल आया,
क्या जले बारूद ?—
हिम के प्राण पाये !
क्या मिला ? जो प्रलय
के सपने न आये।
धरा ?—यह तरबूज
है दो फाँक कर दे,
चढ़ा दे स्वातन्त्र्य-प्रभु पर अमर पानी।
विश्व माने—तू जवानी है, जवानी !"

लाल चेहरा है नहीं—
फिर लाल किसके ?
लाल खून नहीं ?
अरे, कंकाल किसके ?
प्रेरणा सोयी कि
आटा-दाल किसके ?
सिर न चढ़ पाया
कि छाया-माल किसके ?
नेह की वाणी कि हो आकाश-वाणी,
धूल है जो जग नहीं पायी जवानी।"
विश्व है असि का ?—
नहीं संकल्प का है।
हर प्रलय का कोण
काया - कल्प का है,
फूल गिरते; शूल
शिर ऊँचा लिये हैं,

रसों के अभिमान
को नीरस किये हैं।
खून हो जाये न, तेरा देख, पानी,
मरण का त्यौहार, जीवन की जवानी।

—— ——

कलिका से—, कलिका की ओर से—
—'क्यों मुसकातीं? बोलो आली!
जाड़ा है, रात अँधेरी है,
सन्नाटा है, जग सोया है
फिर यह काँटों की टहनी है,
कैसे मुसका उट्ठीं आली?'
—'क्या तुम्हें रात में दीख रहा?—
तुम योगी हो? अथवा उलूक?
क्यों हास्य बिखरता है बोलो
कर कर मृदु सम्पुट टूक टूक?'
—'क्यों आँख खोल दी,
क्या अपना जग,
फूला-फूला-सा दीखा?
क्या मुँदी आँख मे,
यह सपना जग
भूला-भूला-सा दीखा?
क्या इन पत्तों ने
जगा दिया कुछ
जाग जाग कर सूने में?
क्या जाग्रति की
पुकार सुन ली
जागना छू लिया छूने में?'

आयी बहार, मैं उसके ही
चरणों पर नत हो, झुकी सखी
फिर जी की एक-एक पंखुड़ि,
उस पर बलि मैं कर चुकी सखी।'
—'मैं बलि का गान सुनाती हूँ,
प्रभु के पथ की बनकर फकीर,
माँ, पर हँस-हँस बलि होने में,
खिंच, हरी रहे मेरी लकीर!

——

मेरा उपास्य

"लो आया"—उस दिन जब मैंने सन्ध्या बन्दन बन्द किया,
क्षीण किया सर्वस्व कार्य के उज्ज्वल क्रम को मन्द किया।
द्वार बन्द होने ही को थे,—वायु-वेग बलशाली था,
पापी हृदय कहाँ? रसना में रटने को बनमाली था।
अर्द्ध रात्रि, विद्युति-प्रकाश, घन गर्जन करता घिर आया,
लो जो बीते सहूँ—कहूँ क्या, कौन कहेगा—"लो आया"॥
"लो आया"—छप्पर टूटा है वातायन दीवारें हैं,
पल पल में विह्वल होता हूँ, कैसी निर्दय मारें हैं।
बह जाने दो—कर्म धर्म की सामग्री बह जाने दो,
थोड़े चावल के कण हैं....................जाने दो!
मैं गिर गया, कहा—क्या तू भी भूल गया ममता माया;
सुनता था दुखिया पाता है—तू कहता है—"लो आया"॥
"लो आया"—हा! वज्र-वृष्टि है, निर्बल! सह ले किसी प्रकार,
मेरी दीन पुकार, धन्य है उचित तुम्हारी निर्दय! मार;
आराधना, प्रार्थना, पूजा, प्रेमांजली, विलाप कलाप;
"तेरा हूँ, तेरे चरणों में हूँ"—पर कहाँ पसीजे आप!
सहता गया—जिगर के टुकड़ों का बल,—पाया, हाँ पाया;
आशा थी—वह अब कहता है—अब कहता है—"लो आया"॥

"लो आया"—हा हन्त ! त्याग कर दुखिया ने हुंकार किया,
सब सहने जीवित रहने के लिए हृदय तैयार किया।
साथ दिया प्यारे अंगों ने, लो कुछ शीश उठा पाया,
जलते ही पर शीतल बूँदें ! बिजली ने पथ चमकाया !
पर यह क्या ? झोंकों पर झोंके—उई, बस बढ़ कुछ झुँझलाया,
थर्राया अकुलाया—हाँ सब कुछ दिखला लो "लो आया"॥

हाथ पाँव हिल पड़े, हुआ हाँ सन्ध्या वन्दन बन्द हुआ,
ईंटें पत्थर रचता हूँ—स्वाधीन हुआ ! स्वच्छन्द हुआ,
टूटी, फूटी, कुटी,—पधारो !—नहीं, यहाँ मेरे आवें,
मेरी, मेरी, मेरी कह प्यारे चरणों से चमकावें।
दीन, दुखी, दुर्बल, सबलों का विजयी दल कुछ कर पाया;
नभ फट पड़ा—उजेला छाया,—गूँज उठा—"लो, आया"॥

यह चरण-ध्वनि धीमे-धीमे

यह चरण-ध्वनि धीमे-धीमे !

भाग्य खोजता है जीवन के
खोये गान ललाम इसी में,
यह चरण-ध्वनि धीमे-धीमे !

अन्धकार लेकर जब उतरी
नव - परिणीता राका रानी,
मानो यादों पर उतरी हो
खोई - सी पहचान पुरानी;

तब जाग्रत सपने में देखा
मेरे प्राण उदार बहुत हैं !
पर झिलमिल तारों में देखा
'उनके पथ के द्वार बहुत हैं',

गति न बढ़ाओ, किस पथ आऊँ,
भूल गया अभिराम इसी में,
यह चरण-ध्वनि धीमे-धीमे !

जब स्वर्गंगा के तारों ने
आँखों के तारे पहिचाने
कोटि-कोटि होने का न्यौता
देने लगे गगन के गाने,

मैं असफल प्रयास, यौवन के
मधुर शून्य को अंक बनाऊँ,
तब न कहीं, अनबोली घड़ियों
तेरी साँसों को सुन पाऊँ।

मन्दिर दूर, मिलन - बेला—
आगई पास, कुहराम इसी में
यह चरण-ध्वनि धीमे-धीमे!

बाँट चले अमरत्व और विश्वास
कि मुझसे दूर न होंगे!
मानो ये प्रभात तारों से
सपने चकनाचूर न होंगे।

पर ये चरण, कौन कहता है
अपनी गति में रुक जावेंगे,
जिन पर अग-जग झुकता है
वे मेरे खातिर झुक जावेंगे!

अर्पण! और उधार करूँ मैं!
'हारों' का यह दाम! लुटी मैं!
यह चरण-ध्वनि धीमे-धीमे!

चिड़ियाँ चहकीं, तारों की—
समाधि पर, नभ चीत्कार तुम्हारी
आँख-मिचौनी में राका-रानी
ने अपनी मणियाँ हारीं।

इस अनगिन प्रकाश से,
गिनती के तारे कितने प्यारे थे!

मेरी पूजा के पुष्पों से
वे कैसे न्यारे-न्यारे थे !

देरी, दूरी, द्वार-द्वार, पथ—
बन्द, न रोको श्याम इसी में।
यह चरण-ध्वनि धीमे-धीमे !

हो धीमे पद-चाप, स्नेह की
जंजीरें सुन पड़े सुहानी,
दीख पड़े उन्मत्त, भारती,
कोटि-कोटि सपनों की रानी।

यहीं तुम्हारा गोकुल है,
वृन्दावन है, द्वारिका यहीं है;
यहीं तुम्हारी मुरली है,
लकुटी है, वे गोपाल यहीं है!

'गोधूली' का कर सिंगार,
मग जोह-जोह लाचार झुकी मैं।
यह चरण-ध्वनि धीमे-धीमे!

पुतलियों में कौन ?

पुतलियों में कौन ?
अस्थिर हो, कि पलकें नाचती हैं।
विन्ध्य-शिखरों से
तरल सन्देश मीठे
बाँटता है कौन
इस ढालू हृदय पर ?
कौन पतनोन्मुख हुआ
दौड़ा मिलन को ?
कौन द्रुत-गति निज
पराजय की विजय पर ?

पत्र के प्रतिविम्ब, धारों पर
विकल छवि बाँचती है,
पुतलियों में कौन ?
अस्थिर हो, कि पलकें नाचती हैं !
बिना गूँथे, कौन
मुक्ताहार बन कर ,
सिंधु के घर जा
रहा, पहुँचा रहा है ?
कौन अन्धा, अल्प
का सौन्दर्य ढोता ,
पूर्ण पर अस्तित्व
खोने जा रहा है ?
कौन तरणी इस पतन का
वेग जी से जाँचती है ?
पुतलियों में कौन ?
अस्थिर हो, कि पलकें नाचती हैं !
धूलि मे भी प्राण है
जल-दान तो कर ,
धूलि में अभिमान है
उठे हरे सर ,
धूलि मे रज-दान है
फल चख मधुर तर ,
धूलि में भगवान है
फिरता घरों घर ,
धूलि में ठहरे बिना, यह
कौन-सा पथ नापती है
पुतलियों में कौन ?
अस्थिर हो, कि पलकें नाचती हैं !

———

मुकुटधर पाण्डेय

आराधना

प्रभु मन्दिर की नीरवता में
कर विलीन अपने मन प्राण,
धर्मधुरीण हिन्दुओं को है,
धरते देखा मैंने ध्यान।

देखा है करते मसजिद में
मुल्ला को भी दीर्घ पुकार,
पड़ी कान में गिरजाघर की
मधुर प्रार्थना की स्वर धार।

पर वर्षा ऋतु की ऊष्मा में,
होकर श्रम से क्लान्त महान,
हल जोतते किसान छेड़ता
है जब अपनी लम्बी तान।

सुन तब उसे वाटिका से निज
करता मैं उर बीच विचार,
खेतों मे यों आर्त्तस्वर से
यह किसको है रहा पुकार!

या कि शिशिर की शीत-निशा में
मींज रहा हो जब वह धान,
सुनता तब शैया पर से मैं
उसका करुणा-पूरित गान।

भर जाता है जी, नेत्रों से—
निद्रा करती शीघ्र प्रयाण,
हृदय सोचता—जलते किसके
विरहानल से इसके प्राण।

——

मुकुटधर पाण्डेय

अधीर

यह स्निग्ध सुखद सुरभित-समीर ,
कर रही आज मुझको अधीर ;
किस नील उदधि के कूलों से ,
अज्ञात वन्य किन फूलों से ।

इन नव-प्रभात मे लाती है ,
जाने यह क्या वार्ता गभीर ;
प्राची में अरुणोदय-अनूप ,
है दिखा रहा निज दिव्य रूप ।

लाली यह किसके अधरों की ,
लख जिसे मलिन नक्षत्र-हीर ;
विकसित सर में किंजल्क जाल ,
शोभित उन पर नीहार-माल ।

किस सदय-बन्धु की आँखों से ,
है टपक पड़ा यह प्रेम-नीर ;
प्रस्फुटित मल्लिका पुंज पुंज
कमनीय माधवी कुंज कुंज ।

पीकर कैसी मदिरा प्रमत्त—
फिरती है निर्भय भ्रमर-भीर ;
यह प्रेमोत्फुल्ल पिकी प्रवीण ,
कर भाव-सिन्धु में आत्मलीन ।

मंजरित आम्र तरु में छिपकर ,
गाती है किसकी मधुर-गीर ;
है धरा बसन्तोत्सव - निमग्न ,
आनन्द-निरत कल गान-लग्न ।

रह रह मेरे ही अन्तर में
उठती यह कैसी आज पीर;
यह स्निग्ध सुखद सुरभित समीर
कर रही आज मुझको अधीर।

रूप का जादू

निशिकर ने आ शरद-निशा में,
बरसाया मधु दशों दिशा में,
विचरण करके नभोदेश में, गमन किया निज धाम।
पर चकोर ने कहा भ्रान्त हो,
प्रिय-वियोग दुख से अशान्त हो,
गया, छोड़, करके जीवनधन, मुझे कहाँ! हा राम॥

हुआ प्रथम जब उसका दर्शन,
गया हाथ से निकल तभी मन,
सोचा मैंने—यह शोभा की सीमा है प्रख्यात।
वह चित-चोर कहाँ बसता था,
किसको देख देख हँसता था;
पूँछ सका मैं उसे मोहवश नहीं एक भी बात॥

मैंने उसको हृदय दिया था,
रुचिर रूप-रस पान किया था,
था न स्वप्न में मुझको उसकी निष्ठुरता का ध्यान।
मन तो मेरा और कहीं था,
मुझको इसका ज्ञान नहीं था;
छिपा हुआ शीतल किरणों में है मरुभूमि महान॥

अच्छा किया मुझे जो छोड़ा ,
मुझसे उसने नाता तोड़ा ;
दे सकता अपने प्रियतम को कभी नहीं मैं शाप ।
इतना किन्तु अवश्य कहूँगा ,
जब तक उसको फिर न लहूँगा ,
तब तक हृदय हीन जीवन में है केवल सन्ताप ॥

कुररी के प्रति

(१)

बता मुझे ऐ विहग विदेशी ! अपने जी की बात ,
पिछड़ा था तू कहाँ, आ रहा जो कर इतनी रात ?
निद्रा में जा पड़े कभी के, ग्राम्य मनुज स्वच्छन्द ,
अन्य विहग भी निज खोतों में सोते हैं सानन्द ।
इस नीरव-घटिका में उड़ता है तू चिन्तित गात ,
पिछड़ा था तू कहाँ हुई क्यों तुझको इतनी रात ॥

(२)

देख किसी माया-प्रान्तर का चित्रित चारु दुकूल ?
क्या तेरा मन मोह-जाल में गया कहीं था भूल ?
क्या उसकी सौन्दर्य-सुरा से उठा हृदय तव ऊब ?
या आशा की मरीचिका से छला गया तू खूब ?
या होकर दिग्भ्रान्त लिया था तूने पथ प्रतिकूल ?
किसी प्रलोभन में पड़ अथवा गया कहीं था भूल ?

(३)

अन्तरिक्ष में करता है तू क्यों अनवरत विलाप ,
ऐसी दारुण व्यथा तुझे क्या, है किसका परिताप ?
किसी गुप्त दुष्कृति की स्मृति क्या उठी हृदय में जाग ,
जला रही है तुझको अथवा प्रिय-वियोग की आग ?
शून्य गगन में कौन सुनेगा तेरा विपुल विलाप ,
बता कौन-सी व्यथा तुझे है, है किसका परिताप ?

(४)

यह ज्योत्स्ना रजनी हर सकती क्या तेरा न विषाद ,
या तुझको निज जन्मभूमि की सता रही है याद ?
विमल व्योम में टँगे मनोहर मणियों के ये दीप ,
इन्द्रजाल तू उन्हें समझकर जाता है न समीप ?
यह कैसा भयमय विभ्रम है कैसा यह उन्माद ,
नहीं ठहरता तू, आई क्या तुझे गेह की याद ?

(५)

कितनी दूर ? कहाँ ? किस दिशि में तेरा नित्य निवास ?
विहग विदेशी आने का क्यों किया यहाँ आयास ?
वहाँ कौन तारागण करता है आलोक - प्रदान ,
गाती है तटिनी उस भू की बता कौन-सा गान ?
कैसी स्निग्ध समीर चल रही ? कैसी वहाँ सुवास ,
किया यहाँ आने का तूने कैसे यह आयास ?

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

हिन्दुस्थान हमारा है

१

कोटि कोटि कण्ठों से निकली
आज यही स्वर - धारा है,
भारतवर्ष हमारा है, यह
हिन्दुस्थान हमारा है।

जिस दिन सबसे पहले जागे,
नव-सिरजन के स्वप्न घने,
जिस दिन देश-काल के दो-दो
विस्तृत विमल वितान तने,
जिस छिन नभ में तारे छिटके,
जिस दिन सूरज-चाँद बने,
तब से है यह देश हमारा,
यह अभिमान हमारा है।
भारतवर्ष हमारा है, यह
हिन्दुस्थान हमारा है।

२

जब कि घटाओं ने सीखा था
सबसे पहले घहराना,
पहले पहल हवाओं ने जब
सीखा था कुछ हहराना,
जब कि जलधि सब सीख रहे थे
सबसे पहले लहराना,
उसी अनादि आदि-क्षण से यह
जन्म - स्थान हमारा है।
भारतवर्ष हमारा है, यह
हिन्दुस्थान हमारा है।

३

जिस क्षण से जड़ रजकण गतिमय
होकर जंगम कहलाये,
जब विहँसी प्रथमा ऊषा वह,
जब कि कमल-दल मुस्काये,
जब मिट्टी में चेतन चमका,
प्राणों के झोंके आये,
है तब से यह देश हमारा,
यह मन-प्राण हमारा है!
भारतवर्ष हमारा है, यह
हिन्दुस्थान हमारा है।

४

यहाँ प्रथम मानव ने खोले
निंदियारे लोचन अपने,
इसी नभ तले उसने देखे
शत-शत नवल-सृजन सपने,
यहाँ उठे, 'स्वाहा!' के स्वर औ
यहाँ स्वधा के मन्त्र बने;
ऐसा प्यारा देश पुरातन
ज्ञान-निधान हमारा है!
भारतवर्ष हमारा है, यह
हिन्दुस्थान हमारा है।

५

सतलज, व्यास, चिनाव, वितस्ता,
रावी, सिन्धु तरंगवती,
यह गंगा माता, यह यमुना
गहर - लहर रस - रंगवती,
ब्रह्मपुत्र, कृष्णा, कावेरी,
वत्सलता - उत्संग - मती,

इनसे प्लावित देश हमारा,
यह रसखान हमारा है।
भारतवर्ष हमारा है, यह
हिन्दुस्थान हमारा है।

६

विन्ध्य, सतपुड़ा, नागा, खसिया,
ये दो औघट घाट महा,
भारत के पूरब - पच्छिम के
ये दो भीम कपाट महा;
तुंग-शिखर, चिर-अटल हिमाचल
है पर्वत - सम्राट यहाँ,
यह गिरिवर बन गया युगों से
विजय - निशान हमारा है।
भारतवर्ष हमारा है, यह
हिन्दुस्थान हमारा है।

७

क्या गणना है कितनी लम्बी
हम सबकी इतिहास - लड़ी ?
हमें गर्व है कि है बहुत ही
गहरे अपनी नींव पड़ी।
हमने बहुत बार सिरजी हैं
कई क्रान्तियाँ बड़ी बड़ी,
इतिहासों ने किया सदा ही
अतिशय मान हमारा है।
भारतवर्ष हमारा है, यह
हिन्दुस्थान हमारा है।

८

है आसन्न-भूत अति उज्ज्वल,
है अतीत गौरवशाली,

ओ छिटकी है वर्तमान पर
बलि के शोणित लाली,
नव-ऊषा-सी विजय हमारी
विहँस रही है मतवाली ;
हम मानव को मुक्त करेंगे,
यही विधान हमारा है !
भारतवर्ष हमारा है, यह
हिन्दुस्थान हमारा है।

गरज उठे चालीस कोटि जन
सुन ये वचन उछाह-भरे,
काँप उठे प्रतिपक्षी जनगण,
उनके अन्तस्तल सिहरे ;
आज नये युग के नयनों से
ज्वलित अग्नि के पुंज झरे !
कौन सामने आयेगा ? यह
देश महान हमारा है !
भारतवर्ष हमारा है, यह
हिन्दुस्थान हमारा है।

पराजय-गीत

१

आज खड्ग की धार कुंठिता
है, खाली तूणीर हुआ,
विजय-पताका झुकी हुई है,
लक्ष्य-भ्रष्ट यह तीर हुआ,
बढ़ती हुई कतार फौज की
सहसा अस्तव्यस्त हुई,
त्रस्त हुई भावों की गरिमा,
महिमा सब संन्यस्त हुई।

मुझे न छेड़ो इतिहासों के
पन्नो ! मैं गतवीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुंठिता
है, खाली तूणीर हुआ।

२

मैं हूँ विजित, जीत का प्यासा,
कहो भूल जाऊँ कैसे !
वह संघर्षण की घटिका है
बसी हुई हिय में ऐसे—
ज्यों माँ की गोदी में शिशु का
मृदु दुलार बस जाता है;
जैसे अंगुलीय में मरकत
का नव नग कस जाता है।
विजय, विजय रटते रटते यह
मम मनुआ कलकीर हुआ,
फिर भी असि की धार कुंठिता
है, खाली तूणीर हुआ।

३

गगन भेद कर वरद करों ने
विजय प्रसाद दिया था जो,
जिसके बल पर किसी समय में
मैंने विजय किया था जो,
वह सब आज टिमटिमाती स्मृति
दीप शिखा बन आया है,
कालान्तर ने कृष्ण आवरण
में उसको लिपटाया है।
गौरव गलित हुआ गुरुता का,
निष्प्रभ क्षीण शरीर हुआ,

आज खड्ग की धार कुंठिता
है, खाली तूणीर हुआ।

४

एक सहस्र वर्ष की माला
मैं हूँ उलटी फेर रहा;
गत युग के गुम्फित मनकों को
फिर फिर कर मैं हेर रहा;
घूम गया जो चक्र, उसीकी
ओर देखता जाता हूँ,
इधर उधर चहुँ ओर पराजय
की ही मुद्रा पाता हूँ;
आँखों का ज्वलन्त क्रोधानल
क्षीण दैन्य का नीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुंठिता
है, खाली तूणीर हुआ।

५

विजय सूर्य ढल चुका, अँधेरा
आया है रखने को लाज,
कहीं पराजित का मुख देख न
ले यह विजयी कुटिल समाज,
आँचल कहाँ फटा आँचल वह!
माँ का प्यारा वस्त्र कहाँ!
अर्ध नग्न, रुग्णा, कपूत की
माँ का लज्जा-अस्त्र कहाँ!
कहो छिपाऊँ यह मुख अपना!
खोकर विजय फकीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुंठिता
है, खाली तूणीर हुआ।

६

जहाँ विजय के प्यासे सैनिक
हुए आँख की ओट कई,
जहाँ जूझ कर मरे अनेकों,
जहाँ खा गये चोट कई,
वहीं आज सन्ध्या को, बैठा
मैं हूँ, अपनी निधि छोड़े,
कई सियार, श्वान, गीदड़ ये
लपक रहे दौड़े दौड़े,
विजित साँझ के झुटपुटे समय
कर्कश रव गम्भीर हुआ,
आज खड्ग की धार कुंठिता
है, खाली तूणीर हुआ।

७

रग रग में ठंडा पानी है,
अरे, उष्णता चली गई,
नस नस में टीसें उठती हैं,
विजय दूर तक टली सही,
विजय नहीं रण के प्रांगण की
धूल बटोरे लाया हूँ,
हिय के घावों में, वर्दी के
चिथड़ों में ले आया हूँ,
टूटे अस्त्र, धूल माथे पर
हा! कैसा मैं वीर हुआ!
आज खड्ग की धार कुंठिता
है, खाली तूणीर हुआ!

८

वर्दी फटी, हृदय घायल,
कारिख मुख पर, क्या वेश बना!

आँखें सकुचीं, कायरता के
पंकिल से सब देश सना,
अरे पराजित, रण चंडी के
औ कपूत! हट जा हट जा,
अभी समय है, कह दे माँ,
मेदिनी जरा फ़ट जा फट जा!
हन्त पराजय-गीत आज क्या
द्रुपद-सुता का चीर हुआ!
खिंचता ही आता है जब से
खाली यह तूणीर हुआ।

सुन्दर

ओ सौन्दर्य-उपासक, तुमने
सुन्दर का स्वरूप क्या जाना?
मधुर, मंजु, सुकुमार, मृदुल ही
को क्या तुमने सुन्दर माना?
क्यों देते हो चिर सुन्दर को
इतने छोटे सीमा-बन्धन?
कठिन, कराल, ज्वलंत, प्रखर भी
है सौंदर्य्य-प्रकेत चिरंतन!
कल-कल, टल-मल, सर-सर, मर्मर,
यही नहीं सुन्दर की वाणी,
इन्द्र-वज्र ध्वनि भी है उसकी
गहर गमीर गिरा कल्याणी।
क्या सुन्दर बोला है तुमसे
अब तक केवल विहँस-विहँस कर?
क्या तुमने देखा है उसका
केवल मंजुल रूप हृदय-हर?

क्या तुमने न लखा है अब तक
सुन्दर का विकराल स्वयंवर ?
क्या न निरख पाये हो अब तक
उसका उग्र-रूप प्रलयंकर ?
लो, तब तो है अभी तुम्हारी
सुन्दर की साधना अधूरी !
नहीं कर सके हो तुम अब तक
सुन्दर की उपासना पूरी !
अरे, सुमन ही क्या ? सुन्दर के
तो हैं ये पाहन भी पाहुन !
गर्जन भी है वहाँ ! नहीं है
केवल मधुपों की ही गुन-गुन !
मत समझो मलयानिल ही है
उसका शीतोच्छ्वास भला-सा ;
अनलानिल भी नित्य उच्छ्वसित
करती ही है उसकी नासा ;
फूलों पर ही नहीं, कंटकों
पर भी है सुन्दर का नर्त्तन ;
सुखद, दुखद, यह तो है केवल
उसका क्षणिक रूप परिवर्त्तन ।
है जीवन के एक हाथ में
मधुर जीवनामृत का प्याला,
और, दूसरे कर में उसके
है कटु मरण-हलाहल-हाला !
एक आँख से निकल रही है
सर्व-दहन की वह्नि अपारा,
और दूसरी से बहती है
नित्य करुण जल-कलकल-धारा !

चिर सुन्दर के किस स्वरूप का ,
कहो, करोगे तुम अभिनन्दन ?
सदा रहेगा क्या सीमित ही
तव पूजन, अर्चन, अभिवन्दन ?
ललित, चारु, लघु, कोमल तनु पर ,
हिय' न्यौछावर करने वालो ,
मधुर, मधुर, सुकुमार गीत के
तुम मनहर स्वर भरने वालो ,
नहीं हुई है पूर्ण तुम्हारी
सुन्दर की अर्चना अलौकिक ;
चिर सुन्दर का स्तवन तुम्हारा
रहा अभी तक केवल मौखिक ;
जब तक उसकी वह कराल छवि
कर न सकोगे मन से स्वीकृत ,
तब तक नहीं हो सकोगे तुम
सुन्दर के द्वारा अंगीकृत ।
ओज, तेज, विक्रम, बल, दृढ़ता ,
महानाश - क्षमता, निर्ममता ,
अडिग धीरता, कुलिश कठिनता ,
भीम शक्ति मत्ता, चित् समता ,
नित अपराजित सहन शीलता ,
नित्य अकंपित नवल सृजन-रति ,
नित बाधा - भूधर उत्पाटन,
नित्य क्रांति-कृति, नित अबाध गति ,
ऐसा है सौन्दर्य - समुच्चय ,
ऐसा है वह सुन्दर प्रियवर ,
ऐसा है वह जीवन रंजन ,
ऐसी है उसकी छवि हिम-हर ।

मानव की क्या अन्तिम गति-विधि

१

क्या है नर का भाग्य जगत में ?
　　क्या है उसकी अन्तिम गति-विधि ?
आवागमन रेख ही से है
　　क्या चिर-वेष्ठित उसकी सुपरिधि ?
लख निज को, लख इतर जनों को,
　　उगते, बढ़ते औ मुरझाते,
लख घूर्णित गति-चक्र जगत का,
　　ऐसे प्रश्न हिये फुर आते।
क्या है कुछ उद्देश्य ? या कि है
　　केवल निरुद्देश्य जग-संभ्रम ?
मानव का क्या काम यहाँ पर ?
　　निरुद्देश्य है क्या जीवन-क्रम ?

२

मैंने जब जब पूछा 'क्या है ?'
　　तब-तब अनुध्वनि आई 'क्या है ?'
मेरी ध्वनि लौटी बन प्रतिध्वनि ;
　　यह अच्छी भौतिक विद्या है ?
मेरी 'यह क्या है ?' 'क्या है ?' सुन,
　　मानो जग मुँह चिढ़ा रहा है,
अम्बर यह, अज्ञात, अगम से,
　　मुझको मानो भिड़ा रहा है।
क्या है भवितव्यता मनुज की ?
　　उसका भी है क्या अपना पद ?
या उसका जीवन है केवल
　　दस पैने नख, बीस तीक्ष्ण रद ?

३

पीछे मुड़कर मैंने डाले
जन-यात्रा-पथ पर अपने चख ;
उस पर अंकित मुझे मिले हैं,
हिंसक पशुओं के पंजे, नख !
मैं निकला था हूलस ढूँढ़ने
मानव - चरण - चिन्ह-अंकित-मग,
किन्तु मुझे मानव से खाली
लगा अतीत युगों का भी जग !
मैंने लखा आज अपने को,
लखे पार्श्ववर्ती अपने जन,
मैंने अपने मे अन्यों में
लखे रक्त के प्यासे पशु गण !

४

मैंने देखा निज अन्तर में
पंजे फैलाए इक नाहर !
और निहारे कई भेड़िये
गुर्राते अपने से बाहर !
मैं हूँ कौन ? मौन हैं ये सब
सोच रहा हूँ मैं यों पल-पल !
है किनका समाज शोणित-रत,
है किन किनका यह कोलाहल ?
क्या मैं मानव हूँ ? या मैं हूँ ?
केवल कुछ उफान की सन सन ?
क्या मानव मानव है ? या हैं
वे सब घनीभूत उत्तेजन ?

५

कभी कभी तो यों लगता है
कि है जगद् व्यापार अहेतुक ;

यह है इक जंजाल अकारण,
यह है एक बखेड़ा बेतुक।
यह जो चेतना है जग मे
वह भी है मरीचिका-झाँई,
यह जो जीवन लहराता है
वह भी है भ्रम की परछाईं।
नर का ज्ञान भान है केवल,
वानर-कर-करवाल भयंकर,
देखो आज उसीके कारण
फैला है प्रमाद प्रलयंकर।

६

कौन काम इस चेतनता का
चिर-जड़-रज्जुबद्ध इस जग में !
है यह विश्व कालमय दिङ्मय,
चेतन क्यों हो इसके मग में।
देश काल चेतना शून्य हैं,
वे ही हैं ब्रह्माण्ड-विधाता;
ऐसे चिर-निर्जीव विश्व से,
चेतनता का कैसा नाता !
जड़ता है जिसके कण कण में,
जड़ता जिसकी लहर लहर में,
ऐसे जग चेतन आये तो,
वह क्यों हो न खिन्न अन्तर में !

७

जीवनार्थ परमावश्यक है
जहाँ उष्णता भी थोड़ी - सी,
जहाँ प्रकृति चलती रहती है
चिन्मयता से मुहँ-मोड़ी-सी,

७

ऐसे इस ब्रह्माण्ड - मांड में
जिसमे ठुसी भरी है जड़ता,
यदि चेतन कण आ जाएँ तो
मन मे है यह भाव उमड़ता;
कि यह चेतना जगड्वाल में
निरी व्यर्थ अप्रासंगिक है!
मानो प्रकृति कह रही इससेः तुझे
चेतने, धिक् है! धिक् है!

८

आज यही निस्सार भावना
उमड़ रही है अन्तर - तर में,
आज यही लहरें उठती हैं
प्रश्न - मथित मम मानस-सर में;
पर कोई कहता है चुपके:
'किन्तु...' और मैं जग जाता हूँ,
अपनी इति - निश्चितता पर मैं
फिर विचारने लग जाता हूँ:
क्या यह चेतन निरा व्यर्थ है?
क्या मानव आया है यों ही?
ये विचार क्या बना न देंगे
नर को और विकट नर-द्रोही?

९

मैं इस मानव को क्यों कोसूँ?
मैं क्यों धिक्कारूँ जीवन को?
मानव को उप-मानव-सा लख
मैं क्यों मारूँ अपने मन को?
मानव ही ने पहनाई है
प्रकृति-नटी को नूतन साड़ी!

मानव ही उसके सँग खेला,
ऐसा मानव कुशल खिलाड़ी !
मानव ही उसके दुरूहतम
अन्तस्तल में पैठा अचलित ;
मानव ही ने उसे दिया है
नियमों का पाटम्बर सुललित !

१०

चेतन बिन जो निपट अंध थी,
उसके हुए अनेकों लोचन ;
चेतन संग हुआ गठ-बन्धन ;
माथे जीवन - कुंकुम - रोचन !
हुई कुमारी जब परिणीता,
भागा दूर द्विधा का घनतम !
उन दोनों के सह-मन्थन का
मानव निकला फल सर्वोत्तम !
लख मानव की यह अपूर्णता
क्यों विराग मेरे हिय जागे ?
उसकी गति इति नहीं हुई है ;
वह तो और बढ़ेगा आगे ।

११

क्या आश्चर्य कि जन-यात्रा-पथ
सिंह-व्याघ्र-नख से हैं अंकित ?
धीरे-धीरे ही होती है
आदिम हिंस्र-वृत्ति अति लंघित ;
उस पथ को कुछ झुककर देखो
तो पाओगे वे चरणांकन,
जिनको निरख हुलस उठते हैं,
जन-गण-लोचन जन-हिय-प्रांगण ?

'वे पद-चिह्न, कि काल-सलिल पर
चिर-ध्रुव-छाप कर गए अंकित,'
'वह मग-रेखा, जो कि भरेगी
युग-युग लौं जन-मन निःशंकित।

१२

मानव की क्या गति होगी यों?
हिय में आज उठे क्यों शंका?
सुनो, सुनो, बज रहा दूर पर
मानव की जय-जय का डंका!
फहर रही है विजय-पताका,
घहर रहे हैं घंटा घन घन;
मावन-मुक्ति-आगमन का यह
श्रवण पड़ रहा गहर तुमुल स्वन।
मत निराश हो, ओ मानव तू,
मत निराश हो ओ हिय मेरे;
देख, दूर पर विहँस रहे हैं,
वे आदर्श प्राण - प्रिय तेरे!

अग्नि दीक्षा काल में

पूछा सन्ध्या ने आज : कवे!
हम शोक मनाएँ या कि हर्ष?
तुम आज कर रहे हो पूरे
चालीस और दो अधिक वर्ष।
यह बयालीसवाँ वर्ष आज
अस्तंगत रवि के साथ चला,
बोलो, किन भावों को लेकर
आयेगी कल ऊषा चपला?
जीवन के इतने वर्ष बने,
धुँधली स्मृतियों के पुंज रूप,

हे कवि ! क्या देखो हो इनमें
तुम कुछ-कुछ अपनापन अनूप !

२

मैंने अवलोका सान्ध्य क्षितिज ,
मैंने अवलोका अपने को ,
इतने वत्सर पूरे करते ,
देखा जीवन के सपने को ।
हो चला कालिमा से मंडित
सन्ध्या-नभ जो था लाल लाल ,
पर दिग्मण्डल पर दिखा पूर्ण
निशिपति हँसता उन्नत, विशाल !
मैंने सन्ध्या से कहा : देवि !
मेरे जीवन की धूप-छाँह ,
है हर्ष शोक से परे आज ,
है बहुत दूर मेरी निगाह ।

३

ओ बयालीसवें वत्सर की
मेरी उत्सुक झुटपटी साँझ !
है स्तब्ध आज इस जीवन की
मादक, गम्भीर मृदंग झाँझ !
गाये हैं मैंने गीत कई ,
रोने रोये हैं कई कई ,
हर सुबह और हर साँझ उठी
हैं दिल में टीसे नई नई ।
क्यों देखूँ मैं पीछे मुड़कर
जीवन का ऊसर, विशद क्षेत्र ,
हे साँझ ! आज आगे को हैं
मेरे ये उत्सुक, युगल नेत्र

४

मेरा अतीत है महाकाव्य
 दुर्बल मानव - क्रीड़ाओं का,
मेरा अतीत है एक पुंज
 हिय की गहरी पीड़ाओं का।
हैं-रहे स्वप्न मम चिर-संगी,
 संगिनियाँ रहीं निराशाएँ,
जीवन-नद में जल-बुद्बुद-सी
 बन बिगड़ीं मम अभिलाषाएँ।
पर सन्ध्ये! आज निरिन्द्रिय औ
 निर्देह भाव की चाह जगी,
कुछ कुछ रहस्य उद्घाटन की
 हिय में यह नूतन लगन लगी।

५

यह जो कहलाता है असीम :
 क्या है सचमुच सीमान्त-हीन?
जिसको विमुक्त कहते हैं वह
 क्या है वास्तव में निज अधीन?
यह जो अनन्त अम्बर है वह
 क्या है इति-शून्य, अशेष-लीन?
अक्षर क्या सचमुच ही न कभी
 होता है किंचित् मात्र क्षीण?
जग रहीं आज ये युग-युग की
 प्रश्नावलियाँ अलसाई - सी,
तड़पन, ऐसी यह जिज्ञासा,
 उठ रही आज बलखाई-सी।

६

मेरे जीवन की संध्या की
 झुटपुट अँधियारी उमड़ रही,

मेरे नयनों में भी तो यह
अब ज्योति-क्षीणता घुमड़ रही ।
तन मे थकान अनुभूत हुई,
मन मे शैथिल्याभास हुआ,
ऐसी घड़ियों में इस शाश्वत
जिज्ञासा का सुविकास हुआ ।
पर्दे के पीछे क्या है, यह
उस समय देखने की सूझी,
जब खत्म हो चली है मेरी
हस्ती की शरीरिक पूँजी !

७

चेतना-लता में लय-भव के
क्यों सुमन फूलते रहते हैं ?
क्यों जन्म-मरण के झूले में
यह प्राण झूलते रहते हैं ?
ये पूर्ण पुरातन प्रश्न-चिह्न
ये चिर-जाग्रत ये चिर-नवीन,
मेरे मानस-पट पर उभरे
फिर से ये पूर्ण रहस्य-लीन,
इन प्रश्नों की उत्सुकता का
मैं आज बना हूँ पुंज-रूप,
दे दो तो उत्तर धीरे से
तुम ओ मेरी संध्ये अनूप ।

८

इच्छा तो है मैं खोल सकूँ
यह भीम भयानक मृत्यु-द्वार,
इच्छा यह है मैं झाँक सकूँ
इस घनावरण के आर पार,

उड़ चले आज मम राजहंस,
सीमान्त-गगन का वक्ष चीर,
अम्बर काँपे, कुछ भेद खुले,
कुछ छलक उठे नभ-गंग-नीर।
अनुमान ज्ञान की नहीं, आज
प्रत्यक्ष ज्ञान की प्यास मुझे,
देखूँ किस क्षण इस जीवन मे
वह नीर-पान कर स्वयं बुझे।

ढुल मुल

१

आज तुम्हारी आँखों में
आँसू देखे तड़पन देखी,
अमित चाह देखी, रिस देखी,
लोक लाज अड़चन देखी।
आज तुम्हारे नयन पुटों मे
सपनों को जगते देखा,
आज, अचानक, सजनि तुम्हारे
हिय की सब धड़कन देखी।

२

अलस शिथिलता लिये, विवशता
लिये, पराजित भाव लिये,
निपट दीनता लिये, सलौने
हिय का संचित चाव लिये।
करुणा भरे दृगों से तुमने
क्यों देखा यों अकुलाके?
आज सभी कुछ प्रकट हो गया,
रहा न रंच दुराव प्रिये।

३

हो जायेगा धीरे धीरे
वही ध्यान इतना गहरा,
यह न पता था, क्योंकि सदा का
जो मैं नौसिखिया ठहरा।
यदि मैं यही जानता होता,
तो क्या यों बढ़ के आता!
सच कहता हूँ, बिठला देता
मैं निज पुतली पर पहरा!

४

आधे-खुले, मुँदे आधे दृग,
यों तुम मुझे निहार रहीं,
विकल छलकती उन आँखों से
अपना सब कुछ वार रहीं;
ओ मेरे प्राणों की पुतली,
बड़ा विकट यह जीवन है,
नित्य लोक संग्रह में आडे
आती हैं दृगधार कहीं!

५

आकांक्षा, एषणा वासना
सुख का नित स्वाहा स्वाहा!
और सनातन निर्दयता से
मन का निपट दमन हाहा!
यही, यही असि धारा पथ है,
ओ मेरी अच्छी रानी,
कैसे कोई कर सकता है,
इस जीवन में मन चाहा!

६

कैसे दिखलाऊँ कि पड़े हैं
मेरे हिय में भी छाले !
तुम्हें चाहता हूँ कितना यह,
कैसे जतलाऊँ बाले !
किन्तु चाह का दाह मात्र ही
इस जीवन का लक्ष्य नहीं,
कर्त्तव्याकर्त्तव्य तत्व के
पड़े हुए हैं हम पाले।

७

मेरा जीवन तो आँसू ही
आँसू की है एक लड़ी,
पर आँसू को उपल बनाना,
बस यह है साधना कड़ी,
आज हृदय की अमल तरलता
अश्म रूप बन जाने दो,
ओ कलिकाक्षि, न भर भर लाओ
अपनी आँखें घड़ी घड़ी।

८

आज ज्वार आया है हिय में !
हाँ तूफान भयंकर है,
मुझे सम्हालो, प्रिये, तुम्हारा
यह प्रवाह प्रलयंकर है,
बँधी हुई है भ्रलपाश के
कच्चे धागे में जगती,
यों ही रहने दो न बहाओ,
यह बन्धन शुभ शंकर है।

९

आज पान देते ही देते,
छलका नयनों से पानी,
देख तुम्हारी यह आतुरता
मेरी मति गति अकुलानी,
मेरे धीरज की भी कोई
सीमा है, कुछ सोचो तो!
देख अश्रु ये भड़क उठेगी
मेरी भावुक नादानी।

१०

ओ सजनी, अब तो आ पहुँची
मदन दहन की यह बेला,
दीख पड़े है अब उखड़ा-सा
केलि कुतूहल का मेला,
उजड़ चला है प्रेम-प्राण का
हाट बाट सूनी-सी है,
रहने दो एकाकी मुझको
हूँ एकोऽहं अलबेला।

११

यों ही, इस सूने जीवन में,
संग मिला है कभी कभी,
किन्तु अचिर ही रहे हृदय के
मेरे ग्राहक वर्ग सभी,
कुछ क्रीड़ा-सी करते आये,
कुछ शरमाए, कुछ झिझके,
एक मधुर सौदा तो देखो
टूट चुका है अभी अभी।

१२

कुछ ऐसा ही-सा विधान है,
मेरे इस लघु जीवन का
कि बस नहीं मिलने का मुझको
चिरसंगी मेरे मन का,
तुम हो! ओ भोली, पगली हो,
बन्धुर मेरा पन्थ बड़ा,
बड़ा कठिन है, सजनि, निभाना
किसी मस्त प्रेमी जन का।

१३

यह ठगिनी आशा यौवन की,
यह विषादमय स्फूर्ति निरी,
मदिर चाह यह, विकट प्यास यह,
यह सन्तोष - अपूर्ति निरी,
ये सब बना चुकी हैं मेरा,
जीवन एक तमाशा - सा,
देख चुका हूँ मैं बहुतेरी
शून्य मृत्तिका - मूर्ति निरी।

१४

अब तो रंच सँभल जाने दो,
इतना यौवन बीत चुका,
एक बार तो कह लेने दो,
कि "मैं स्वयं को जीत चुका"।
अब झटके पर झटके मत दो,
तनिक रज्जु ढीली कर दो,
ग्रीव झुक गई है यह मेरी,
यह मस्तक भी अहो, झुका।

१५

हाथ जोड़ता हूँ, न बहाओ,
दो लोचन - मुक्ता - धारा,
जीवन-पथ में कीच मचेगी,
फिसलूँगा मैं बेचारा,
मेरे ऊँचे, नीचे सँकरे
पथ को पंकिल तुम न करो,
कीच और क्यों? पहले से ही
है जीवन पथ अँधियारा।

भ्रम जाल

१

जिस दिन उठती हुई जवानी
आई मेरे द्वार,
बदल गया है उसी दिवस से
जीवन का व्यापार,
टुकड़े टुकड़े हुई शृंखला
लोक लाज की, देवि,
हरदम यहाँ चढ़ा रहता है
एक अजीब बुखार।

२

मन में रंग विरंगापन है,
अधरों में है प्यास,
आँखों में अधीर अन्वेषण
का भर रहा प्रयास;
श्वास और निःश्वासों में है
चिन्तन का रण-रंग,
हिय की द्रुतगति-मय धड़कन में
भरी हुई है आस।

३

देवि भुजाओं में आलिंगन
का भर रहा उछाह,
रोम रोम में समा गई है
घुल मिलने की चाह,
छिन छिन में यह देह कंटकित
हो उठती है खूब,
होता ही रहता है निशि-दिन
इस जीवन में दाह।

४

इस मेरे मस्तिष्क देश में
है असीम उन्माद,
और एक अप्राप्त वस्तु का
मन में भरा विषाद,
जीवन में शून्यता भरी है
और तीव्र अनुराग,
धरम करम की, पाप पुण्य की,
भूल चुका हूँ याद।

५

पथ के टेढ़े मेढ़ेपन की
मुझे न थी परवाह,
पर, न याद था मुझे कि यह तो
गहरी भी है राह,
कितना गहरा उतर गया हूँ
सहसा मैं अनजान,
नहीं पा सका हूँ अब तक जो,
सखि, मैं अपनी थाह।

६

इस घहरे में घना अँधेरा
फैल रहा है प्राण,
और तरल भावना - वीचियाँ
लहरा रहीं अजान;
डूबा - डूबा - सा लगता है
मेरा सब संसार,
खोया - खोया - सा लगता है
यह जीवन सुनसान।

७

पाप-पुण्य के फलाफलों का,
देवि, न हो उपदेश,
नय-अनयों के इस विमर्श का
तुम न करो अब क्लेश;
सजनि, कौन हलका है मेरे,
इस यौवन का बोझ,
फिर कैसा यह पाप-पुण्य का
बोझा औ विशेष?

८

यूँ भुज भर कर हिये लगाना
है क्या कोई पाप?
या अधखुले दृगों का चुम्बन
है क्या पाप - कलाप?
कुन्तल से क्रीड़ा करना भी
है क्या कोई दोष?
देवि, बताओ तो इसमें है
कहाँ पाप - सन्ताप?

९

मदमाते हो करके फिरना,
रहना नित अलमस्त,
निशि दिन अपनी वस्तु खोजना
होकर तन्मय, व्यस्त,
इसमें कहाँ पाप है, प्रमदे!
कहाँ अनीति - विकार,
यह तो है जीवन की महिमा,
नित्य, अचल, कूटस्थ!

१०

नीति-अनीति विचारों में है
मन - सम्भ्रम - मय भूल,
जग की पाप-पुण्य की बातें
हैं ये ऊल - जलूल,
जीवन के जो प्रबल तकाजे,
वे कहलाते पाप;
क्या ही झोंक रही है दुनियाँ
यूँ आँखों में धूल।

११

यदि अस्तित्व पाप का है तो
जग है, पाप - प्रसूत,
तो फिर कैसे हो सकता है
यहाँ पुण्य - उद्भूत!
धर्म-पुण्य की शिथिल भावना
है मन कल्पित बात,
देवि, मुझे तो नहीं हुआ है
यहाँ पाप अनुभूत!

१२

जरा झूम उठना लहराकर,
हो जाना मदहोश,
जरा थाम लेना मुट्ठी में
इस हिय का आक्रोश,
मिट्टी के कूजों को देना
हलके हलके प्यार,
क्या है यही पाप, सखि यह तो ?
है यौवन का जोश।

१३

हिय के लेन-देन में बाले,
कहाँ पाप की रेख ?
पाप पुण्य का है कुछ यों ही
उलटा-सीधा लेख;
उलझ रहा है जग दुनियाँ से
इस भ्रम में अनजान,
पाप कहाँ है ? पाप मुझे तो
कहीं न पड़ता देख।

१४

पाप ? देवि, है पाप निगोड़ी
जड़ता का अविवेक,
पाप भाव है कायरता का
आध्यात्मिक अतिरेक;
अपनी छाया से भी डरना,
बस, है यही अधर्म !
लोगों ने भी बना रखा है
अजब तमाशा एक !

१५

दो दो आँखें लड़ लड़ कर जब
हो जाती हैं चार,
जब अपने ही से डरता है
नयनों से नीहार,
आग और पानी जब खेलें
मानस में, तब देवि,
पाप - पुण्य की व्यर्थ भावना
हो जाती है क्षार।

१६

अगर पाप है तो यह है इस
जीवन का सोपान,
अगर पाप है तो यह है इस
यौवन का सम्मान।
जोग क्षेम की, प्रेय-श्रेय की
मुझे नहीं परवाह,
इतना जानूँ हूँ कि नेह में
नहीं पाप नादान;

१७

इसीलिए कहता हूँ, बाले,
तोड़ो यह भ्रम जाल,
रंच निहारो आ पहुँचा है
अब तो यौवन काल,
हाय सुमिरिनी नहीं फबेगी,
इस यौवन में देवि,
कुसुमों की भी हो सकती है
लम्बी लम्बी माल।

आकांक्षा का शव

१

मैं अपनी आकांक्षा का शव
कन्धे पर डाले घूम रहा,
मैं इस दिक्काल हिंडोले में
ऊपर नीचे झुक झूम रहा!
है नहीं शम्भु-व्यामोह मुझे,
मैं नहीं पिनाकी प्रलयंकर;
वे हैं अकाल, मैं काल-बद्ध,
मैं मानव हूँ, वे शिवशंकर।
वे सती देह ले घूमे थे;
मम काँधे आकांक्षा का शव!
मेरी उनकी क्या समता हो?
देवाधिदेव वे, मैं मानव!

२

मैं बोलाः अरी नियति तू दे
पूर्णता, या कि दे अंगारे,
अध बिच में मानव को रखकर
तू पीस पीस कर क्यों मारे?
मैं हूँ मानवता का प्रतीक;
मेरी दुर्दशा निहार, अरी,
जीवन-नलिका है निरी रिक्त;
बाहर से लगती भरी-भरी।
है नहीं स्कन्ध पर उत्तरीय,
लिपटा है शव आकांक्षा का;
मैं मानव-विभ्रम डोल रहा,
लादे बोझा निज वांछा का!

३

मेरी असफल आकांक्षा यह
असमय मर गई बिना बोले,
पड़ गई गाँठ मेरे हिय में,
उसको कोई कैसे खोले !
मैं रह रह टेर लगाता हूँ :
शव जीवित कर दो रे कोई।
मैं कहता फिरता हूँ देखो,
देखो, मेरी सुषमा सोई।
मैं अमिय खोजने निकला हूँ,
मैं नाप चुका जल, थल, अम्बर,
इक बिन्दु सुधा यदि मिल जाती
तो यह शव उठता सिहर सिहर।

कलिका इक बबूल पर फूली

[१]

कलिका इक बबूल पर फूली,
इसकी इस कंटकित डाल पर वह मनहरनी झूली।
इस विकराल अनुर्वर, ऊसर अरस काल प्रान्तर में,
इक बबूल यह उग आया है भरे शूल अन्तर में,
कंटक ही कंटक करते हैं इसकी हहर-हहर में,
अरे, सुरम्या सुरभित मधुऋतु इस पर कब अनुकूली ?
कलिका इक बबूल पर फूली।

कब आयी इसकी छाया में शीतलता सुकुमारी ?
किसने इसकी इस छाया मे चिर-विश्रांति निहारी ?
इस पर तो कण्टक ही जाते रहते हैं बलिहारी,
मिले उसे कण्टक ही जिसने उसकी डाली छू ली।
कलिका ऐसे तरु पर फूली।

खड़ा हुआ है, मूलबद्ध है, इस जग में यह अग है,
यों यह सोया-सा लगता है, पर यह बहुत सजग है,
पग विहीन है, पंख हीन है, गतियुत यह न उरग है,
इस तक कभी न आयी जग की गति पथ भूली-भूली !
कलिका ऐसे तरु पर झूली !

खड़ा हुआ था यह, इतने में सुषमा एक पधारी,
औ' कह उठी कि 'आयी तेरी अब खिलने की बारी' ।
यह बोलाः 'मैं ? मैं बबूल मुझसे कैसी यारी ?'
वह बोलीः 'मैं बनी अपर्ण यदि तू है चिर शूली !"
कलिका यों कह इस पर फूली !

ओ हिरणी की आँखों वाली

१

उस दिन चला आ रहा था मैं
अपने ढोर लिये जंगल से,
डूब चला था सूरज, मुझको
तपा-तचा कर अपने बल से ;
उड़े जा रहे थे सब कौवे,
तोते, करने रैन बसेरा,
चहचह करता चला जा रहा
था इक दिशि चिड़ियों का घेरा,
आसमान में फैल चुकी थी
सुघड़ साँझ किरनों की लाली,
उसी समय दिखलाई दी तू,
ओ हिरनी की आँखों वाली !

२

लट्ठ धरे अपने कांधे पर,
औ हँकारता अपनी गाएँ,
बढ़ा आ रहा था, लेकिन तू
देख रही थी ये लीलाएँ;
मैंने देखा, खड़ी मेंड़ पर,
खुरपी लिये हाथ में कोई,
द्वापर की राधा रानी-सी,
चिते रही है खोई खोई;
देख रही थी क्या तू गायें
धौली, धूमर, काजर, काली!
या ग्वाले को देख रही थी,
ओ हिरनी की आँखों वाली!

खुरपी हाथ, डहडहे लोचन,
वह मटमैला चीर हरा-सा,
कुछ गम्भीर और कुछ चंचल
वह मुख-मंडल पीर भरा-सा;
यह कौमार्य स्वरूप, सलौना,
आया आँखों के आगे जब,
तब खिंचाव इक हुआ हृदय में,
औ लोचन भर आये डबडब।
चित्र जड़ गया हिय-चौखट में,
चित्राधार नहीं अब खाली,
समा गई तू मन प्राणों में,
ओ हिरनी की आँखों वाली।

४

दिन में गायों की कजरारी
भोली आँखें देख देख कर,

याद कर लिया करता हूँ मैं,
सुन्दर तेरी आँखें मनहर;
तू जाती है खेत निराने,
मैं जाता हूँ ढोर चराने,
दिन भर गाया करता हूँ मैं
तेरे ही गुन - गान तराने;
देखा करता हूँ चिड़ियों की
जोड़ी बैठी डाली डाली,
पर मैं तो हूँ निपट अकेला,
ओ हिरनी की आँखों वाली!

५

बादल उमड़ें, बिजली तड़पे,
घन गरजन से जियरा लरजे,
घूरें लोग खाँस कर जब तब,
लोक-लाज भी रह रह गरजे;
तू खेतों में, मैं जंगल में,
फिर भी कैसा अजब तमाशा।
लोगों ने ना जाने कैसे
पढ़ ली है नैनों की भाषा,
तूने छुप-के देखा, मैंने
भी निगाह चुपके-से डाली,
फिर भी फैल गई सब बातें,
ओ हिरनी की आँखों वाली!

सियारामशरण गुप्त

खिलौना

मैं तो वही खिलौना लूँगा,
मचल गया दीना का लाल,—
'खेल रहा था जिसको लेकर
राजकुमार उछाल उछाल।'

व्यथित हो उठी माँ बेचारी—
था सुवर्ण-निर्मित वह तो!
खेल इसीसे लाल,—नहीं है
राजा के घर भी यह तो!

'राजा के घर! नहीं नहीं माँ,
तू मुझको बहकाती है;
इस मिट्टी से खेलेगा क्या
राजपुत्र तू ही कह तो।'

फेंक दिया मिट्टी मे उसने
मिट्टी का गुड्डा तत्काल;
'मैं तो वही खिलौना लूँगा'—
मचल गया दीना का लाल॥

'मैं तो वही खिलौना लूँगा'
मचल गया शिशु राजकुमार,—
'वह बालक पुचकार रहा था
पथ में जिसको बारंबार।

'वह तो मिट्टी का ही होगा,
खेलो तुम तो सोने से।'
दौड़ पड़े सब दास-दासियाँ
राजपुत्र के रोने से।

'मिट्टी का हो या सोने का,
इनमें वैसा एक नहीं;
खेल रहा था उछल उछल कर
वह तो उसी खिलौने से।'

राजहठी ने फेंक दिये सब
अपने रजत - हेम - उपहार;
'लूँगा वही, वही लूँगा मैं!'
मचल गया वह राजकुमार।

शंख-नाद

मृत्युञ्जय, इस घट में अपना
कालकूट भर दे तू आज;
ओ मंगलमय, पूर्ण, सदाशिव,
रुद्र-रूप धर ले तू आज!

चिर-निद्रित भी जाग उठें हम,
कर दे तू ऐसी हुंकार;
मद-मत्तों का मद उतार दे
दुर्धर, तेरा दण्ड-प्रहार।

हम अन्धे भी देख सकें कुछ,
धधका दे प्रलय-ज्वाला;
उसमें पड़कर भस्म-शेष हो
है जो जड़ जर्जर निस्सार।

यह मृत-शान्ति असह्य हो उठी ,
छिन्न इसे कर दे तू आज ;
मृत्युञ्जय इस घट में अपना -
कालकूट भर दे तू आज !

ओ कठोर, तेरी कठोरता
करदे हमको कुलिश-कठोर ;
विचलित कर न सके कोई भी
झंझा की दरुण झकझोर ।

सिर के ऊपर के प्रहार सब
सुमन-समूह-समान झड़ें ,
पैरों के नीचे के काँटे
मृदु-मृणाल से जान पड़ें ।

भय के दीप्तानल में धँस कर
उसे बुझा दें पैरों से ;
छाती खोल, खुले मे अड़कर
विपदाओं के साथ लड़ें ।

तेरा सुदृढ़ कवच पहने हम
घूम सकें चाहे जिस ओर ;
ओ कठोर, तेरी कठोरता
कर दे हमको कुलिश-कठोर ।

ओ दुस्सह, तेरी दुस्सहता
सहज सह्य हमको हो जाय ;
तेरे प्रलय-घनों की धारा
निर्मल कर हमको धो जाय !

अशनि-पात में निर्घोषित हो
विजय-घोष इस जीवन का ;
तड़ित्तेज में चिर ज्योतिर्मय
हो उत्थान-पतन तन का ।

बन्धन-जाल तोड़कर सहसा
इधर-उधर के कूलों का ,
तेरी उच्छृंखल वन्या में
पागलपन हो इस मन का ।

निजता की संकीर्ण क्षुद्रता
तेरे सुविपुल में खो जाय ;
ओ दुस्सह, तेरी दुस्सहता
सहज सह्य हमको हो जाय ।

ओ कृतान्त, हमको भी दे जा
निज कृतान्तता का कुछ अंश ;
नई सृष्टि के नवोल्लास में
फूट पड़े तेरा विध्वंस ।

नव-भूखण्ड अमृत के घट-सा
दे ऊपर की ओर उछाल ,—
सागर का अन्तस्थल मथ कर
तेरे विप्लव का भूचाल ।

जीर्ण शीर्णता के दुर्गों को ,
कुसंस्कार के स्तूपों को
ढा दे एक साथ ही उठ कर
दुर्जय, तेरा क्रोध कराल ।

कुछ भी मूल्य नहीं जीवन का
हो यदि उसके पास न ध्वंस ;
ओ कृतान्त, हमको भी दे जा
निज कृतान्तता का कुछ अंश ।

ओ भैरव, कवि की वाणी का
मृदु माधुर्य लजा दे आज ;
वंशी के ओठों पर अपना
निर्मम शंख बजा दे आज ।

नभ को छूकर दूर दूर तक
गूँज उठे तेरा जय-नाद ;
घर के भीतर छिपे पड़े जो
बाहर निकल पड़ें साल्हाद ।

तिमिर-सिन्धु में कूँद, तैर कर
सुप्रभात-से उठ आवें ;
निखिल संकटों के भीतर भी
पावें तेरा पुण्य-प्रसाद ।

जीवन-रण के योग्य हमारा
निर्भय साज सजा दे आज ,
ओ भैरव, कवि की वाणी में
निर्मम शंख बजा दे आज ।

मौनालाप

इसी कक्ष में, यही लेखनी लेकर इसी प्रकार ,
बैठा मैं कविता लिखने को जाने कितनी बार ।
यहीं इसी पाषाण पट्ट पर, खोल हृदय का द्वार ,
खेली मेरी काव्य कल्पना निर्भय, निरलङ्कार ।

मेरी काव्यकल्पना ही-सी धीरे से, चुपचाप,
जब तब तू अज्ञात भाव से आकर अपने आप,
पीछे खड़ी हुई कुछ क्षण तक, रह नीरव निस्पन्द,
हँस पड़ती थी पकड़ चोर-सा खिल खिल कर सानन्द।

पीछे मुड़कर, तुझे देखकर, देखूँ फिर इस ओर,
छिप जाता था हृदय गुहा में कहीं मानषी-चोर!
उसी तरह इस उसी ठौर फिर बैठा हूँ मैं आज,
कौन देखता है यह, क्या क्या बदल गये हैं साज।

आ न सकेगी किन्तु आज तू उसी भाँति साह्लाद,
लिखने मुझे नहीं देती बस, आकर तेरी याद।
तो फिर उस तेरी स्मृति से ही करके मौनालाप,
आज और कुछ नहीं लिखूँगा रुक कर अपने आप।

अनुसन्धान

उस प्रखर ग्रीष्म में उस दिन देखा था जो पहला घन,
थी नहीं सघनता उसमें था नहीं एक भी जलकण।
आँखें न हो सकीं शीतल करके उसका अवलोकन,
नभ में नव धूम उठाकर वह हुआ आग का ईंधन।
ऐसा वह घन था जिससे बढ़ गया और ऊष्मानल;
वह ध्यानमग्न था अथवा मूर्छित हतचेतन निश्चल?
ले गई हाथ धर उसका मन्थर समीर की लहरी;
किस दूर दिशा-सागर में ली डुबकी उसने गहरी?
अब इस अषाढ़ रजनी में छाये ये घन पर घन हैं;
इस अविश्रान्त वर्षा में परितृप्त प्राण तन मन हैं।
यह आत्मविस्मृता अवनी जानें अथवा अनजानें
धावित है धाराओं से सागर की प्यास बुझाने।
इस विपुल मेघमाला में है कौन ग्रीष्म का घन वह,
इस तिमिरकक्ष-से नभ में मैं खोज रहा हूँ रह रह।
निष्फल प्रयास यह मेरा; वह है समस्त में मण्डित,
अब उस अशेष को लघु में मैं कर न सकूँगा खण्डित।

नर किंवा पशु

इस छोटे छप्पर के नीचे कौन वस्तु अभिरामा,
जिसके आकर्षण से खिंचकर यहाँ आ बँधी श्यामा!
वह है मनुज,—मनुज ही तो यह निकट खड़ा निस्पन्दित;
यह वह है, हो गया शोक भी जिसे आज अभिनन्दित।
काम खोजने जा जब निशि को लौटा यह इस घर में,
रुग्णा पत्नी पहुँच चुकी थी तब तक लोकान्तर में।
रोया नहीं, नहीं यह बिलपा, आँखें भी थी रूखी,
अच्छा हुआ, बची वह मरकर, अब न रहेगी भूखी।
जीवित थी तब दे न सका कुछ, दिया एक बस अनशन,
आज चिता पर भी न दे सका उसे यथोचित ईंधन।
थोड़े में सन्तुष्ट सदा की, चुप चुप चली गई वह,
कटती न थी अकेले की अब रजनी तिमिरमयी यह।
बाँ-बाँ बाँ-बाँ करते सुनकर, आया यह ज्यों तन्द्रित,
श्यामा रोती है क्या उसको जो भव से निष्कासित!
उस कठोर की आँखों में अब गहरे अन्तस्तल के
अन्धकार से आवृत होकर दो दो आँसू छलके।
याद पड़ा, इस मृतवत्सा ने दिया दूध सब का सब,
उस विवशा के लिए जगत ने दिये न दो दानें जब।
लिपट गया श्यामा से दुखिया, हृत थी जिसकी वाणी;
पशु थे तो पशु, नर थे तो नर, ये दोनों ही प्राणी।

स्वप्न-भङ्ग

ऊपर पहुँच गया था सहसा मैं नव नन्दनवन में,
माँग रहा था कल्पलता से उसका एक सुमन मैं।
मैंने कहा—"सुहासिनि, तेरा अंचल सदा हरा है,
दान कर रही अहरह, फिर भी वह चिरकाल भरा है।
सोचा क्या है इस प्रसून का, मैं यह तुझे बताऊँ!—
इच्छा है, इसको लेकर मैं चुपके-चुपके जाऊँ,

जड़ दूँ अपनी काव्यवधू के जूड़े में पीछे से ,
महक उठे मेरे आँगन में ऊपर तक नीचे से ।
विमना अनाभूषिता तव वह चौंक पड़े ज्यों जगकर ,
अपने कज्जलकलित नयन वे डाले इस पर, उसपर ;—
किसका परस जगा यह उसमें !"

टूटा मेरा सपना ,
भग्नध्यान मैंने अवलोका सूना कमरा अपना ।
पिटी बालिका का कटु क्रन्दन नीचे से आता था ,
नहीं रुक रहा था ताड़नरत कर कुपिता माता का ।

स्मृति

कई बरस पहले निदाघ में दिन-पट उठता ज्यों ही ,
एक विहग मेरे कानों में सुधा छिड़कता त्यों ही ।
मेरे श्रवण-नयन खुल जाते नई चेतना पाकर ;
शय्या पर से उसे देखता,—वह बैठा है आकर
मेरे इस छज्जे के ऊपर । ऊँचा उसका स्वर है ;
अंग अंग मे सुन्दर शोभन वह घन कृष्ण भ्रमर है ।
कुछ क्षण यहाँ कूककर फिर वह उस छज्जे पर जाता ,
उमँग उमँगकर उसी कण्ठ की मधुधारा लहराता ।
उड़ जाता फिर कहाँ न जानें किस सुदूर के वन में ;
मेरा दिन मह-मह हो उठता उस रव-रस-सिंचन में ।
नित का एक यही उसका क्रम दीर्घ समय तक चलता ,
आई उषा, और कोटर से वह आगया उछलता ।
नहीं जानने पाता, उसका वास कहाँ है किन में ,
किस निर्जन तट में किस तरु पर रहता है वह दिन में ।
कहाँ गया, कैसा है अब वह, उत्सुक हूँ उसके हित ;
नाम-धाम-कुल-गोत्र आदि से हूँ मैं अज्ञ अपरिचित ।
दिया स्वात्म-रस उसने मुझको पर-भाषी भी होकर ,
उसकी स्मृति से आज अचानक मेरा स्वर है सुन्दर ।

सम्मिलित

[१]

"चलो, चलो, इस अमलतास के फूल न तोड़ो ;
ठीक नहीं यह, इस रसाल की ममता छोड़ो।"
विस्मित था मैं, भला यहाँ ऐसा है भय क्या,
यह निषेध किसलिए, गूढ़ इसमें आशय क्या।
मेरा मन तो हरा हो गया इन्हें निरख कर ;
दोनों का यह रुचिर रूप नयनों से चख कर।
और अधिक के हेतु मुमुत्सुक हूँ मैं मन में,
ये दोनों जड़ विटपि यहाँ इस विरल विजन में
भेंट रहे हैं एक दूसरे को खिल खिल कर ;
निज निज सीमा लाँघ सहोदर-से हिल मिल कर।
इसकी शाखा लिये कनक-कुसुमों की डाली ;
उसके कर मे मधुर-फलों की भेंट निराली।
पुलकान्दोलित पत्र परस्पर की छाया में ;
छाया भी अविभिन्न परस्पर की माया में।

[२]

किन्तु बताया गया मुझे, मैंने भी जाना,
कटु प्रसंग वह शोचनीय दस बरस पुराना।
"दो स्वजनों मे मिले-जुले इस भूमि-खंड पर
वैर-भाव बढ़ गया, चंड होकर प्रचंड तर।
कहा एक ने—'स्वत्व यहाँ इस पर है मेरा,'
कहा अन्य ने—'कौन कहाँ का तू क्या तेरा ?'
बढ़ते बढ़ते हुआ क्रोध का रूप भयानक ;
आपस में चल पड़े एक दिन शस्त्र अचानक।
रुधिर गिराते हुए यहीं दोनों वे सोये ;
इसी भूमि पर सहठ प्राण दोनों ने खोये।

उसी बरस नव रुधिर पिये उस क्रूर कलह का,
दीख पड़े अंकुरित यहाँ ये दो द्रुम सहसा।
ठहरो मत इस ठौर यहाँ, ये फूल न तोड़ो;
ठीक नहीं यह, इस रसाल की ममता छोड़ो।
रिपु का इनका प्रेम-मिलन; शापित यह धरती;
कलह-प्रेत की मूर्ति यहाँ दिन रात विचरती।

[३]

कलह-प्रेत की मूर्ति!—अरे ओ मानव भोले,
धरती के इस प्रेम-तीर्थ में पावन हो ले।
तू इसको रुधिराक्त करों से आया छूने,
खंड खंड कर इसे काटना चाहा तूने।
पर अब भी यह वही, अखंडित है, अमलिन है;
चिर-नूतन फल-फूल लिये शोभित प्रति दिन है।
द्रुम दो का विष-वैर शान्ति सह पी जाती है;
नव-नव जीवन-सुधा पिला लौटा आती है।
तुझको फिर फिर यहाँ अहा! तरु-तरु, तृण-तृण में
खींचे है यह तुझे प्रेम-प्रियता के क्षण में।
नहीं भूलता कलह तदपि,—हा! तू यह कैसा;
क्या रिपु-रिपु में मंजु-मिलन हो सकता ऐसा!
मातः वसुधे, स्वजन-स्वजन का वैर-पंक वह
तेरी सुरसरि-मध्य हुआ है निष्कलंक यह।
तेरे इस युग-विटपि तले मैं निर्भय घूमूँ;
लेकर ये फल-फूल इन्हीं पत्तों-सा झूमूँ।

मंजुघोष

वासव ने प्रश्न किया
मंजुघोष नामक जलद से—
"भूलकर भद्र, किस स्वाधिकार मद से
जल भरपूर तुमने है बरसा दिया,

आर्य भूमि खंड में सभी कहीं !
आर्यखंड में तो इस वर्ष वृष्टि का विधान
था ही नहीं।"
"था ही नहीं !—भूला मैं कृपानिधान !
विस्मय मुझे है यह,
भूल हुई कैसे वह।
मैं तो असंतुष्ट था स्वयं विशेष,
मर्त्यलोकवासियों के ढंग देख।
चाहे कितना ही करो ;
यथाकाल वृष्टि कर
अन्न और धन की यथेष्ट नव सृष्टि कर
ओत प्रोत गेह उनके भरो ;
फिर भी कहेंगे यही—
'अब की भी वृष्टि की कमी रही।'
और नहीं कुछ तो कहेंगे यही एकदम—
धरती के पुर, ग्राम, खेत वन
अन्धे बन
अब की डुबो के बहा देना चाहते थे हम !
ऐसी इनकी है बात।
अच्छा था न होता इस वर्ष यह वृष्टिपात !
जानते तभी ये निज दृष्टि खोल,
हमारे एक एक वारि-बिन्दु का क्या मोल।
निश्चय प्रमाद हुआ।
जाने किस प्रेरणा से मेरा नीर
एक साथ यों चुआ।
किंवा यह,—देव हैं दया-शरीर ;
देखकर भूतल के तप्त क्षेत्र
प्रभु के सहस्र नेत्र

तप्त हो उठे थे प्राणियों के दुःख-ताप से ;
और इसी हेतु बिना जाने ही बिना कहो
प्राप्त हुई आज्ञा वही
सेवक को अपने ही आप से,
और मैं बरस पड़ा !
किन्तु इस वर्ष तो अवृष्टि योग है कड़ा।
तब भी, क्षमा हो, देव, हानि नहीं।
गिरने न दूँगा मैं वहाँ कहीं
और अब एक बूँद जल का।
दीपित दिवाकर के अग्नि-शल्य अंशुजाल
खींच लेंगे अन्तस्तल से निकाल
जल पहले का सभी भूतल का।
होगा तब और भी बड़ा अकाल।
कर्षक घरों का अन्न खेतों में चुके हैं डाल ;
अंकुरित होके वह है हरा।
नव परिधानावृता शोभित वसुन्धरा।
जन-समुदाय हैं प्रसन्न सब ;
सोचते हैं,—आया यह आया नया अन्न अब !
जानते नहीं हैं, हाय ! कैसे मूढ़,
विधि का विधान गूढ़।
आशा-तन्तु टूट सब जायेंगे
दो ही दिन बाद जब खेत मुरझायेंगे।"
"भद्र, यह विधि का विधान है,
देव हो कि दानव हो,
ऋषि, मुनि और महा मानव हो,
सीमित सभी का यहाँ ज्ञान है।
विधि के विधान से ही वर्षण-अवर्षण का,
एक एक क्षण का

निश्चित है योगायोग ;
भोग्य है सभीके लिए भोगाभोग ।
पाती रहे सुख ही सदैव यदि वसुधा ,
उसकी प्रसन्न क्षुधा
मन्द पड़ जायगी—
व्याधि रूप होके उसे शान्ति ही सतायगी ।
जाओ इस वर्ष है तुम्हें विराम ।
पूर्ण हो तपस्काम
धन्य धरातल का ।
योग इस ग्रीष्म के अनल का
शुद्ध उसे कर दे ;
अन्त में समृद्धि-सुख-सिद्धियों से भर दे ।
तुम यदि भूतल के ताप से
बरस पड़े थे वहाँ अपने ही आप से ,
तब तुम काटो वहीं जाकर नियत काल ।
भूतल का उच्च भाल
पावन महान हिमाचल है ।
पाप-ताप-हीन वहाँ शान्ति सुनिश्चल है ।
तुमको न होगा वहाँ अन्तर्दाह ।
पुण्य का महत् प्रवाह
निर्झरित होता वहाँ जाह्नवी का जल है ।
किन्तु तुम घन हो ,
शम्पा के अभिन्न प्राण-धन हो ।
यदि तुम एकाकी गये वहाँ
बनकर दूत अन्य कौन आ सकेगा यहाँ
वल्लभा मती के पास ।
उसका विरह-पाश ,—
सहना न होगा तुम्हें यह भी ;

साथ में तुम्हारे वहाँ जा सकेगी वह भी।"

"भगवन् कृपानिवास;
हो गया कृतार्थ यह दोषी दास।
दंड भी हुआ है मुझे वर-सा;
सादर निदेश शिरोधार्य प्रभुवर का।"

[२]

"गुरुवर पदाब्जों में विनम्र भक्ति श्रद्धा सह
राजाधिप शूरसेन-सूनु यह
वीरभद्र नत है।"
"स्वस्ति वत्स, स्वागत है!
राज-परिवार मे है मंगल तो?
धर्म का विधान है अचल तो?"
"राजगुरु आप-से जहाँ हैं देव,
होना ही पड़ेगा वहाँ मंगल अवश्यमेव।
किन्तु यह मंगल हा! कैसा है!
तात, यह मंगल जो ऐसा है
तो फिर अमंगल कहेंगे किसे?
आप से छिपा है क्या, बता दें आप ही इसे।"
"वत्स, तुम व्यग्र हो अवर्षण से;
किन्तु धरो धैर्य निज मन में।
धर्म के पुनीत आचरण से
च्युत हो न मानव भुवन में,
मंगलों का मंगल यही है चिरजीवन में।"
"तब फिर आज्ञा मुझे दीजे आप,
छोड़ यह यौवराज्य, पाप-शाप,
तप में तपूँगा कहीं जाकर विजन में।"
"वत्स, तुम शान्त हो,

'एकाएक उत्तेजित होके यों न भ्रान्त हो।
छोड़ यह यौवराज्य, धर्म कहाँ पाओगे ?
धर्म और तप है तुम्हारा यही,
ज्ञान-कर्म सारा यही;
घर है तुम्हारे यह, और तुम जाओगे
वन में इसीके अर्थ ?
अर्थ नहीं, यह तो महा अनर्थ।"
"किन्तु तात, पूज्य पिता के भी पुण्य शासन में
होता है अवर्षण का ऐसा योग,
तब फिर मेरे लिए मन में
राज यह हो क्यों नहीं राज-रोग ?
पहले तो एक बार मेघ-दल
बरसा गये हैं जल,
और फिर ऐसे गये, मानो सदा को ही गये।
अंकुर नये नये
निकल पड़े थे जो धरा के अंक-थल में,
जननी के अंचल मे,
कान्त शुचि शिशु की मनोज्ञ छवि छाये हुए;
पवन करों से दुलराये हुए,
हर्षामोद-आन्दोलित थे जो पल पल में,
आज वही सहसा अकाल में
सूखने लगे हैं तात,
पीले पड़ गये गात।
दूर तक अन्तरिक्ष-जाल में
पावन-पयोधरों का चिह्न नहीं;
शून्य, बस शून्य हो सभी कहीं !
देखकर आ रहा हूँ दीन कृषिकारों को,
खेतों बीच, धान्यांकुर,—आग के अँगारों को।

सन्निकट-वत्स-शोक-भीतिपरा,
धूलि भरी जननी वसुन्धरा
शुष्कमुख, गरम उसासें भर,
रह रह मारुत में करुण निनाद कर
हृदय विदीर्ण किये देती थी;
वरबस लोचनों का नीर लिये लेती थी।
किन्तु हाय! नेत्र भी ये नीचे तक सूखे थे;
ताप-तप्त नत उन अंकुरों-से रूखे थे।
दे न सका दो ही बूँद अश्रुजल;
अच्छा हुआ, ईंधन-सा पाके उन्हें
ऊपर ही ओठों पै सुखा के उन्हें,
जाग वहाँ जाता और परम पिपासा नल,
देखा,—एक खेत पर कृषक-वधू थी खड़ी;
दोपहर की थी घडी।
मैंने कहा—'माता, इस धूप में,
धाता के ज्वलन्त रौद्र रूप में,
तनु झुलसा क्यों रहीं?
जब इन वृक्षों के तले भी प्राप्त छाया नहीं?'
तब वह हो बेहाल
खेत पर कातर निराशा भरी दृष्टि डाल
बोली—'तात, देखो इन अंकुरों की है क्या दशा?'
और फिर छोड़ एक दीर्घ श्वास
ऊपर उठा के सिर विवशा
देख उठी दूर तक शून्याकाश,—शून्याकाश।
जान पड़ा, जननी वसुन्धरा ही मूर्तिमन्त,
अन्नजलाभाव से
दुर्निवार ताप-तप्त प्रज्वलन्त
पागल के भाव से

माँगती हो भिक्षा—'कुछ दे दो, कुछ दे दो अरे !'
हाय हरे !
निष्ठुर, कठोर, क्रूर दाता से ,—
ऐसे उस धाता से ,
जिसने अवर्षण का योग रचा पहले ,
फिर कुछ नीर दिया,—'यह ले !'
केवल इसीलिए
जिसमें कि कौतूहलाक्रान्त हिये
दीना, भाग्यहीना उस माता के हृदय-लाल
एक साथ बाहर निकल आयँ ;
और तब दीप्त कर भीष्म ज्वाल
सम्मुख ही तिल तिल दग्ध कर दिये जायँ ।
तात, तुम सिहर उठे हो सुनके ही बस ,
मैं तो चख आया वह रौद्र रस ;
फिर यदि अन्तर्बाह्य मेरा जले ,
दुष्ट क्रीड़ाकान्त उस इन्द्र का विधान खले
मेरे इस मन को ;
उचित यही है तब इसके दमन को
तप में लगा दूँ अपने को मैं ।
करके यथार्थ सपने को मैं
ऐसा कुछ कार्य करूँ, इन्द्रासन डोल उठे ;
'त्राहि-त्राहि ,
पाहि-पाहि, पाहि-पाहि,'
स्वेच्छाचार वज्री तक काँप कर बोल उठे ।"
"वत्स, सुनो मेरी बात छोड़ कोप ,
शक्र पर व्यर्थ यह दोषारोप ;
दोष नहीं ऐसा कुछ उसका ।
गूढ़ उस एक ही पुरुष का

चक्र चलता है त्रिभुवन में ।
अणु-परमाणु, कण-कण में
मांगलिक उसका विधान परिव्याप्त है ;
सौख्य-भोग में ही नहीं सर्वथा समाप्त है
उसकी विशालता
दुःख भोग की भी विकरालता
अंग है उसीका एक निर्विवाद ।
तप में न होता यदि मांगलिक का प्रसाद ,
तो क्या इस भाँति तुम छोड़ राज धन को
जाना कभी चाहते विजन को ?
तप जो तपोगे तुम, आज वही
तप तपती है यह माता मही ।
क्लेश बोध उसका हुआ जो तुम्हें मन में ,
श्रेष्ठतर तप है तुम्हारा यही जीवन में ।
फिर भी सुना दूँ तात ,
तुमको रहस्यमयी एक बात ।
दो दिन के बाद बस, साठ घड़ियों में कहीं
आ रहा शतक्रतु का पुण्ययोग ।
यदि इस बीच तुम त्याग के विकार-रोग
आत्म-लीन-योग-भ्रष्ट हो नहीं ,
तो यह सुनिश्चित है ;
ऐन्द्रपद पूर्ण निज वैभव में
प्राप्त तुम्हें होगा इसी भव में ।
दुर्लभ विधान यह ऐसा ही विहित है ।"

"देव, यह योग, अति अद्भुत है !
आज्ञा और आशीर्वाद कीजिए ;
यत्न करने के लिए

जन यह शक्ति भर प्रस्तुत है ।
सीधा हिमश्रृंग अब जाऊँगा ।
मन में समाधि मैं लगाऊँगा ।
शिष्य का प्रणाम चरणों में भक्तियुत है ।"

[३]

"शम्पे, प्रिये शम्पे, यही पावन नगाधिराज !
करके अचंचल नयन आज
कर लो निमज्जित पवित्र पयोद्गम में,
दिव और भव के विचित्र इस संगम में ।
देखो, यह कितना महा महान,
आप अपना ही एक उपमान ।
श्रृंगों पर चढ़ के नभस्थल में
गर्तों में होकर रसातल में,
फैला यह बीच में है, केन्द्र त्रिभुवन का ।
कृत्रिम हिमाद्रि वह नन्दनोपवन का
याद तो तुम्हें है प्रिये ?
शिल्पी विश्वकर्म्मा ने इसीके लिए
उतना किया था श्रम ।
निश्चय ही वह है अपूर्व और अनुपम ।
किन्तु श्रमासाध्य यह कृति है ;
इसको असंख्य काल में स्वतः
साधना तपस्यारता
प्राप्त कर पाई इस रूप मे प्रकृति है ।
अच्छा, तुम्हें होगी क्लान्ति,
तब हम थोड़ा यहाँ ठहरें ;
दूर करें शत-शत योजनों की मार्ग-भ्रान्ति ।
आहा ! मृदु वायु की ये लहरें !"
"मेरे लिए चिन्तित न हूजे नाथ,

चलिए समीर के ही साथ साथ।
पथ में, यहीं का यह, प्रवर प्रदर्शक है।
दृश्य यहाँ कैसा समाकर्षक है।
भ्रम जो हुआ था मुझे, दूर हो गया है आप,
प्राप्त कर दृष्टिफल इतना बड़ा अमाप।
देखो यह कितनी निचाई यहाँ;
यह गहराई यहाँ
भय उपजाती है।"
'किन्तु प्रिये, धारा यह निर्झरित
हर्षावेग उद्वेलित
कैसी बही जाती है!
ऊपर से टूट टूट,
प्रस्तर-कठोर भुज-बन्धनों से छूट छूट,
विषम धरा में सम नृत्य कर गाती है।"
"नाथ, यह लाड़ली यहीं की सुता,
नव-नव स्नेह में
अहरह क्रीड़ायुता
निर्भय यथेच्छ फिरती है पितृगेह में।
शैलराज, तुमको प्रणाम है,
भूतल के पाप-ताप हारी हर।
दर्शन तुम्हारा पुण्यकारी कर
पूरा मनस्काम है।
चोटियाँ हैं ऊपर कहीं अनूप,
नीचे कहीं निम्न धरा के ही रूप;
धारण किये हो उच्चता भी नत होके, धन्य!
हिम का कठोर-मृदु तन है,
जाह्नवी का शुभ्र धौत मन है,
इससे अधिक और चाह क्या किसे हो अन्य!

"प्रियतम, मैंने कहा था न तभी,
'निज को प्रमाण मान,
तुमने किया जो यह नीर-दान,
दंड योग्य विश्व में नहीं कभी।'
दोष यदि ऐसा ही सुखद हो,
अन्त में निरापद हो,
कामना यही तो इस मन की,
दोष वही दुर्निवार
होता रहे बार बार;
फिर फिर पाऊँ शान्ति ऐसे शैल-वन की।
देखो, हरियाली यह शोभाधाम
हरी भरी श्याम-श्याम।
दीखती नहीं है यहाँ नीचे की धरा कठोर।
इधर उधर चारों ओर
कुल में हिले-मिले,
बहु बहुरंगी फूल एक साथ हैं खिले।
आहा! यह कौन लता,
मूर्तिमती सुन्दरता!
ले चलेंगे साथ इसे रोपने को नन्दन में।"
"शम्पे, यह मग्न यहीं मन में;
मुरझा उठेगी यह जाके वहाँ,
नन्दन वहीं है उसे प्रिय जिसका जहाँ।"
"तब कठिनाई हमें कौन नाथ,
ले चलेंगे रूक्ष वह वृक्ष भी इसीके साथ
यह है प्रिया जिसकी।
धन्य भला कैसी रुचि इसकी!"
"शम्पे, यह अच्छी कही,
सब ललनाओं के लिए है एक बात यही।

अन्यों को निराश कर
मेरे इस उर में प्रकाश भर,
तुमने वरा है इसी कृष्णकाय घन को,
ऐसे इस जन को,
रूप जिसका है"—"अरे कैसी बात!
सुरभि कहाँ से अहा! आई यह पुण्यजात!"
"यह तो किसी तापस के तन की;
श्रेष्ठतर सुश्री इस वन की!"
"ठीक कहा, देखो उस कुंज में
तरुण तपस्वी एक बैठा है।
भासमान दीप्त प्रभा पुंज में
मौन मग्न, निर्विकार अन्तर में पैठा है!
सोचने लगे क्या नाथ, देखो वहाँ,
नरकुल में हैं धन्य ऐसे व्यक्ति भी यहाँ।"
"शम्पे, मुझे आई यह याद भली;
आज है शतक्रतु-सुयोग लग्न।
आज कोई आत्मबली
हो सके पवित्र-मन, अचल-समाधि-मग्न,
पूर्ण संख्य यज्ञ भी बिना किये
होगा स्वत्वशाली वह ऐन्द्रपद के लिए।
वह पद-भार किन्तु दुर्वह है,
नव वय इसका, अकाल मुनि यह है।
पूर्ण यदि इसका हुआ प्रयत्न,
होगा यह देवराज का सपत्न।
शंकित है मेरा चित्त,
जाँचें हम क्यों न इसे स्वामिकार्य के निमित्त?
मान क्या सकोगी प्रिये, मेरी बात?
रूप निज ले प्रत्यक्ष,

—लज्जित न हो यों, नहीं शील का यहाँ विघात,—
साधक तपस्वि जन के समक्ष
क्षण भर नृत्य-गान कर दो ,
स्वर्ग-स्वर-धारा से नगाधिराज भर दो ।"
"बात मैं न टालूँगी ,
तुम कहते हो भला, आज्ञा क्यों न पालूँगी ?
किन्तु एक मेरी छूट ,
दोष यदि हो अटूट ,
मुझको रुचेगा जो वही मैं यहाँ गाऊँगी
खिन्नता तुम्हें ही न हो, सब भर पाऊँगी ।"
"दोष का यहाँ क्या काम ,
गाओ, तुम गाओ प्रिये !
स्वर्ग-सुधा शीघ्र बरसाओ, बरसाओ प्रिये !
धन्य है कुशलता ,
कैसी इन अंगों की तरलता !
'देखो'—स्वर कहता है—'मेरा नृत्य' ,
नृत्य कहता है—'सुनो मेरा कृत्य !'
एक दूसरे की बात कहते ।
इस स्वर-धारा में शरीर-मन बहते ।
सचमुच बहा मैं बहा ,
यह तो तुम्हारा श्रील मेघराग !
अब यह फैल उठा, वश में नहीं मैं रहा ,
निखिल निषेध-भय-भीति त्याग ।
जाना, मुझे फिर बरसाना चाहती हो प्रिये ,
कृषि सरसाना चाहती हो प्रिये !
सुख तो हमारा वहीं, सबका जहाँ हो भाग ।"

[४]

"गुरुवर, पदाब्जों में प्रणाम ! लौट आया मैं ,
लज्जित हूँ, सिद्धि नहीं लाया मैं ।

ओहो, शैलराज-सा ही दुर्गम है,
जान गया, पन्थ वह कितना विषम है।
"स्वस्ति, स्वस्ति, लज्जा की भला क्या बात!
साधन सदैव है सुफल जात!
देखो सुखस्नात यह वसुधा,
बरसा गये हैं मंजुघोष मेघ स्वर्ग-सुधा।
सूखे खेत फिर लहराते हैं
घर घर प्रसन्न सब हर्ष गान गाते हैं।
राज्य शीघ्र तुमको प्रदान कर
आयँगे तुम्हारे पिता वन में,
नित्य ध्रुव धर्म का विधान कर
होकर नरेन्द्र करो शासन भुवन में।"

पूजन

पद-पूजन का भी क्या उपाय!
तू गौरव-गिरि, उत्तुङ्गकाय!

तू अमल-धवल है, मैं श्यामल,
ऊँचे पर हैं तेरे पद-तल,
यह हूँ मैं नीचे का तृण-दल
पहुँचूँ उन तक किस भाँति हाय!
तू गौरव-गिरि, उत्तुङ्गकाय!

हों शत-शत झंझावात प्रबल,
फिर भी स्वभावतः तू अविचल।
मैं तनिक-तनिक में चिर-चञ्चल;
मेटूँ कैसे यह अन्तराय!
तू गौरव-गिरि, उत्तुङ्गकाय!

बापू

विश्व-महावंश-पाल,
धन्य, तुम धन्य हे धरा के लाल !
छद्म-छल के अबोध,
वीतराग वीतक्रोध
तुममें पुरातन है नूतन में,
नूतन चिरन्तन में।
छोटे-से क्षितिज हे,
वसुधा के निज हे,
वसुधा तुम्हारे बीच स्वर्ग में समुन्नत है,
स्वर्ग वसुधा में समागत है,
आकर तुम्हारे नये संगम में,
लघु अवतीर्ण है महत्तम में,
दूर और पास आस-पास खिले,
एक दूसरे से हिले
भीतर से बाहर में,
हास और रोदन ध्वनित एक स्वर में
जाने किस भाषा में,
ज्ञात किसे, जानें किस आशा में,
हास में तुम्हारे विश्व हँसता ;
रोदन में आकर निबसता
विश्व-वेदना का महा पारावार,
घोर-घन हाहाकार ;
छोटा-सा तुम्हारा यह वर्तमान ;
विपुल भविष्य में प्रवर्द्धमान ;
आज के अपत्य तुम, कल के जनक हो,
एक के अनेक में गणक हो ;
सबके सहज साध्य,

सबके सदा अवाध्य,
आत्मलीन सर्वकाल सर्वात्मीय;
कौन तव परकीय ?
तुम अपने हो विश्व भर के
पुण्यातिथि भी सदैव घर के;
हे विदेह
गेही भी सदैव तुम हो अगेह;
फेंक सकते हो तुम्हीं निर्विकार,
मृत्तिका-समान हेम-हीर-मणि-मुक्ता-हार;
सन्तत अतुल हे,
जन्मजात उच्च स्वर्गकुल के,
मर्त्य-कुलशाखा में हुए हो गोद,
सप्रमोद;
भूतल की शुक्ति यह हलकी
एक बड़ी बूँद किसी पुण्य-स्वाति जल की
दुर्लभ सुयोग जन्य
प्राप्त कर तुममें हुई धन्य धन्य धन्य !
बाल तुम ?—बाल-युवा-वृद्ध नहीं कुछ भी,
पूर्ण विश्व-मानव तभी, तभी;
प्यार-प्रेम श्रद्धा सह
बार बार प्रणत प्रणाम तुम्हें अहरह !

आश्वासन

[शुश्रूषालय में गुणधर एक वीरगति-प्राप्त सैनिक के विषय में सोच रहा है।]

ओ सैनिक भाई,
जन्मा था तू कहाँ, कहाँ की तूने पाई
पहली प्राणद पवन ? वहाँ पर भी ऐसे ही
खिलते होंगे कुसुम, इसी थल के जैसे ही

होंगे मुखरित सरित-तीर, सुन्दर छाया वन,
दिन में गलित सुवर्ण, रात में रजत विकीरण।
पता नहीं, वह कौन ग्राम किस ठौर कहाँ का,
कोई एक कुटीर प्रतीक्षास्तब्ध जहाँ का
मुखर उठा उस दिवस, दिवस के कोलाहल में,
या मधुनिशि के मधुर अचंचल मृदुलांचल में,
ली जब तूने नई साँस इस नये भुवन की,
एक साथ तब तनय, तात, भ्राता, निज जन की
नवता तुझमें जाग उठी। तू लोकान्तर का
उस घर का बन गया,—कहाँ थी तुझमें परता!
वहाँ रुदन भी हुआ हासमय सरस सुमंगल,
शय्या पर उस पुत्रवती का विकल नयन जल
बना अमल आनन्द। अशुचिता भी थी शुचिता।
पा तुझमें प्रत्यक्ष मुक्तिसुख माता मुदिता
तेरे स्नेहाधीन बंधी वांच्छित बन्धन में;
तेरे में निज विगत काल पाकर बचपन में
लौट पड़ी वह स्वयं।

अपरिचित हूँ मैं भाई,
किनकी पहली सुभग सुहृदता तूने पाई।
था तेरा क्या नाम धाम, किनमें तू फूला,
क्या कुछ ऐसा मिला तुझे, जिसमें तू भूला
अपना आपा आप?

सोचता हूँ रह रह कर,
कोई तेरी पुण्य प्रेयसी रही कहीं पर।
बैठा था तू किसी कुंजवन में, झुरमुट में
श्यामा सन्ध्या नील पात्र रक्ताधर पुट में
लगा रही थी, बिखर रहे थे उसके कुन्तल,
धीरे धीरे शान्त सुरभि में उसका अंचल

फहर रहा था वहाँ, वहाँ तू उन्मन उन्मन
निज में डूबा हुआ, कहीं अपना अपनापन
खो बैठा था।
उठी दृष्टि सहसा जो तेरी,
तू भौंचक रह गया, हृदय की घनी अँधेरी
कहाँ कभी की चली गई थी। पूर्व गगन में,
पूर्व गगन में या कि वहाँ तक विस्तृत मन में,
शैलशिखर पर कलावती शशिलेखा अरुणा
विहँस उठी तत्काल, प्रथम ही पूरी तरुणा!
तू हो उठा उदार अतुल उस अनुपम पल में,
अपनी उस दिवलोकवासिनी को नभ-थल में
तूने अपना लिया, हो गई मन की पूरी,
तू ऊँचा उठ गया; कहाँ की कैसी दूरी!
तेरे उर के स्वच्छ-सरोवर-मंजु-मुकुर में
चमक पड़ी, वह उतर आ बसी अन्तःपुर में
तेरी ही एकान्त।
हुआ फिर क्या कुछ कैसा?
बिखर गया वह स्वप्न, हो गया सहसा ऐसा।
जीवन पथ मुड़ गया किसी संकीर्ण गली में;—
रुग्ण जहाँ था पवन; नीर निज उरस्थली में
लिये हुए था पिपुल पंक-व्रण, सकृमि; गगनतल
बन्दी था लघु कक्ष मध्य; केवल उदरानल
बुझा-बुझा भी ज्वलनशील था तीखा-तीखा;
तब भी तू कुछ काल तरुण पंकज-सा दीखा
सुरभि-समाकुल फुल्ल।
कहीं के कर्मालय में
जा पहुँचा तू स्फूर्ति समन्वित भाग्योदय में।
बहुतों से वह बहुत बड़ी, होकर भी छोटी,

स्वेद-सनी बन गई सलोनी तेरी रोटी !

उस दिन तूने सुना, गगनचुम्बित भवनों से
उठी एक ध्वनि, उच्च लोक के विबुध जनों से
उच्चारित-सी,—"स्थान अपेक्षित है हाँ, हमको !"
तू बोला—"हाँ, स्थान अपेक्षित गुरु-लघुतम को।"
फिर से तूने सुना, स्वर्ण के झन-झन-झन में
गूँज गई यह गिरा—"भयंकर निर्धनपन में
हम निरन्न हैं !"—"हम निरन्न हैं !"—तू भी बोला।
झंझाघूर्णित उग्र तरंगों में उठ डोला
तेरा उर विक्षुब्ध।
चढ़ा कब गगनस्थल पर !
अन्तर्ज्वाला लुप्त गिरा जैसी करतल पर
हिंसा और अपार क्रूरता के संगम में
प्रस्थापित थी। क्रोध-वह्नि के वमनोद्गम में
समझा तूने सफल स्वजीवन ! यन्त्रारोहित
तू ऊपर उड़ चला; फिरा ज्यों तन्त्र-विमोहित।
नीचे की यह धरा, यहाँ नीचे का मानव
भूल गया सब तुझे ! कौन वह बल अनलोद्भव
संचालित था किये तुझे गहरी माया में
करके जड़ यन्त्रांश ! आत्मविस्मृत काया में
मृत था तेरा मनुज।
नहीं, वह था घन-तंद्रित।
जब वह तेरा यन्त्र अचानक ही अनियन्त्रित
भस्मासुर-सा स्वय भभक बैठा, तब झट-से
आया तुझको याद धरांचल, उस नभ-तट से
लेकर एक उछाल आगया तत्क्षण नीचे।
मूर्च्छित होकर पड़ा हुआ था तू दृग मीचे।

मैंने देखा,—उसी दशा में तेरा मानव
जाग उठा वह वहाँ, करुण भी तीक्ष्ण विकट रव
मिथ्यावर्जन-मध्य सत्य-सम फूटा सहसा।
निशि के घन-तम-घटा छिद्र में होकर वह क्या
निकल पड़ा था एक ज्योतिकण !
मैंने वह क्षण
करके पीड़ा-दान किया है तनु पर धारण
विपुल व्रणों के बीच, किसी अनमिट लेखा में।
वह स्याही वह रक्तनीर रेखा-रेखा में
रहने देगी नहीं, रहेंगे तब भी अक्षर।
सुना भले ही सकूँ कहीं, वे नित्य निरन्तर
किया करेंगे वही घोष उद्घोषित।
भाई,
चला गया तू, वहाँ किसी जन को क्या आई
तेरी सुध क्षण काल ! किसी जन ने क्या सोचा,—
किस कारण हो गया अचानक ओछा-ओछा
मेरा आतुर हृदय ! वहाँ के मरण-घाट पर
कोई किसका कौन, निरा संख्यात्मक बनकर
तेरा स्मृति-शव पहुँच गया होगा इस क्षण तक,
आये-आये, गये-गये होंगे शतसंख्यक,
उनमें तू भी 'एक'।
दृष्टि धुँधली पड़ जाती,
उस दूरी की झलक मात्र ही आने पाती।
जाग्रत है इस अर्द्ध यामिनी में वह कोई;
वृद्धा है वह, नहीं आज अब तक जो सोई।
कल का वह दिन, पत्र पायगी जब वह तेरा,
सोच रही है—"गया, गया, यह गया अँधेरा,—
अब क्या सोऊँ !—रहे कुशलयुत वह हे त्राता !"

गद्गद होकर नमित हुई ऊपर को माता
निर्निमेष, निर्वाक।
देखता हूँ मैं आगे,
कल के दिन रवि-रश्मि गगन में जागे-जागे
जगा रहे हैं दूर कहीं का छोटा आँगन;
वहाँ निराले कक्ष बीच उस तरुणी का मन
उछल रहा, वह पसर गया चहुँ ओर पुलक में,
प्रियतम का प्रिय पत्र लिये वह नई हुलक में
भूली बहु व्यवधान-महोदधि द्वीपान्तर के;
फिर फिर पढ़ वह पत्र, उसे मृदु मधुराधर के
शत-शत चुम्बन दान कर रही है स्वेदार्पित;
प्रिय दो दिन के लिए आ रहा है अविलम्बित;—
दूर नहीं अब मिलनतीर्थ वह!
उसकी दूरी
दुस्तर तर दुर्लंघ्य, हो सकेगी क्या पूरी
इस जीवन में! हाय अरे, तेरा खंडित शव
इस धरणी का भाग हो गया है चिर नीरव!
तू है मेरी धन्यभूमि, कह तो, उर-थल में
रखती तू भी घृणा! उसी विद्वेषानल में,
हिंसानल में, दग्ध हुई है आत्मा तेरी!
सीस हिला तू एक बार ओ मेरी, मेरी,
तेरी भी मैं सुनूँ।
आश्वसित, समाश्वसित हूँ,
तुझे देखकर हरित भाव से आशान्वित हूँ।
देख रहा हूँ, जहाँ क्रोध-कुत्सित पाशव का
रूप विकट वीभत्स, जहाँ मूर्च्छित मानव का
शतशः खंडीकरण दलन-विदलन कर करके;
उसी ठौर पर, उसी ठिकाने के थल पर से

फूट पड़े हैं नये नये अंकुर वे शोभन।
उस सैनिक का रुधिर वहाँ वह हृदय विमोहन
नवजीवन के अरुणराग में परिवर्तित है।
जिसे घृणा की गई, उसीके लिए नमित है
धरणी की वह सुमन-मंजरी मृदुलान्दोलित।
स्नेह-सुरभि की लोल लहर ही है उत्तोलित
इधर-उधर सब ओर।

मोहनलाल महतो 'वियोगी'

जयचंद की मृत्यु

आयी मोदपूरिता विभावरी विभामया,
भूमि से गगन तक अभ्रक की धूलि-सी
भर गयी अमल-धवल चारु चन्द्रिका,
मानो भरा दुग्धफेन भूतल से नभ लौं।
रात बनी मूर्तिमती 'शुक्लाऽभिसारिका'
आ रही है निज को छिपाये सित वस्त्र में।
अलंकार 'मीलिता' सदेह देखा कवि ने,
किन्तु नीलिमा थी निशानाथ के कलंक की,
यह 'उन्मीलिता' का सहज स्वरूप था।
× × ×
संख्यातीत तीव्र उल्काओं का प्रकाश है
विजयी महान् आर्य-सेना है पड़ी हुई।
कितने शिविर हैं असंख्य गज, रथ हैं
घूमते हैं प्रहरी सतर्क वीर दर्प से
नंगी तलवारें लिये दिव्य वर्म पहने।
झलमल होते हैं सनाह, अस्त्र उनके,
उल्का के प्रकाश में—दवाग्नि मानो घूमती
ठौर-ठौर, माया से अनेक रूप धरके।
शत-शत दीर्घ शिविरों के बीच रानी का
सुन्दर शिविर है—सुरक्षित हृदय हो,
जैसे अस्थि पंजरों के बीच में छिपा हुआ।
'आर्यध्वज' पूर्ण महिमा से लहराता है,
सामने शिविर के, प्रशान्त नभोदेश में।

भीतर शिविर के महान् भारतेश्वरी

बैठी हैं समस्त आर्यभूप वहाँ बैठे हैं।
बैठे हैं विजयमद पीके उन्मत्त हो
मृत्युञ्जय सेनाध्यक्ष वीर आर्यसेना के।
मंत्री सभी बैठे हैं, विचार में निमग्न से,
मानो साम, दाम, दंड, भेद वहाँ बैठे हों,
ज्ञान - अनुभव - वृद्ध मंत्रियों के रूप में।
कवि चंद बैठा है समक्ष महारानी के
मानो रूद्र तेजोमय वीरभद्र बैठा हो
सेवा में भवानी के—प्रभावपूर्ण दृश्य है।
दुग्ध फेनिल एक शय्या है बिछी हुई
राजा जयचंद मृतप्राय हैं पड़े हुए।
जीवन की ज्योति अब क्षीण हुई जाती है,
राजा हैं बने हुए प्रदीप निर्धन का,
हाय, जलते ही जो सनेह के अभाव से,
करता उपक्रम तुरन्त बुझ जाने का।
चिन्तित सभी हैं, यत्नशील राजवैद्य है,
बार-बार कवि चंद उठकर राजा को,
देखता है, दीर्घ श्वास त्याग बैठ जाता है।
नृत्य करती हैं दो तरंगें एक साथ ही
कवि-शांत-मानस में सुख और दुख की।
सुन पड़ती है धड़कन भी हृदय की
ऐसी है कठोर निस्तब्धता शिविर में।
बोला जयचंद व्यग्र अस्फुट स्वर में—
"आर्यपति, मैंने ही विनाश किया देश का
पृथ्वीपति पृथ्वीराज, आज क्षमा कर दो।
रक्षा करो मेरी नरकाग्नि से, प्रणत हूँ।
देशद्रोही, मैं ही जयचंद देशद्रोही हूँ,
रोम - रोम मेरा जलता है मनस्ताप से,

होगा कौन मुझ-सा अभागा आर्यभूमि में।"
हाथ मलता है कन्नौजपति व्यग्र हो,
मानो वह 'आयुरेखा' हाथ की मिटाता हो।
सुनके प्रलाप सकरुण जयचंद का
रो पड़े सभासद, कवींद्र हुआ विचलित,
बार-बार हृदय उमड़ आया रानी का।

जयचंद बोला फिर एक आह भरके
—"देखता हूँ, अब, देखता हूँ दूर नभ में
माता सिंहवाहिनी हैं, भारत - वसुंधरा,
सिर पर हिम का किरीट है लुभावना,
मानो उदयाद्रि पर रम्य शशि-लेखा हो।
छत्र है जलद का, असंख्य इन्द्रधनुष से
माता हैं विभूषित—त्रिशूल लिये कर में,
मानो शक्ति केन्द्रित हो सृष्टि, स्थिति, लय की
अम्बिका के कर में—नयन तृप्त हो गये।
स्नेह भरी आखें हैं, प्रसन्न हैं, प्रशांत हैं,
पुष्प, अर्घ्य लेकर उपस्थित त्रिवेद हैं।
गूँजता है 'पृथ्वी सूक्त' मानो वेद भक्ति से
स्वर रूप लेके 'सामगान' में निरत हों।
और - और, देखो वह देखो आर्य-सेना के,
वीर जितने हैं मरे इस धर्मयुद्ध में,
आरती उतारते हैं, दिव्य रूप धरके।
आज होता मैं वहीं वीरगति पाता जो।
माता मुसकाईं—सुधावृष्टि हुई नभ से,
रूप की विभा से उद्भासित भुवन है।
रोको मत—मैं भी चला पूजा शेष हो चली
माता आर्य - जननी, हे भवभयहारिणी,

तनिक सहारा दो—दया करो दयामयी।"

एक बार चीखकर राजा जयचंद ने
चाहा उठ बैठना, परन्तु प्राण उसके
छोड़कर लीन हुए माता के चरण में।
दीप-शिखा लीन हुई जाके अंशुमाली में
लीन हुई लहर अनन्त पारावार में।
सौंपकर निजकृत कर्म-भार प्रभु को,
सौंपकर यश - अपयश इतिहास को,
सौंपकर नाशवान देह मातृभूमि को,
राजा जयचंद हुआ पार भव-सिन्धु के।
"कोई नहीं कह सकता है त्रैलोक में
यह भव-नाटक सुखान्त या दुखान्त है।"

रोये सभासद और भारत - अधीश्वरी
धीरता धरा - सी कर धारण विदा हुई।

× × ×

जिस भाँति स्वर्ण शुद्ध होता है आँच में,
शुद्ध हुआ राजा भी चिता की महाज्वाला से।
भस्म हुआ पार्थिव शरीर जयचंद का,
भस्म हुआ सुख-दुख साथ उसी देह के।
वायु ने उड़ायी खाक, आकर जलद ने
धोयी वह भूमि- जहाँ राजा की चिता बनी।
मुहँ जोहता था इतिहास जिस वीर का
बन गयी छोटी-सी कहानी वही सहसा।

× × ×

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

मौन रही हार

'मौन रही हार,
प्रिय-पथ पर चलती,
सब कहते शृङ्गार!
कण-कण कर कङ्कण, प्रिय
किण-किण रव किङ्किणी,
रणन-रणन नूपुर, उर लाज,
लौट रङ्किणी;
और मुखर पायल स्वर करें बार-बार,
प्रिय-पथ पर चलती, सब कहते शृंगार!
शब्द सुना हो, तो अब
लौट कहाँ जाऊँ!
उन चरणों को छोड़, और
शरण कहाँ पाऊँ!'—
बजे सजे उर के इस सुर के सब तार—
प्रिय-पथ पर चलती, सब कहते शृङ्गार!

कौन तुम शुभ्र-किरण वसना?

कौन तुम शुभ्र-किरण-वसना!
सीखा केवल हँसना—केवल हँसना—
शुभ्र-किरण-वसना!
मन्द मलय भर अङ्ग-गन्ध मृदु
बादल अलकावलि कुञ्चित-ऋजु,
तारक हार, चन्द्र मुख, मधु ऋतु
सुकृत-पुञ्ज-अशना!
नहीं लाज, भय, अनृत, अनय, दुख
लहराता उर मधुर प्रणय-सुख,

अनायास ही ज्योतिर्मय-मुख
स्नेह - पाश - कसना ।
चञ्चल कैसे रूप - गर्व - बल
तरल सदा बहती कल-कल-कल,
रूप-राशि में टलमल-टलमल,
कुन्द-धवल-दशना ।

गीत

अलि घिर आए घन पावस के ।
लख ये काले-काले बादल,
नील-सिन्धु में खुले कमल-दल,
हरित ज्योति, चपला अति चंचल,
सौरभ के, रस के—
अलि, घिर आए घन पावस के ।
द्रुम समीर-कम्पित थर थर थर,
झरतीं धाराएँ झर झर झर,
जगती के प्राणों में स्मर-शर
बेध गए, कसके—
अलि, घिर आए घन पावस के ।
हरियाली ने, अलि, हर ली श्री
अखिल विश्व के नव यौवन की,
मन्द-गन्ध-कुसमों में लिख दी
लिपि जय की हँसके—
अलि, घिर आए घन पावस के ।
छोड़ गए गृह जब से प्रियतम
बीते अपलक दृश्य मनोरम,
क्या मैं हूँ ऐसी ही अक्षम,
क्यों न रहे बसके—
अलि, घिर आए घन पावस के ।

प्रेयसी

घेर अङ्ग अङ्ग को
लहरी तरंग वह प्रथम तारुण्य की ,
ज्योतिर्मयि-लता-सी हुई मैं तत्काल
घेर निज तरु-तन ।
खिले नव पुष्प जग प्रथम सुगन्ध के ,
प्रथम वसन्त में गुच्छ-गुच्छ ।
दृगों को रँग गई प्रथम प्रणय-रश्मि ;—
चूर्ण हो विच्छुरित
विश्व-ऐश्वर्य को स्फुरित करती रही
बहु रंग-भाव भर
शिशिर ज्यों पत्र पर कनक-प्रभात के ,
किरण-सम्पात से ।
दर्शन-समुत्सुक युवाकुल पतंग ज्यों
विचरते मंजु-मुख
गुंज-मृदु अलि-पुंज
मुखर-उर मौन वा स्तुति-गीत में हरे ।
प्रस्रवण झरते आनन्द के चतुर्दिक्—
झरते अन्तर पुलकराशि से बार बार
चक्राकार कलरव तरंगों के मध्य में
उठी हुई उर्वशी-सी ,
कम्पित प्रतनु-भार .
विस्तृत दिगन्त के पार प्रिय-बद्ध-दृष्टि
निश्चल अरूप में ।
हुआ रूप-दर्शन
जब कृतविद्य तुम मिले
विद्या को दृगों से ,
मिला लावण्य ज्यों मूर्ति को मोहकर ,—

शेफालिका को शुभ्र हीरक-सुमन-हार ,—
श्रृंगार
शुचि दृष्टि मूक रस-सृष्टि को ।
याद है, उषःकाल ,—
प्रथम-किरण-कम्प प्राची के दृगों में ,
प्रथम-पुलक फुल्ल चुम्बित वसन्त की
मंजरित लता पर ,
प्रथम विहग-बालिकाओं का मुखर स्वर—
प्रणय-मिलन-गान ,
प्रथम विकच कलि वृन्त पर नग्न-तनु
प्राथमिक पवन के स्पर्श से काँपती ,
करती विहार
उपवन में मैं, छिन्न-हार
मुक्ता-सी निःसंग ,
बहु रूप-रंग वे देखती, सोचती ;
मिले तुम एकाएक ;
देख मैं रुक गई :—
चल पद हुए अचल ,
आप ही अपल दृष्टि ,
फैला समष्टि में खिंच स्तब्ध हुआ मन ।
दिये नहीं प्राण जो इच्छा से दूसरे को ,
इच्छा से प्राण वे दूसरे के हो गये !
दूर थी ,
खिंचकर समीप ज्यों मैं हुई
अपनी ही दृष्टि में ;
जो था समीप विश्व ,
दूर दूरतर दिखा ।
मिली ज्योति-छवि से तुम्हारी

ज्योति-छवि मेरी ,
नीलिमा ज्यों शून्य से ;
बँध कर मैं रह गई ;
डूब गये प्राणों में
पल्लव-लता-भार
वन-पुष्प-तरु हार
कूजन-मधुर चल विश्व के दृश्य सब ,—
सुन्दर गगन के भी रूप-दर्शन सकल—
सूर्य-हीरकधरा प्रकृति नीलाम्बरा ,
सन्देशवाहक बलाहक विदेश के ।
प्रणय के प्रलय में सीमा सब खो गई !
बँधी हुई तुमसे ही
देखने लगी मैं फिर
फिर प्रथम पृथ्वी को ;
भाव बदला हुआ—
पहले की घन-घटा वर्षण बनी हुई ;
कैसा निरञ्जन यह अंजन आ लग गया !
देखती हुई सहज
हो गई मैं जड़ीभूत ,
जगा देहज्ञान ,
फिर याद गेह की हुई ;
लज्जित
उठे चरण दूसरी ओर को—
विमुख अपने से हुई !
चली चुपचाप ,
मूक सन्ताप हृदय में ,
पृथुल प्रणय-भार !
देखते निमेषहीन नयनों से तुम मुझे

रखने को चिरकाल बाँध कर दृष्टि से
अपना ही नारी रूप, अपनाने के लिए,
मर्त्य में स्वर्गसुख पाने के अर्थ, प्रिये,
पीने को अमृत अंगों से झरता हुआ।
कैसी निरलस दृष्टि!
सजल शिशिर धौत पुष्प ज्यों प्रात मे
देखता है एकटक किरण-कुमारी को!—
पृथ्वी का प्यार, सर्वस्व, उपहार देता
नभ की निरुपमा को,
पलकों पर रख नयन
करता प्रणयन, शब्द—
भावों में विशृंखल बहता हुआ भी स्थिर।
देकर दिया न ध्यान मैंने उस गीत पर
कुल-मान-ग्रन्थि में बँधकर चली गई;
जीते संस्कार वे बद्ध संसार के—
उनकी ही मैं हुई!
समझ नहीं सकी. हाय,
बँधा सत्य अंचल से
खुलकर कहाँ गिरा।
बीता कुछ काल,
देह-ज्वाला बढ़ने लगी,
नन्दन-निकुंज की रति को ज्यों मिला मरु,
उतर कर पर्वत से निर्झरी भूमि पर
पंकिल हुई, सलिल-देह कलुषित हुआ।
करुणा की अनिमेष दृष्टि मेरी खुली,
किन्तु अरुणार्क, प्रिय झुलसाते ही रहे—
भर नहीं सके प्राण रूप-विन्दु-दान से।
तब तुम लघुपद-विहार

अनिल ज्यों बार बार
वक्ष के सजे तार झंकृत करने लगे
साँसों से, भावों से, चिन्ता से कर प्रवेश ।
अपने उस गीत पर
सुखद मनोहर उस तान की माया में
लहरों से हृदय की
भूल-सी मैं गई
संसृति के दुःख-घात ;
श्लथ-गात, तुममें ज्यों ;
रही मैं बद्ध हो ।
किन्तु हाय ,
रूढ़ि धर्म के विचार ,
कुल, मान, शील, ज्ञान,
उच्च प्राचीर ज्यों घेरे जो थे मुझे ,
घेर लेते बार बार ,
जब मैं संसार में रखती थी पदमात्र ,
छोड़ कल्प-निस्सीम पवन-विहार मुक्त ।
दोनों हम भिन्न-वर्ण ,
भिन्न-जाति, भिन्न-रूप ,
भिन्न-धर्म भाव पर
केवल अपनाव से, प्राणों से एक थे ।
किन्तु दिन-रात का ,
जल और पृथ्वी का
भिन्न सौन्दर्य से बन्धन स्वर्गीय है ,
समझे यह नहीं लोग
व्यर्थ अभिमान के !
अन्धकार था हृदय
अपने ही भार से झुका हुआ, विपर्यस्त ।

गृह-जन थे कर्म पर ।
मधुर प्रभात ज्यों द्वार पर आये तुम ,
नीड़-सुख छोड़ कर मुक्त उड़ने को संग
किया आह्वान मुझे व्यंग के शब्द में ।
आई मैं द्वार पर सुन प्रिय कंठ-स्वर
अश्रुत जो बजता रहा था झंकार भर
जीवन की वीणा में ,
सुनती थी मैं जिसे ।
पहचाना मैंने, हाथ बढ़ कर तुमने गहा ।
चल दी मैं मुक्त, साथ ।
एक बार ऋणी
उद्धार के लिए ,
शत बार शोध की उर में प्रतिज्ञा की ।
पूर्ण मैं कर चुकी ।
गर्वित, गरीयसी अपने में आज मैं ।
रूप के द्वार पर
मोह की माधुरी
कितने ही बार पी मूर्च्छित हुए हो, प्रिय ,
जागती मैं रही ,
गह, बाँह बाँह में भर कर सँभाला तुम्हें ।

प्रिया से

मेरे इस जीवन की है तू सरस साधना कविता ,
मेरे तरु की है तू कुसुमित प्रिये कल्पना-लतिका ;
मधुमय मेरे जीवन की प्रिय है तू कमल-कामिनी ,
मेरे कुंज-कुटीर-द्वार की कोमल - चरणगामिनी ;

नूपुर मधुर बज रहे तेरे ,
सब शृंगार सज रहे तेरे ,

अलक-सुगन्ध मन्द मलयनिल धीरे-धीरे ढोती,
पथश्रान्त तू सुप्त कान्त की स्मृति में चलकर सोती।
कितने वर्णों में, कितने चरणों में तू उठ खड़ी हुई,
कितने बन्दों में, कितने छन्दों में तेरी लड़ी गई,
कितने ग्रंथों में, कितने पन्थों में देखा, पढ़ी गई
तेरी अनुपम गाथा,
मैंने वन में अपने मन में
जिसे कभी गाया था।

मेरे कवि ने देखे तेरे स्वप्न सदा अविकार,
नहीं जानती क्यों तू इतना करती मुझको प्यार!
तेरे सहज रूप से रँग कर,
झरे गान के मेरे निर्झर,
भरे अखिल सर,
स्वर से मेरे सिक्त हुआ संसार!

वह

सौन्दर्य-सरोवर की वह एक तरंग,
किन्तु नहीं चंचल प्रवाह-उद्दाम वेग—
संकुचित एक लज्जित गति है वह
प्रिय समीर के संग।
वह नव वसन्त की किसलय-कोमल लता,
किसी विटप के आश्रय में मुकुलिता
किन्तु अवनता!

उसके खिले कुसुम-सम्भार
विटप के गर्वोन्नत वक्षःस्थल पर सुकुमार,
मोतियों की मानो है लड़ी
विजय के वीर-हृदय पर पड़ी।
इसे सर्वस्व दिया है,

इस जीवन के लिए हृदय से जिसे लपेट लिया है।
वह है चिरकालिक बन्धन,
पर है सोने की जंजीर,
उसीसे बाँध लिया करती मन,
करती किन्तु न कभी अधीर।
पुष्प है उसका अनुपम रूप,
कान्ति सुषमा है,
मनोमोहिनी है वह मनोरमा है,
जलती अन्धकारमय जीवन की वह एक शमा है।
वह है सुहाग की रानी,
भावमग्न कवि की वह एक मुखरता-वर्जित वाणी।
सरलता ही से उसकी होती मनोरञ्जना,
नीरवता ही करती उसकी पूरी भाव-व्यंजना।
अगर कहीं चंचलता का प्रभाव कुछ उस पर देखा
तो थी वह प्रियतम के आगे मृदु स्निग्ध हास्य की रेखा,
बिना अर्थ की—एक प्रेम ही अर्थ—और निष्काम
मधुर बहाती हुई शान्ति-सुख की धारा अविराम।
उसमे कोई चाह नहीं है
विषय-वासना तुच्छ उसे कोई परवाह नहीं है।
उसकी साधना
केवल निज सरोज-मुख पति को ताकना।
रहें देखते प्रिय को उसके नेत्र निमेष विहीन,
मधुर भाव की इस पूजा में ही वह रहती लीन।
यौवन-उपवन का पति वसन्त,
है वही प्रेम उसका अनन्त,
है वही प्रेम का एक अन्त।
खुलकर अतिप्रिय नीरव भाषा ठंडो उस चितवन से
क्या जाने क्या कह जाती है अपने जीवन-धन से!

सन्ध्या-सुन्दरी

दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे धीरे धीरे,
तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर मधुर हैं दोनों उसके अधर,—
किन्तु जरा गम्भीर,—नहीं है उनमें हास-विलास।
हँसता है तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन घुंघराले काले-काले बालों से,
हृदय-राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक।
अलसता की-सी लता
किन्तु कोमलता की वह कली,
सखी-नीरवता के कन्धे पर डाले बाँह,
छाँह-सी अम्बर-पथ से चली।
नहीं बजती उसके हाथों में कोई वीणा,
नहीं होता कोई अनुराग-राग-आलाप,
नूपुरों में भी रुन-झुन रुन-झुन नहीं,
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा "चुप चुप चुप"
है गूँज रहा सब कहीं—

व्योम-मण्डल मे जगतीतल में—
सोती शान्त सरोवर पर उस अमल कमलिनी-दल में—
सौन्दर्य-गर्विता-सरिता के अति विस्तृत वक्षःस्थल में—
धीर-वीर-गम्भीर शिखर पर हिमगिरि-अटल-अचल में—
उत्ताल तरंगाघात-प्रलय घनगर्जन-जलधि-प्रबल में—
क्षिति में—जल में—नभ मे—अनिल-अनल में—
सिर्फ एक अव्यक्त शब्द-सा "चुप चुप चुप"
है गूँज रहा सब कहीं,—

और क्या है ? कुछ नहीं ।
मदिरा की वह नदी बहाती आती ,
थके हुए जीवों को वह सस्नेह
प्याला वह एक पिलाती ।
सुलाती उन्हें अंक पर अपने ,
दिखलाती फिर विस्मृति के वह अगणित मीठे सपने ।
अर्द्धरात्रि की निश्चलता में हो जाती जब लीन ,
कवि का बढ़ जाता अनुराग ,
विरहाकुल कमनीय कंठ से
आप निकल पड़ता तब एक विहाग ।

विधवा

वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा-सी ,
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव में लीन ,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी ,
वह टूटे तरु की छुटी, लता-सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है ।
षड् ऋतुओं का शृंगार ,
कुसुमित कानन में नीरव-पद-संचार ,
अमर कल्पना में स्वच्छन्द विहार—
व्यथा की भूली हुई कथा है ,
उसका एक स्वप्न अथवा है ।
उसके मधु-सुहाग का दर्पण
जिसमें देखा था उसने
बस एक बार बिम्बित अपना जीवन-धन ,
अबल हाथों का एक सहारा—
लक्ष्य जीवन का प्यारा वह ध्रुवतारा—
दूर हुआ वह बहा रहा है
उस अनन्त पथ से करुणा की धारा ।

हैं करुणा-रस से पुलकित इसकी आँखें ,
देखा तो भीगीं मन-मधुकर की पाँखें ,
मृदु रसावेश में निकला जो गुंजार
वह और न था कुछ, था बस हाहाकार ।
उस करुणा की सरिता के मलिन पुलिन पर ,
लघु टूटी हुई कुटी का मौन बढ़ाकर
अति छिन्न हुए भीगे अञ्चल मे मन को—
दुख-रूखे सूखे अधर-त्रस्त चितवन को
वह दुनियाँ की नजरों से दूर बचाकर ,
रोती है अस्फुट स्वर में ;
दुख सुनता है आकाश धीर ,
निश्चल समीर ,
सरिता की वे लहरें भी ठहर-ठहरकर ।
कौन उसको धीरज दे सके ?
दुःख का भार कौन ले सके ?
यह दुःख वह जिसका नहीं कुछ छोर है ,
दैव अत्याचार कैसा घोर और कठोर है !
क्या कभी पोंछे किसीके अश्रुजल ?
या किया करते रहे सबको विकल ?
ओस-कण-सा पल्लवों से झर गया ।
जो अश्रु, भारत का उसीसे सर गया ।

जुही की कली

विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी—स्नेह-स्वप्न-मग्न—
अमल-कोमल-तनु तरुणी—जुही की कली ,
दृग बन्द किये, शिथिल,—पत्राङ्क में ,
वासन्ती निशा थी ;

विरह-विधुर-प्रिया-संग छोड़
किसी दूर देश में था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल ।
आई याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात ,
आई याद चाँदनी की धुली हुई आधी रात ,
आई याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात ,
फिर क्या ? पवन
उपवन-सर-सरित गहन-गिरि-कानन
कुंज-लता-पुंजों को पार कर
पहुँचा जहाँ उसने की केलि
कली-खिली-साथ ।
सोती थी ,
जाने कहो कैसे प्रिय-आगमन वह ?
नायक ने चूमे कपोल ,
डोल उठी वल्लरी की लड़ी जैसे हिंडोल ।
इस पर भी जागी नहीं ,
चूक-क्षमा मागी नहीं ,
निद्रालस वंकिम विशाल नेत्र मूँदे रही—
किंवा मतवाली थी योवन की मदिरा पिए ,
कौन कहे ?
निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की
कि झोंकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली ,
मसल दिए गोरे कपोल गोल ;
चौंक पड़ी युवती—चकित चितवन निज चारों ओर फेर ,
हेर प्यारे को सेज-पास, नम्रमुखी हँसी—खिली ,
खेल रंग, प्यारे-संग ,

यमुना के प्रति

स्वप्नों-सी उन किन आँखों की
पल्लव छाया में अम्लान
यौवन की माया-सा आया
मोहन का सम्मोहन ध्यान ?
गन्धलुब्ध किन अलिबालों के
मुग्ध हृदय का मृदु गुंजार
तेरे दृग-कुसुमों की सुषमा
जाँच रहा है बारंबार ?
यमुने, तेरी इन लहरों में
किन अधरों की आकुल तान
पथिक-प्रिया-सी जगा रही है
उस अतीत के नीरव गान ?
बता कहाँ अब वह वंशीवट ?
कहाँ गए नटनागर श्याम ?
चल चरणों का व्याकुल पनघट
कहाँ आज वह वृन्दाधाम ?
कभी यहाँ देखे थे जिनके
श्याम-विरह से तप्त शरीर ,
किस विनोद की तृषित गोद में
आज पोंछती वे दृगनीर ?
रंजित सहज सरल चितवन में
उत्कंठित सखियों का प्यार
क्या आँसू-सा ढुलक गया वह
विरह-विधुर उर का उद्‌गार ?

तू किस विस्मृति की वीणा से
उठ-उठ कर कातर झंकार
उत्सुकता से उकता उकता
खोल रही स्मृति के दृढ़ द्वार!
अलस प्रेयसी-सी स्वप्नों में
प्रिय की शिथिल सेज के पास
लघु लहरों के मधुर स्वरों में
किस अतीत का गूढ़ विलास!
उर-उर में नूपुर की ध्वनि-सी
मादकता की तरल तरंग
विचर रही है मौन पवन में
यमुने किस अतीत के संग!

अलि-अलकों के तरल तिमिर में
किसकी लोल लहर अज्ञात
जिसके गूढ मर्म में निश्चित
शशि-सा मुख ज्योत्स्ना-सी गात!
कह, सोया किस खंजन-वन में
उन नयनों का अंजन-राग!
बिखर गए अब किन पातों में
वे कदम्ब-मुख-स्वर्ण-पराग!
चमक रहे अब किन तारों में
उन हारों के मुक्ता-हीर!
बजते हैं अब किन चरणों में
वे अधीर नूपुर-मंजीर!
किस समीर से काँप रही वह
वंशी की स्वर-सरित-हिलोर!
किस वितान से तनी प्राण तक
छू जाती वह करुण मरोर!

खींच रही किस आशा-पथ पर
वह यौवन की प्रथम पुकार !
सींच रही लालसा-लता नित
किस कंकण की मृदु झंकार !
उमड़ चला अब वह किस तट पर
क्षुब्ध प्रेम का पारावार !
किसकी विकच वीचि-चितवन पर
अब होता निर्भय अभिसार !
भटक रहे वे किसके मृग-दृग !
बैठी पथ पर कौन निराश !—
मारी मरु-मरीचिका की-सी
ताक रही उदास आकाश।
हिला रहा अब कुंजों के किन
द्रुम-पुंजों का हृदय कठोर
विगलित विफल वासनाओं से
क्रन्दन-मलिन पुलिन का रोर !
किस प्रसाद के लिए बढ़ा अब
उन नयनों का विरस विषाद !
किस अजान में छिपा आज वह
श्याम गगन का घन उन्माद !
कह, किस अलस मराल-चाल पर
गूँज उठे सारे संगीत
पद-पद के लघु ताल-ताल पर
गति स्वच्छन्द, अजीत अभीत !
स्मिति-विकसित नीरज-नयनों पर
स्वर्ण-किरण-रेखा अम्लान
साथ-साथ प्रिय तरुण अरुण के
अन्धकार में छिपी अजान !

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

किस दुर्गम गिरि के कन्दर में
डूब गया जग का निःश्वास ?
उतर रहा अब किस अरण्य में
दिनमणि-हीन अस्त आकाश ?
आप आ गया प्रिय के कर में,
कह, किसका वह कर सुकुमार ?
विटप-विहग ज्यों फिरा नीड़ में
सहम तमिस्र देख संसार ?
स्मर-सर के निर्मल अन्तर में
देखा था जो शशि-प्रतिभात
छिपा लिया है उसे जिन्होंने
हैं वे किस घन वन के पात ?
कहाँ आज वह निद्रित जीवन
बँधा बाहुओं में भी मुक्त ?
कहाँ आज वह चितवन चेतन
श्याम-मोह-कज्जल अभियुक्त ?
वह नयनों का स्वप्न मनोहर
हृदय-सरोवर का जलजात,
एक चन्द्र निस्सीम व्योम का,
वह प्राची का विमल प्रभात,
वह राका की निर्मल छवि, वह
गौरव रवि, कवि का उत्साह,
किस अतीत से मिला आज वह
यमुने, तेरा सरस प्रवाह ?

विस्मृत-पथ-परिचायक स्वर से
छिन्न हुए सीमा-दृढ़ पाश,
ज्योत्सना के मंडप में निर्भय
कहाँ हो रहा है वह रास ?

वह कटाक्ष-चंचल यौवन-मन
वन-वन प्रिय-अनुसरण-प्रयास ,
वह निष्पलक सहज चितवन पर
प्रिय का अचल अटल विश्वास ;
अलक-सुगन्ध-मदिर सरि-शीतल
मन्द अनिल, स्वच्छन्द प्रवाह ,
वह विलोल हिल्लोल चरण कटि ,
भुज, ग्रीवा का वह उत्साह ;
मत्त-भृंग-सम संग-संग तम—
तारा मुख-अम्बुज-मधु लुब्ध ,
विकल विलोड़ित चरण-अंक पर
शरण-विमुख नूपुर उर-क्षुब्ध ,
वह संगीत विजय-मद-गर्वित
नृत्य-चपल अधरों पर आज ,
वह अजीत-इंगित, मुखरित-मुख
कहीं आज वह सुखमय साज !
वह अपनी अनुकूल प्रकृति का
फूल, वृन्त पर विकच अधीर ,
वह उदार संवाद विश्व का
वह अनन्त नयनों का नीर ,
वह स्वरूप-मध्याह्न-तृषा का
प्रचुर आदि-रस, वह विस्तार
सकल प्रेम का जीवन के वह
दुस्तर सर-सागर का पार ;
वह अँजलि कलिका की कोमल ,
वह प्रसून की अन्तिम दृष्टि ,
वह अनन्त का ध्वंस सान्त, वह
सान्त विश्व की अगणित सृष्टि ;

वह विराम अलसित पलकों पर
सुधि की चंचल प्रथम तरंग ,
वह उद्दीपन, वह मृदु कम्पन ,
वह अपनापन, वह प्रिय-संग ,
वह अज्ञात पतन लज्जा का
स्खलन शिथिल घूँघट का देख
हास्य-मधुर निर्लज्ज उक्ति वह ,
वह नव यौवन का अभिषेक ;
मुग्ध रूप का वह क्रय-विक्रय ,
वह विनिमय का निर्दय भाव ,
कुटिल करों को सौंप सुहृद-मन ,
वह विस्मरण, मरण, वह चाव ;
असफल छल की सरल कल्पना ,
ललनाओं का मृदु उद्गार
बता कहाँ विक्षुब्ध हुआ वह
दृढ़ यौवन का पीन उभार ;
उठा तूलिका मृदु चितवन की ,
भर मन की मदिरा में मौन ,
निर्निमेष नभ-नील-पटल पर
अटल खींच ' व, वह कौन !

कहाँ छलकते अब वैसे ही
ब्रज-नागरियों के गागर !
कहाँ भीगते अब वैसे ही
बाहु, उरोज, अधर, अम्बर !
बँधा बाहुओं में घट क्षण-क्षण
कहाँ प्रकट बकता अपवाद !
अलकों को, किशोर पलकों को
कहाँ वायु देती संवाद !

कहाँ कनक कोरों के नीरव ,
अश्रुकणों में भर मुसकान ,
विरह-मिलन के एक साथ ही
खिल पड़ते वे भाव महान !
कहाँ सूर के रूप-बाग के
दाड़िम, कुन्द, विकच अरविन्द ,
कदली, चम्पक, श्रीफल, मृगशिशु ,
खंजन, शुक, पिक, हंस, मिलिन्द !
एक रूप में कहाँ आज वह
हरि-मृग का निर्वैर विहार ,
काले नागों से मयूर का
बन्धु-भाव, सुख सहज अपार !
पावस की प्रगल्भ धारा में
कुंजों का वह कारागार
अब जग के विस्मित नयनों में
दिवस-स्वप्न-सा पड़ा असार !
द्रव-नीहार अचल-अधरों से
गल गल गिरि-उर के सन्ताप
तेरे तट से अटक रहे थे
करते अब सिर पटक विलाप ;
विवश दिवस के से आवर्तन
बढ़ते हैं अम्बुधि की ओर ,
फिर-फिर-फिर भी ताक रहे हैं
कोरों में निज नयन-मरोर !
एक रागिनी रह जाती जो
तेरे तट पर मौन उदास ,
स्मृति-सी भग्न भवन की, मन को
दे जाती अति क्षीण प्रकाश !

टूट रहे हैं पलक-पलक पर
तारों के ये जितने तार
जग के अब तक के रागों से
जिनमें छिपा पृथक् गुंजार,
उन्हें खींच निस्सीम व्योम की
वीणा में कर कर झंकार,
गाते हैं अविचल आसन पर
देवदूत जो गीत अपार,
कंम्पित उनके करुण करों में
तारक तारों की-सी तान
बता, बता, अपने अतीत के
क्या तू भी गाती है गान?

तट पर

नव वसन्त करता था वन की सैर
जब किसी क्षीण-कटि तटिनी के तट
तरुणी ने रक्खे थे अपने पैर।
नहाने को सरि वह आई थी,
साथ वसन्ती रँग की, चुनी हुई, साड़ी लाई थी।
काँप रही थी वायु, प्रीति की प्रथम रात की।

नवागता, पर प्रियतम-कर-पतिता-सी
प्रेममयी, पर नीरव अपरिचिता-सी।
किरण-बालिकाएँ लहरों से
खेल रही थीं अपने ही मन से, पहरों से।
खड़ी दूर सारस की सुन्दर जोड़ी,
क्या जाने क्या क्या कह कर दोनों ने ग्रीवा मोड़ी।
रक्खी साड़ी शिला-खंड पर
क्यों त्यागा कोई गौरव-वर।
देख चतुर्दिक, सरिता में

उतरी तिर्यग्दग, अविचल-चित ।
नग्न बाहुओं से उछालती नीर,
तरँगों में डूबे दो कुमुदों पर
हँसता था एक कलाधर,—
ऋतुराज दूर से देख उसे होता था अधिक अधीर।

वियोग से नदी-हृदय कम्पित कर,
तट पर सजल-चरण रेखाएँ निज अंकित कर,
केश-भार जल-सिक्त, चली वह धीरे-धीरे

शिला-खंड की ओर,
नव वसन्त काँपा पत्रों में,
देख दृगों की कोर !

अंग अंग में नव यौवन उच्छृंखल,
किन्तु बँधा लावण्य-पाश से
नम्र सहास अचंचल ।

झुक हुई कल कुंचित एक अलक ललाट पर,
बढ़ी हुई ज्यों प्रिया स्नेह की खड़ी बाट पर।

वायु सेविका-सी आकर
पोंछे युगल उरोज, बाहु, मधुराधर ।

तरुणी ने सब ओर
देख, मन्द हँस, छिपा लिया वे उन्नत पीन उरोज,
उठा कर शुष्क वसन का छोर।

मूर्च्छित वसन्त पत्रों पर;
तरु से वृन्तच्युत कुछ फूल
गिरे उस तरुणी के चरणों पर ।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

ठूँठ

ठूँठ यह है आज !
गई इसकी कला ,
गया है सकल साज !
अब यह वसन्त से होता नहीं अधीर ,
पल्लवित झुकता नहीं अब यह धनुष-सा ,
कुसुम से काम के चलते नहीं हैं तीर ,
छाँह में बैठते नहीं पथिक आह भर ,
झरते नहीं यहाँ दो प्राणियों के नयन-नीर ,
केवल वृद्ध विहग एक बैठता कुछ कर याद !'

वे किसान की नई बहू की आँखें

नहीं जानतीं जो अपने को खिली हुई—
विश्व-विभव ले मिली हुई ,
नहीं जानतीं सम्राज्ञी अपने को ,—
नहीं कर सकीं सत्य कभी सपने को ,
वे किसान की नई बहू की आखें
ज्यों हरीतिमा में बैठे दो विहग बन्द कर पाँखें ;
वे केवल निर्जन के दिशाकाश की ,
प्रियतम के प्राणों के पास-हास की ,
भीरु पकड़ जाने को हैं दुनियाँ के कर से—
बढ़े क्यों न वह पुलकित हो कैसे भी वर से ।

जागो फिर एक बार

जागो फिर एक बार !
प्यारे जगाते हुए हारे सब तारे तुम्हें ,
अरुण-पंख तरुण-किरण
खड़ी खोलती है द्वार—
जागो फिर एक बार !
आँखें अलियों-सी

किस मधु की गलियों में फँसी ,
बन्द कर पाँखें
पी रही हैं मधु मौन
अथवा सोई कमल-कोरकों में ?—
बन्द हो रहा गुंजार—
जागो फिर एक बार !

अस्ताचल ढले रवि ,
शशि-छवि विभावरी में
चित्रित हुई है देख
यामिनी-गन्धा जगी ,
एक टक चकोर-कोर दर्शन-प्रिय ,
आशाओं भरी मौन भाषा बहु भावमयी
घेर रहा चन्द्र को चाव से ,
शिशिर-भार-व्याकुल कुल
खुले फूल झुके हुए ,
आया कलियों में मधुर
मद-उर यौवन-उभार ?
जागो फिर एक बार !

पिउ-रव पपीहे प्रिय बोल रहे ,
सेज पर विरह-विदग्धा वधू
याद कर बीती बातें, रातें-मन-मिलन की
मूँद रही पलकें चारु ,
नयन-जल ढल गए ,
लघुतर कर व्यथा-भार—
जागो फिर एक बार !

सुहृदय समीर जैसे
पोंछो प्रिय, नयन-नीर
शयन-शिथिल-बाँहें

भर स्वप्निल आवेश में,
आतुर उर वसन-मुक्त कर दो,
सब सुप्ति सुखोन्माद हो!
छूट छूट अलस
फैल जाने दो पीठ पर
कल्पना से कोमल
ऋजु-कुटिल प्रसार कामी केश-गुच्छ!
तन-मन थक जायँ,
मृदु सुरभि-सी समीर में
बुद्धि बुद्धि में हो लीन,
मन में मन, जी जी में,
एक अनुभव बहता रहे
उभय आत्माओं में,
कब से मैं रही पुकार—
जागो फिर एक बार!
उगे अरुणाचल में रवि
आई भारती-रति कवि-कण्ठ में,
क्षण-क्षण में परिवर्तित
होते रहे प्रकृति-पट,
गया दिन, आई रात,
गई रात, खुला दिन,
ऐसे ही संसार के बीते दिन, पक्ष, मास,
वर्ष कितने ही हजार—
जागो फिर एक बार!

दिल्ली

क्या यह वही देश है—
भीमार्जुन आदि का कीर्ति-क्षेत्र,
चिरकुमार भीष्म की पताका ब्रह्मचर्य-दीप्त

उड़ती है आज भी जहाँ के वायुमंडल में
उज्वल, अधीर और चिर नवीन ?
श्रीमुख से कृष्ण के सुना था जहाँ भारत ने
गीता-गीत-सिंहनाद—
-मर्मवाणी जीवन-संग्राम की
सार्थक समन्वय ज्ञान-कर्म-भक्ति-योग का !

यह वही देश है
परिवर्तित होता हुआ ही देखा गया जहाँ
भारत का भाग्य-चक्र !—
आकर्षण तृष्णा का
खींचता ही रहा जहाँ पृथ्वी के देशों को
स्वर्ण-प्रतिमा की ओर !—
उठा जहाँ शब्द घोर
संसृति के शक्तिमान दस्युओं का अदमनीय,
पुनः पुनः बर्बरता विजय पाती गई
सभ्यता पर, संस्कृति पर,
काँपे सदा रे अधर जहाँ रक्तधारा लख
आरक्त हो सदैव।

क्या यह वही देश है—
यमुना-पुलिन से चल
'पृथ्वी' की चिता पर
नारियों की महिमा उस सती संयोगिता ने
किया आहूत जहाँ विजित स्वजातियों को
आत्म-बलिदान से :
'पढ़ो रे, पढ़ो रे पाठ,
भारत के अविश्वस्त अवनत ललाट पर
निज चिताभस्म का टीका लगाते हुए,—
सुनते ही रहे खड़े भय से विवर्ण जहाँ

भर स्वप्निल आवेश में ,
आतुर उर वसन-मुक्त कर दो ,
सब सुप्ति सुखोन्माद हो !
छूट छूट अलस
फैल जाने दो पीठ पर
कल्पना से कोमल
ऋजु-कुटिल प्रसार कामी केश-गुच्छ !
तन-मन थक जायँ ,
मृदु सुरभि-सी समीर में
बुद्धि बुद्धि में हो लीन ,
मन में मन, जी जी में ,
एक अनुभव बहता रहे
उभय आत्माओं में ,
कब से मैं रही पुकार—
जागो फिर एक बार !
उगे अरुणाचल में रवि
आई भारती-रति कवि-कण्ठ में ,
क्षण-क्षण मे परिवर्तित
होते रहे प्रकृति-पट ,
गया दिन, आई रात ,
गई रात, खुला दिन ,
ऐसे ही संसार के बीते दिन, पक्ष, मास ;
वर्ष कितने ही हजार—
जागो फिर एक बार !

दिल्ली

क्या यह वही देश है—
भीमार्जुन आदि का कीर्ति-क्षेत्र ,
चिरकुमार भीष्म की पताका ब्रह्मचर्य-दीप्त

उड़ती है आज भी जहाँ के वायुमंडल में
उज्वल, अधीर और चिर नवीन !
श्रीमुख से कृष्ण के सुना था जहाँ भारत ने
गीता-गीत-सिंहनाद—
मर्मवाणी जीवन-संग्राम की
सार्थक समन्वय ज्ञान-कर्म-भक्ति-योग का !

यह वही देश है
परिवर्तित होता हुआ ही देखा गया जहाँ
भारत का भाग्य-चक्र !—
आकर्षण तृष्णा का
खींचता ही रहा जहाँ पृथ्वी के देशों को
स्वर्ण-प्रतिमा की ओर !—
उठा जहाँ शब्द घोर
संसृति के शक्तिमान दस्युओं का अदमनीय,
पुनः पुनः बर्बरता विजय पाती गई
सभ्यता पर, संस्कृति पर,
काँपे सदा रे अधर जहाँ रक्तधारा लख
आरक्त हो सदैव।

क्या यह वही देश है—
यमुना-पुलिन से चल
'पृथ्वी' की चिता पर
नारियों की महिमा उस सती संयोगिता ने
किया आहूत जहाँ विजित स्वजातियों को
आत्म-बलिदान से :
पढ़ो रे, पढ़ो रे पाठ,
भारत के अविश्वस्त अवनत ललाट पर
निज चिताभस्म का टीका लगाते हुए,—
सुनते ही रहे खड़े भय से विवर्ण जहाँ

अविश्वस्त संज्ञाहीन पतित आत्मविस्मृत नर !
बीत गये कितने काल ,
क्या यह वही देश है
बदले किरीट जिसने सैकड़ों महीप-भाल ?

क्या यह वही देश है
सन्ध्या की स्वर्णवर्ण किरणों मे
दिग्वधू अलस हाथों से
थी भरती जहाँ प्रेम की मदिरा ,—
पीती थीं वे नारियाँ
बैठी झरोखे में उन्नत प्रासाद के ?—
बहता था स्नेह-उन्माद नस-नस मे जहाँ
पृथ्वी की साधना के कमनीय अँगों में ?—
ध्वनिमय ज्यों अन्धकार
दूरगत सुकुमार ,
प्रणयियों की प्रिय कथा
व्याप्त करती थी जहाँ
अम्बर का अन्तराल ?
आनन्द-धारा बहती थी शत लहरों में
अधर के प्रान्तों से ;
अतल हृदय से उठ
बाँधे युग बाहुओं के
लीन होते थे जहाँ अन्तहीनता में मधुर ?—

अश्रु बह जाते थे
कामिनी के करों से
कमल के कोषों से प्रात की ओस ज्यों ,
मिलन की तृष्णा से फूट उठते थे फिर ,
रँग जाता नया राग ?—
केश-सुख-भार रख मुख प्रिय-स्कन्ध पर

भाव की भाषा से
कहती मुसुकारियाँ थीं कितनी ही बातें जहाँ
रातें विरामहीन करती हुई !—
प्रिया की ग्रीवा-कपोत बाहुओं से घेर
मुग्ध हा रहे थे जहाँ प्रिय-मुख अनुरागमय !—
हिलते डुलते थे जहाँ
स्नेह की वायु से, प्रणय के लोक में
आलोक प्राप्त कर !
रचे गये गीत,
गये गाये जहाँ कितने राग
देश के, विदेश के !
बहीं धाराएँ जहाँ कितनी किरणों को चूम !
कोमल निषाद भर
उठे वे कितने स्वर !
कितनी वे रातें
स्नेह की बातें रक्खे निज हृदय मे
आज भी हैं मौन जहाँ !
यमुना की ध्वनि में
है गूँजती सुहाग-गाथा,
सुनता है अन्धकार खड़ा चुपचाप जहाँ
आज वह 'फ़िरदौस'
सुनसान है पड़ा।
शाही दीवान-आम स्तब्ध है हो रहा,
दुपहर को, पार्श्व में,
उठता है झिल्लीरव,
बोलते हैं स्यार रात यमुना-कछार में,
लीन हो गया है रव
शाही अङ्गनाओं का,

निस्तब्ध मीनार ,
मौन हैं मकबरे:—
भय में आशा को जहाँ मिलते थे समाचार ,
टपक पड़ता था जहाँ आँसुओं में सच्चा प्यार !

तुलसीदास

"जागो, जागो, आया प्रभात ,
बीती वह, बीती, अंध रात ,
झरता भर ज्योतिर्मय प्रपात पूर्वाचल ;
बाँधो, बाँधो किरणें चेतन ,
तेजस्वी, हे तमजिज्जीवन ;
आती भारत की ज्योतिर्धन महिमाबल !

× × ×

बहा उसी स्वर में सदियों का दारुण हाहाकार
सञ्चरित कर नूतन अनुराग ।
बहता अन्ध प्रभञ्जन ज्यों, यह त्यों ही स्वर-प्रवाह
मचल कर दे चञ्चल आकाश
उड़ा-उड़ा कर पीले पल्लव, करे सुकोमल राह,—
तरुण तरु; भर प्रसून को प्यास ।
काँपे पुनर्वार पृथ्वी शाखा-कर-परिणय-माल ,
सुगन्धित हो रे फिर आकाश ,
होगा फिर से दुर्धर्ष समर
जड़ से चेतन का निशिवासर ,
कवि का प्रति छवि से जीवनहर, जीवनभर ;
भारती इधर हैं उधर सकल
जड़ जीवन के संचित कौशल ;
जय, इधर ईश, हैं उधर सबल माया-कर !

× × ×

हो रहे आज जो खिन्न-खिन्न
छुट-छुटकर दल से भिन्न-भिन्न
यह अकल-कला, गह सकल छिन्न, जोड़ेगी ,
रविकर ज्यों विन्दु-विन्दु जीवन
संचित कर करता है वर्षण ,
लहरा भव पादप, मर्षण-मन मोड़ेगी ।

× × ×

"देश-काल के शर से बिंध कर
यह जागा कवि अशेष-छविधर
इसका स्वर भर भारती मुखर होएँगी ;
निश्चेतन निज तन मिला विकल ,
छलका शत-शत कल्मष के छल
बहतीं जो, वे रागिनी सकल सोएँगी ।

× × ×

"तम के अमार्ज्य रे तार-तार
जो, उन पर पड़ी प्रकाश धार ;
जग-वीणा के स्वर के बहार रे, जागो ;
इस कर आने कारुणिक प्राण
कर लो समक्ष देदीप्यमान—
दे गति विश्व को रुको, दान फिर माँगो ।"

× × ×

क्या हुआ कहाँ, कुछ नहीं सुना ,
कवि ने निज मन भाव में गुना ,
साधना जगी केवल अधुना प्राणों की ,
देखा सामने, मूर्ति छल-छल
नयनों में छलक रही अचपल ,
उपमिता न हुई समुच्च सकल तानों की ।

× × ×

जगमग जीवन की अंत्य भाष—
"जो दिया मुझे तुमने प्रकाश,
अब रहा नहीं लेशावकाश रहने का
मेरा उससे गृह के भीतर;
देखूँगा नहीं कभी फिर कर,
लेता मैं, जो वर जीवन-भर बहने का।"

× × ×

चल मंद चरण आये बाहर,
उर में परिचित वह मूर्ति सुघर
जागी विश्वाश्रय महिमाधर, फिर देखा—
संकुचित, खोलती श्वेत पटल,
बदली, कमला तिरती सुख-जल
प्राची - दिगंत - उर में पुष्कल रवि-रेखा।

राम की शक्ति पूजा

रवि हुआ अस्त ज्योति के पत्र में लिखा अमर
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर
आज का, तीक्ष्ण-शर-विधृत-क्षिप्र कर, वेग-प्रखर,
शतशेल सम्वरणशील, नीलनभ - गर्ज्जित - स्वर;
प्रतिपल - परिवर्तित - व्यूह,—भेद - कौशल - समूह,—
राक्षस - विरुद्ध प्रत्यूह,—क्रुद्ध - कपि - विषम - हूह,
विच्छुरितवह्नि - राजीव नयन-हत - लक्ष्य - बाण,
लोहितलोचन - रावण - मदमोचन - महीयान,
राघव - लाघव—रावण - वारण - गत - युग्म - प्रहर
उद्धत - लंकापति - मर्द्दित - कपि - दल - बल - विस्तर,
अनिमेष - राम—विश्वजिद्दिव्य - शर - भंग - भाव,—
विद्धांग - बद्ध - कोदंड - मुष्टि - खर - रुधिर - स्राव,
रावण - प्रहार - दुर्वार - विकल - वानर - दल - बल,—
मूर्छित - सुग्रीवाङ्गद - भीषण - गवाक्ष - गय - नल,—

वारित - सौमित्रि - भल्लपति - अगणित - मल्ल - रोध ,
गर्जित - प्रलयाब्धि - क्षुब्ध - हनुमत - केवल - प्रबोध ,
उद्गीरित - वह्नि - भीम - पर्वत - कपि - चतुःप्रहर ,—
जानकी - भीरु - उर—आशाभर,—रावण सम्वर ।
लौटे युग दल । राक्षस - पदतल पृथ्वी टलमल ,
विंध महोल्लास से बार-बार आकाश विकल ।
वानर-वाहिनी खिन्न, लख निज-पति-चरण-चिह्न
चल रही शिविर की ओर स्थविर-दल ज्यों विभिन्न ;
प्रशमित हैं वातावरण; नमित-मुख सान्ध्य कमल
लक्ष्मण चिन्ता-पल पीछे वानर-वीर सकल ;
रघुनायक आगे अवनी पर नवनीत-चरण ,
श्लथ धनु-गुण है, कटि - बन्ध स्रस्त-तूणीर-धरण ,
दृढ़ जटा - मुकुट हो विपर्यस्त प्रतिलट से खुल,
फैला पृष्ठ पर, बाहुओं पर, वक्ष पर, विपुल
उतरा ज्यों दुर्गम पर्वत पर नैशान्धकार ,
चमकतीं दूर ताराएँ ज्यों हों कहीं पार ।
आये सब शिविर, सानु पर पर्वत के, मन्थर ,
सुग्रीव, विभीषण, जाम्बवान आदिक वानर
सेनापति दल-विशेष के, अङ्गद, हनूमान ,
नल, नील, गवाक्ष, प्रात के रण का समाधान
करने के लिए, फेर वानर - दल आश्रय-स्थल ।
बैठे रघु-कुल-मणि श्वेत शिला पर, निर्मल जल
ले आये कर - पद - क्षालनार्थ पटु हनूमान ,
अन्य वीर सर के गये तीर सन्ध्या - विधान—
वन्दना ईश की करने को, लौटे सत्वर ;
सब घेर राम को बैठे आज्ञा को तत्पर ;
पीछे लक्ष्मण, सामने विभीषण, भल्लधीर ,
सुग्रीव, प्रान्त पर पाद-पद्म के, महावीर ,

यूथपति अन्य जो यथास्थान हो निर्निमेष
देखते राम का जित - सरोज - मुख - श्याम-देश ।
है अमानिशा उगलता गगन घन अन्धकार ;
खो रहा दिशा का ज्ञान, स्तब्ध है पवन-चार ,
अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल ,
भूधर ज्यों ध्यान-मग्न, केवल जलती मशाल ।
स्थिर राघवेन्द्र को हिला रहा फिर-फिर संशय ,
रह-रह उठता जग जीवन में रावण-जय-भय ,
जो हुआ नहीं आज तक हृदय रिपु-दम्य-श्रान्त—
एक भी अयुत—लक्ष में रहा सदा जो दुराक्रान्त ,
कल लड़ने को हो रहा विकल वह बार-बार ,
असमर्थ मानता मन उद्यत हो हार - हार ;
ऐसे क्षण अन्धकार घन में जैसे विद्युति
जागी पृथ्वी - तनया - कुमारिका - छवि, अच्युत
देखते हुए निष्पलक, याद आया उपवन
विदेह का,—प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन
नयनों का—नयनों से गोपन—प्रिय सम्भाषण ,—
पलकों का नव पलकों पर प्रथमोत्थान—पतन ,—
काँपते हुए किसलय,—झरते पराग - समुदाय ,—
गाते खग नव - जीवन-परिचय,—तरु मलय-वलय ,
ज्योति प्रपात स्वर्गीय,—ज्ञात छवि प्रथम स्वीय ,—
जानकी - नयन - कमनीय प्रथम कम्पन तुरीय ।
सिहरा तन, क्षण भर भूला मन, लहरा समस्त ,
हर धनुभङ्ग को पुनर्वार ज्यों उठा हस्त ,
फूटी स्मिति सीता - ध्यान - लीन राम के अधर ,
फिर विश्व - विजय - भावना हृदय में आई भर ,
वे आये याद दिव्य शर अगणित मन्त्रपूत ,—
फड़का पर नभ को उड़े सकल ज्यों देवदूत ,

देखते राम, जल रहे शलभ ज्यों रजनीचर,
ताड़का, सुबाहु, विराध, शिरस्त्रय, दूषण, खर;
फिर देखी भीमा-मूर्ति आज रण देखी जो
आच्छादित किये हुए सम्मुख समग्र नभ को,
ज्योतिर्मय अस्त्र सकल बुझ-बुझ कर हुए क्षीण,
पा महानिलय उस तन क्षण मे हुए लीन;
लख शंकाकुल हो गये अतुल-बल शेष-शयन,
खिंच गये दृगों में सीता के राममय नयन;
फिर सुना—हँस रहा अट्टहास रावण खल-खल,
भावित नयनों से सजल गिरे दो मुक्ता—दल।
बैठे मारुति देखते राम - चरणारविन्द—
युग 'अस्ति नास्ति' के एक रूप, गुण-गण-अनिन्द्य;
साधना - मध्य भी साम्य—वाम - कर दक्षिण-पद,
दक्षिण - कर - तल पर वाम चरण, कपिवर गद्गद
पा सत्य, सच्चिदानन्द-रूप, विश्राम - धाम,
जपते सभक्ति अजपा विभक्त हो रामनाम।
युग चरणों पर आ पड़े अस्तु वे अश्रु-युगल,
देखा कपि ने, चमके नभ मे ज्यों तारा-दल;—
ये नहीं चरण राम के, बने श्यामा के शुभ,—
सोहते मध्य में हीरक-युग या दो कौस्तुभ;
टूटा वह तार ध्यान का, स्थिर मन हुआ विकल
सन्दिग्ध भाव की उठी दृष्टि, देखा अविकल
बैठे वे वही कमल - लोचन, पर सजल नयन,
व्याकुल-व्याकुल कुछ चिर-प्रफुल्ल मुख, निश्चेतन।
ये अश्रु राम के आते ही मन में विचार,
उद्वेल हो उठा शक्ति - खेल - सागर अपार,
हो श्वसित पवन - उनचास, पिता-पक्ष से तुमुल
एकत्र वक्ष पर बहा वाष्प को उड़ा अतुल,

शत घूर्णावर्त, तरंग - भंग, उठते पहाड़ ;
जल - राशि राशि - जल पर चढ़ता खाता पछाड़ ;
तोड़ता बन्ध—प्रतिसन्ध धरा, हो स्फीत-वक्ष
दिग्विजय - अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष ,
शत - वायु - वेग - बल, डुबा अतल में देश-भाव ,
जल-राशि विपुल मथ मिला अनिल में महाराव
वज्राङ्ग तेजघन बना पवन को, महाकाश
पहुँचा, एकादश रुद्र क्षुब्ध कर अट्टहास ।
रावण - महिमा श्यामा विभावरी अन्धकार ,
यह रुद्र राम - पूजन - प्रताप तेजःप्रसार ;
इस ओर शक्ति शिव की जो दशस्कन्ध-पूजित ;
उस ओर रुद्र - वन्दन जो रघुनन्दन - कूजित ;
करने को ग्रस्त समस्त व्योम कपि बढ़ा अटल ,
लख महानाश शिव अचल हुए क्षण भर चंचल ;
श्यामा के पदतल भारधरण हर मन्द्रस्वर ,
बोले,—"सम्बरो देवि, निज तेज, नहीं वानर ,
यह,—नहीं हुआ शृंगार-युग्म-गत, महावीर ,
अर्चना राम की मूर्तिमान अक्षय - शरीर ,
चिर - ब्रह्मचर्य-रत ये एकादश रुद्र, धन्य ,
मर्यादा - पुरुषोत्तम के सर्वोत्तम, अनन्य ;
लीला - सहचर, दिव्यभावधर, इन पर प्रहार
करने पर होगी देवि, तुम्हारी विषम हार ;
विद्या का ले आश्रय इस मन को दो प्रबोध ,
झुक जायेगा कपि, निश्चय होगा दूर रोष ।"
कह हुए मौन शिव; पवन-तनय में भर विस्मय
सहसा नभ में अंजना - रूप का हुआ उदय ;
बोली माता—"तुमने रवि को जब लिया निगल
तब नहीं बोध था तुम्हें; रहे बालक केवल ;

यह वही भाव कर रहा तुम्हें व्याकुल रह-रह,
यह लज्जा की है बात कि माँ रहती सह-सह;
यह महाकाश, है जहाँ वास शिव का निर्मल—
पूजते जिन्हें श्रीराम, उसे ग्रसने को चल
क्या नहीं कर रहे तुम अनर्थ?—सोचो मन में;
क्या दी आज्ञा ऐसी कुछ श्रीरघुनन्दन ने?
तुम सेवक हो, छोड़कर धर्म कर रहे कार्य—
क्या असम्भाव्य हो यह राघव के लिए धार्य?"
कपि हुए नम्र, क्षण में माता छवि हुई लीन,
उतरे धीरे, धीरे, गह प्रभु-पद हुए दीन।

राम का विषण्णानन देखते हुए कुछ क्षण,
"हे सखा," विभीषण बोले, "आज प्रसन्न वदन
वह नहीं देख कर जिसे समग्र वीर-वानर—
भल्लूक विगत-श्रम हो पाते जीवन निर्जर;
रघुवीर, तीर सब वही तूण में हैं रक्षित,
है वही वक्ष, रण-कुशल-हस्त, बल वही अमित;
हैं वही सुमित्रानन्दन मेघनाद-जित-रण,
हैं वही भल्लपति, वानरेन्द्र सुग्रीव प्रमन,
ताराकुमार भी वही महाबल श्वेत धीर,
अप्रतिभट वही, एक-अर्बुदसम महावीर,
हैं वही दक्ष सेनानायक, है वही समर,
फिर कैसे असमय हुआ उदय यह भाव-प्रहर!
रघुकुल-गौरव लघु हुए जा रहे तुम इस क्षण,
तुम फेर रहे हो पीठ हो रहा जब जय रण!
कितना श्रम हुआ व्यर्थ, आया जब मिलन-समय,
तुम खींच रहे हो हस्त जानकी से निर्दय!
रावण, रावण, लम्पट, खल, कल्मष-गताचार,
जिसने हित कहते किया मुझे पाद-प्रहार,

बैठा उपवन में देगा दुख सीता को फिर,—
कहता रण की जय-कथा पारिषद-दल से घिर,
सुनता वसन्त में उपवन में कल-कूजित-पिक,
मैं बना किन्तु लंकापति, धिक्, राघव, धिक् धिक् !"

सब सभा रही निस्तब्ध, राम के स्तिमित नयन
छोड़ते हुए शीतल प्रकाश देखते विमन,
जैसे ओजस्वी शब्दों का जो था प्रभाव,
उससे न इन्हें कुछ चाव, न हो कोई दुराव;
ज्यों हों वे शब्दमात्र,—मैत्री की समनुरक्ति,
पर जहाँ गहन भाव के ग्रहण की नहीं शक्ति।
कुछ क्षण तक रहकर मौन सहज निज कोमल स्वर
बोले रघुमणि—"मित्रवर, विजय होगी न समर;
यह नहीं रहा नर-वानर का राक्षस से रण,
उतरीं पा महाशक्ति रावण से आमन्त्रण;
अन्याय जिधर है, उधर शक्ति !" कहते छल-छल
हो गये नयन, कुछ-बूँद पुनः ढलके दृगजल,
रुक गया कंठ, चमका लक्ष्मण तेजः प्रचंड,
धँस गया धरा में कपि गह-युग-पद मसक दंड,
स्थिर जाम्बवान,—समझते हुए ज्यों सकल भाव,
व्याकुल सुग्रीव,—हुआ उर में ज्यों विषम घाव,
निश्चित-सा करते हुए विभीषण कार्यक्रम,
मौन में रहा यों स्पन्दित वातावरण विषम।

निज सहज रूप में संयत हो जानकी-प्राण
बोले—"आया न समझ में यह दैवी विधान;
रावण अधर्मरत भी अपना मैं, हुआ अपर—
यह रहा शक्ति का खेल समर, शंकर शंकर !
करता मैं योजित बार-बार शर-निकर निशित,
हो सकती जिनसे यह संसृति सम्पूर्ण विजित,

जो तेजःपुंज, सृष्टि की रक्षा का विचार
है जिनमें निहित पतनघातक संस्कृति अपार—
शत-शुद्धि-बोध—सूक्ष्मातिसूक्ष्म मन का विवेक,
जिनमें है क्षात्रधर्म का धृत पूर्णाभिषेक,
जो हुए प्रजापतियों से संयम से रक्षित,
वे शर हो गये आज रण में श्रीहत, खंडित!
देखा, हैं महाशक्ति रावण को लिये अंक,
लाञ्छन को ले जैसे शशांक नभ में अशङ्क;
हत मन्त्र-पूत शर संवृत करतीं बार-बार,
निष्फल होते लक्ष्य पर क्षिप्र वार पर वार!
विचलित लख कपिदल, क्रुद्ध युद्ध को मैं ज्यों-ज्यों,
झक-झक झलकती वह्नि वामा के दृग त्यों-त्यों;
पश्चात्, देखने लगीं मुझे, बँध गये हस्त,
फिर खिंचा न धनु, मुक्त ज्यों बँधा मैं, हुआ त्रस्त!"
कह हुए भानु-कुल-भूषण वहाँ मौन क्षण भर,
बोले विश्वस्त कंठ से जाम्बवान, "रघुवर,
विचलित होने का नहीं देखता मैं कारण,
हे पुरुष-सिंह, तुम भी यह शक्ति करो धारण,
आराधन का दृढ़ आराधन से दो उत्तर,
तुम वरो विजय संयत प्राणों से प्राणों पर;
रावण अशुद्ध होकर भी यदि कर सका त्रस्त,
तो निश्चय तुम हो सिद्ध करोगे उसे ध्वस्त;
शक्ति की करो मौलिक कल्पना, करो पूजन,
छोड़ दो समर जब तक न सिद्धि हो, रघुनन्दन!
तब तक लक्ष्मण हैं महावाहिनी के नायक
मध्य भाग में, अंगद दक्षिण—श्वेत सहायक,
मैं मल्ल-सैन्य; हैं वाम-पार्श्व में हनूमान,
नल, नील और छोटे कपिगण—उनके प्रधान;

सुग्रीव, विभीषण, अन्य यूथपति यथासमय,
आयेंगे रक्षा हेतु जहाँ भी होगा भय।"

खिल गई सभा। "उत्तम निश्चय यह, भल्लनाथ!"
कह दिया वृद्ध को मान राम ने झुका माथ।
हो गये ध्यान में लीन पुनः करते विचार,
देखते सकल—तन पुलकित होता बार-बार।
कुछ समय अनन्तर इन्दीवर-निन्दित लोचन
खुल गये, रहा निष्पलक भाव में मज्जित मन।
बोले आवेग-रहित स्वर से विश्वास-स्थित—
"मातः, दशभुजा, विश्वज्योतिः, मैं हूँ आश्रित,
हो विद्ध शक्ति से है खल महिषासुर मर्दित,
जनरंजन-चरण-कमल-तल, धन्य सिंह-गर्जित!
यह, यह मेरा प्रतीक मातः समझा इंगित,
मैं सिंह, इसी भाव से करूँगा अभिनन्दित।"
कुछ समय स्तब्ध हो रहे राम छवि में निमग्न,
फिर खोले पलक-कमल-ज्योतिर्दल ध्यान-लग्न;
हैं देख रहे मन्त्री, सेनापति, वीरासन
बैठे उमड़ते हुए राघव का स्मित आनन।
बोले भावस्थ चन्द्र-मुख-निन्दित रामचन्द्र,
प्राणों में पावन कम्पन भर स्वर मेघमन्द्र—
"देखो, बन्धुवर, सामने स्थित जो यह भूधर
शोभित शत-हरित-गुल्म-तृण से श्यामल सुन्दर,
पार्वती कल्पना है इसकी, मकरन्द-विन्दु;
गरजता चरण-प्रान्त पर सिंह वह, नहीं सिन्धु;
दशदिक-समस्त है हस्त, और देखो ऊपर,
अम्बर मे हुए दिगम्बर अर्चित शशि-शेखर;
लख महाभाव-मंगल पद-तल धँस रहा गर्व,—
मानव के मन का असुर मन्द, हो रहा खर्व।"

फिर मधुर दृष्टि से प्रिय कपि को खींचते हुए
बोले प्रियतर स्वर से अन्तर सींचते हुए—
"चाहिए हमें एक सौ आठ, कपि, इन्दीवर,
कम से कम, अधिक और हों, अधिक और सुन्दर,
जाओ देवीदह, उषःकाल होते सत्वर,
तोड़ो, लाओ वे कमल, लौटकर लड़ो समर।"
अवगत हो जाम्बवान से पथ, दूरत्व, स्थान,
प्रभु-पद-रज सिर धर चले हर्ष भर हनूमान।
राघव ने बिदा किया सबको जानकर समय,
सब चले सदय राम की सोचते हुए विजय।

निशि हुई विगत, नभ के ललाट पर प्रथम किरण
फूटी रघुनन्दन के दृग महिमा - ज्योति - हिरण,
है नहीं शरासन आज हस्त तूणीर स्कन्ध,
वह नहीं सोहता निबिड़-जटा-दृढ़ मुकुट-बन्ध;
सुन पड़ता सिंहनाद रण—कोलाहल अपार,
उमड़ता नहीं मन, स्तब्ध सुधी हैं ध्यान धार;
पूजोपरान्त जपते दुर्गा - दशभुजा - नाम,
मन करते हुए मनन नामों के गुण-ग्राम;
बीता वह दिवस, हुआ मन स्थिर इष्ट के चरण,
गहन से गहनतर होने लगा समाराधन।
क्रम-क्रम से हुए पार राघव के पंच दिवस,
चक्र से चक्र मन चढ़ता गया ऊर्ध्व निरलस;
कर-जप पूरा कर एक चढ़ाते इन्दीवर,
निज पुरश्चरण इस भाँति रहे हैं पूरा कर।
चढ़ षष्ठ दिवस आज्ञा पर हुआ समाहित मन,
प्रति जप से खिंच-खिंच होने लगा महाकर्षण;
संचित त्रिकुटी पर ध्यान द्विदल देवी-पद पर,
जप के स्वर लगा काँपने थर-थर-थर अम्बर;

दो दिन निष्पन्द एक आसन पर रहे राम,
अर्पित करते इन्दीवर, जपते हुए नाम;
आठवाँ दिवस, मन ध्यान-युक्त चढ़ता ऊपर
कर गया अतिक्रम ब्रह्मा-हरि-शंकर का स्तर,
हो गया विजित ब्रह्मांड पूर्ण, देवता स्तब्ध,
हो गये दग्ध जीवन के तप के समारब्ध;
रह गया एक इन्दीवर, मन देखता पार,
प्रायः करने को हुआ दुर्ग जो सहस्रार,
द्विप्रहर रात्रि, साकार हुईं दुर्गा छिपकर,
हँस उठा ले गईं पूजा का प्रिय इन्दीवर।
यह अन्तिम जप, ध्यान में देखते चरण-युगल,
राम ने बढ़ाया कर लेने को नील कमल;
कुछ लगा न हाथ, हुआ सहसा स्थिर मन चंचल
ध्यान की भूमि से उतरे, खोले पलक विमल,
देखा, वह रिक्त स्थान, यह जप का पूर्ण समय,
आसन छोड़ना असिद्धि, भर गये नयन-द्वय;—
"धिक् जीवन जो पाता ही आया है विरोध
धिक् साधन जिसके लिए सदा ही किया शोध!
जानकी! हाय उद्धार प्रिया का न हो सका,
वह एक और मन रहा राम का जो न थका;
जो नहीं जानता दैन्य, नहीं जानता विनय,
कर गया भेद वह मायावरण प्राप्त कर जय,
बुद्धि के दुर्ग पहुँचा विद्युत-गति, हतचेतन
राम में जगी स्मृति, हुए सजग पा भाव प्रमन।
"यह है उपाय" कह उठे राम ज्यों मंद्रित घन—
"कहती थीं माता मुझे सदा राजीव-नयन!
दो नील कमल हैं शेष अभी, यह पुरश्चरण
पूरा करता हूँ देकर मातः एक नयन।"

कह कर देखा तूणीर ब्रह्मशर रहा झलक,
ले लिया हस्त, लक-लक करता वह महाफलक;
ले अस्त्र वाम कर, दक्षिण कर दक्षिण लोचन
ले अर्पित करने को उद्यत हो गये सुमन।
जिस क्षण बँध गया बेधने को दृग दृढ़ निश्चय,
काँपा ब्रह्मांड, हुआ देवी का त्वरित उदय:—
"साधु, साधु, साधक-धीर, धर्म-धन-धन्य राम!"
कह लिया भगवती ने राघव का हस्त थाम।
देखा राम ने, सामने श्री दुर्गा, भास्वर
वामपद असुर - स्कन्ध पर, रहा दक्षिण हरि पर;
ज्योतिर्मय रूप, हस्त दश विविध-अस्त्र-सज्जित,
मन्द-स्मित मुख, लख हुई विश्व की श्री लज्जित,
हैं दक्षिण में लक्ष्मी, सरस्वती वाम भाग,
दक्षिण गणेश, कार्तिक बाँये रण - रंग - राग,
मस्तक पर शंकर। पद-पद्मों पर श्रद्धाभर
श्रीराघव हुए प्रणत मन्द - स्वर - वन्दन कर।
"होगी जय, होगी जय, हे पुरुषोत्तम नवीन!"
कह राम महाशक्ति राम के वदन में हुई लीन।

सुमित्रानन्दन पंत

प्रथम रश्मि

प्रथम रश्मि का आना, रंगिणि !
तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ, कहाँ हे बाल विहंगिनि !
पाया तूने यह गाना ?

सोई थी तू स्वप्न-नीड़ में
पंखों के सुख में छिपकर,
झूम रहे थे, घूम द्वार पर,
प्रहरी-से जुगनू नाना।

शशि-किरणों से उतर-उतर कर
भू पर कामरूप नभचर,
चूम नवल कलियों का मृदु मुख
सिखा रहे थे मुसकाना।

स्नेह-हीन तारों के दीपक,
श्वास-शून्य थे तरु के पात,
विचर रहे थे स्वप्न अवनि में,
तम ने था मण्डप ताना।

कूक उठी सहसा तरु-वासिनि !
गा तू स्वागत का गाना,
किसने तुझको अन्तर्यामिनि !
बतलाया उसका आना ?

निकल सृष्टि के अंध-गर्भ से
छाया-तन बहु छाया-हीन,
चक्र रच रहे थे खल निशिचर
चला कुहुक, टोना माना।

छिपा रही थी मुख शशि-बाला
निशि के श्रम से हो श्री-हीन,
कमल-क्रोड़ में बन्दी था अलि,
कोक शोक से दीवाना।
मूर्च्छित थीं इन्द्रियाँ, स्तब्ध जग,
जड़-चेतन सब एकाकार,
शून्य विश्व के उर मे केवल
साँसों का आना जाना।
तूने ही पहिले बहु-दर्शिनि!
गाया जागृति का गाना,
श्री-सुख-सौरभ का, नभचारिणि!
गूँथ दिया ताना-बाना!
निराकार तम मानो सहसा
ज्योति-पुंज में हो साकार,
बदल गया द्रुत जगत-जाल में
धर कर नाम रूप नाना।
सिहर उठे पुलकित हो द्रुम-दल,
सुप्त समीरण हुआ अधीर,
झलका हास कुसुम अधरों पर
हिल मोती का-सा दाना।
खुले पलक, फैली सुवर्ण-छवि,
जगी सुरभि, डोले मधु-बाल,
स्पन्दन-कम्पन औ' नव जीवन,
सीखा जग ने अपनाना।
प्रथम रश्मि का आना रंगिणि!
तूने कैसे पहचाना?
कहाँ, कहाँ हे बाल विहंगिनि!
पाया यह स्वर्गिक गाना?

मौन-निमन्त्रण

स्तब्ध-ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु-सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न-अजान;
न जाने, नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता मुझको मौन !

सघन-मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार,
दीर्घ भरता समीर निःश्वास,
प्रखर झरती जब पावस-धार;
न जाने, तपक तड़ित में कौन
मुझे इंगित करता तब मौन !

देख वसुधा का यौवन-भार
गूँज उठता है जब मधुमास,
विधुर उर के-से मृदु उद्‌गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास;
न जाने सौरभ के मिस कौन
सन्देशा मुझे भेजता मौन !

क्षुब्ध-जल-शिखरों को जब वात
सिन्धु में मथ कर फेनाकार,
बुलबुलों का व्याकुल-संसार
बना, बिथुरा देती अज्ञात;
उठा तब लहरों से कर कौन
न जाने मुझे बुलाता मौन !

स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ में भोर
विश्व को देती है जब बोर,
विहग-कुल की कल कंठ-हिलोर
मिला देती भू-नभ के छोर,

न जाने, अलस-पलकदल कौन
खोल देता तब मेरे मौन !

तुमुल तम में जब एकाकार
ऊँघता एक साथ संसार,
भीरु-झींगुर कुल की झनकार
कँपा देती तन्द्रा के तार,
न जाने, खद्योतों से कौन
मुझे पथ दिखलाता तब मौन !

कनक-छाया में जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल
तड़प, बन जाते हैं गुंजार,
न जाने ढुलक ओस में कौन
खींच लेता मेरे दृग मौन !

बिछा कार्यों का गुरुतर-भार
दिवस को दे सुवर्ण-अवसान,
शून्य-शैय्या मे श्रमित-अपार
जुड़ाती जब मैं आकुल प्राण ;
न जाने, मुझे स्वप्न में कौन
फिराता छाया-जग में मौन !

न जाने कौन, अये छविमान !
जान मुझको अबोध, अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूँक देते छिद्रों में गान ;
अहे सुख-दुख के सहचर मौन !
नहीं कह सकती तुम हो कौन !

बालापन

चित्रकार! क्या करुणा कर फिर
मेरा भोला बालापन
मेरे यौवन के अंचल में
चित्रित कर दोगे पावन?

आज परीक्षा तो लो अपनी
कुशल-लेखनी की ब्रह्मन्!
उसे याद आता है क्या वह
अपने उर का भाव-रतन?

जब कि कल्पना की तन्त्री में
खेल रहे थे तुम करतार!
तुम्हें याद होगी, उससे जो
निकली थी अस्फुट-झंकार?

हाँ, हाँ, वही, वही, जो जल, थल,
अनिल, अनल, नभ से उस बार
एक बालिका के क्रन्दन में
ध्वनित हुई थी, बन साकार।

वही प्रतिध्वनि निज बचपन की
कलिका के भीतर अविकार
रज में लिपटी रहती थी नित
मधुबाला की-सी गुंजार।

यौवन के मादक-हाथो ने
उस कलिका को खोल अजान,
छीन लिया हा! ओस-बिन्दु-सा
मेरा मधुमय, तुतला-गान!

अहो विश्वसृज! पुनः गूँथ दो
वह मेरा बिखरा-संगीत
मा की गोदी का थपकी से
पला हुआ वह स्वप्न पुनीत।

वह ज्योत्स्ना से हर्षित मेरा
कलित कल्पनामय - संसार,
तारों के विस्मय से विकसित
विपुल भावनाओं का हार।
सरिता के चिकने - उपलों - सी
मेरी इच्छाएँ रंगीन,
वह अजानता की सुन्दरता,
वृद्ध-विश्व का रूप नवीन।
अहो कल्पनामय! फिर रच दो
वह मेरा निर्भय - अज्ञान,
मेरे अधरों पर वह मा के
दूध से धुली मृदु - मुसकान।
मेरा चिन्ता-रहित, अनलसित,
वारि - बिम्ब-सा विमल - हृदय,
इन्द्रचाप - सा वह बचपन के
मृदुल - अनुभवों का समुदय।
स्वर्ण-गगन-सा, एक ज्योति से
आलिंगित जग का परिचय,
इन्दु - विचुम्बित बाल - जलद-सा
मेरी आशा का अभिनय।
इस अभिमानी-अंचल में फिर
अंकित करदो, विधि! अकलंक,
मेरा छीना - बालापन फिर
करुण! लगा दो मेरे अंक!
विहग-बालिका का-सा मृदु-स्वर,
अर्ध-खिले, नव, कोमल-अंग,
क्रीड़ा - कौतूहलता मन की,
वह मेरी आनन्द - उमंग

अहो दयामय ! फिर लौटा दो
मेरी पद - प्रिय - चंचलता ,
तरल - तरंगों - सी वह लीला ,
निर्विकार भावना - लता !

घूलभरे, घुँघराले, काले ,
भैय्या को प्रिय मेरे बाल ,
माता के चिर - चुम्बित मेरे
गोरे, गोरे, सस्मित - गाल ,

वह काँटों में उलझी साड़ी ,
मंजुल फूलों के गहने ,
सरल - नीलिमामय मेरे दृग
अश्रुहीन, संकोच - सने ;

उसी सरलता की स्याही से
सदय ! इन्हें अंकित कर दो ,
मेरे यौवन के प्याले में
फिर वह बालपन भरदो !

हा ! मेरे बचपन - से कितने
बिखर गये जग के शृंगार !
जिनकी अविकच दुर्बलता ही
थी जग की शोभालंकार !

जिनकी निर्भयता विभूति थी ,
सहज - सरलता शिष्टाचार ,
औ' जिनकी अबोध-पावनता
थी जग के मंगल की द्वार !

हे विधि ! फिर अनुवादित कर दो
उसी सुधा-स्मिति में अनुपम
मा के तन्मय - उर से मेरे
जीवन का तुतला - उपक्रम !

अनंग

अहे विश्व-अभिनय के नायक !
अखिल - सृष्टि के सूत्रधार !
उर-उर की कम्पन में व्यापक !
ऐ त्रिभुवन के मनोविकार !

ऐ असीम - सौंदर्य - सिन्धु की
विपुल वीचियों के शृंगार !
मेरे मानस की तरंग में
पुनः अनंग ! बनो साकार ।

आदि-काल में बाल प्रकृति जब
थी प्रसुप्त, मृतवत, हत-ज्ञान,
शस्य-शून्य वसुधा का अंचल,
निश्चल जलनिधि,रवि-शशि म्लान,

प्रथम - हास - से, प्रथम - अश्रु-से,
प्रथम-पुलक-से, हे छविमान !
स्मृति-से, विस्मय-से तुम सहसा
विश्व-स्वप्न-से खिले अजान ।

प्रथम-कल्पना कवि के मन में,
प्रथम - प्रकम्पन उडुगन में,
प्रथम-प्रात जग के आँगन में,
प्रथम - वसन्त - विभा वन में ।

प्रथम-वीचि-वारिधि-चितवन में,
प्रथम-तड़ित-चुम्बन घन में,
प्रथम-गान तब शून्य-गगन में
फूटा, नव यौवन तन में ।

झूल जगत की उर-कम्पन में,
पुलकावलि में हँस अविराम,
मृदुल कल्पनाओं से पोषित,
भावों से भूषित अभिराम ।

तुमने भौंरों की गुंजित-ज्यों
कुसुमों का लीलायुध थाम,
अखिल भुवन के रोम-रोम में,
केशर-शर भर दिये सकाम।

नव-वसन्त के सरस स्पर्श से
पुलकित वसुधा बारम्बार,
सिहर उठी स्मित-शस्यावलि में,
विकसित चिर-यौवन के भार।

फूट पड़ा कलिका के उर से
सहसा सौरभ का उद्गार,
गन्ध-मुग्ध हो अन्ध-समीरण
लगा थिरकने विविध प्रकार।

अगणित-बाहें बढ़ा उदधि ने
इन्दु-करों से आलिंगन
बदले, विपुल चटुल-लहरों ने
तारों से फेनिल-चुम्बन।

अपनी ही छवि से विस्मित हो
जगती के अपलक-लोचन,
सुमनों के पलकों पर सुख से
करने लगे सलिल-मोचन।

सौ सौ साँसों में पत्रों की
उमड़ी हिम-जल-सस्मित-मोर,
मूक विहग कुल के कंठों से
उठी मधुर संगीत-हिलोर।

विश्व-विभव-सी बाल उषा की
उड़ा सुनहली अंचल-छोर,
शत-हर्षित-ध्वनियों से आहत
बढ़ा गन्धवह नभ की ओर।

शून्य-शिराओं में संसृति की
हुआ विचारों का संचार,
नारी के गम्भीर-हृदय का
गूढ़-रहस्य बना साकार।
मिला लालिमा में लज्जा की
छिपा एक निर्मल-संसार,
नयनों में निःसीम-व्योम औ'
उरोरुहों में सुरसरि-धार।
अम्बुधि के जल में अथाह छवि,
अम्बर में उज्ज्वल-आह्लाद,
ज्योत्स्ना मे अपनी अजानता,
मेघों में उदार-सम्वाद।
विपुल-कल्पनाएँ लहरों में,
तरु-छाया में विरह-विषाद,
मिली तृषा सरिता की गति में,
तम में अगम, गहन-उन्माद।
सुमन-हास में, तुहिन-अश्रु में,
मौन-मुकुल, अलि-गुंजन में,
इन्द्र-धनुष में, जलद-पंख में,
अस्फुट बुद्बुद-क्रन्दन में,
खद्योतों के मलिन-दीप में,
शिशु की स्मिति, तुतलेपन में,
एक भावना, एक रागिनी,
एक प्रकाश मिला मन में।
मृगियों ने चंचल-अवलोकन,
औ' चकोर ने निशाभिसार,
सारस ने मृदु-ग्रीवालिंगन,
हंसों ने गति, वारि-विहार।

पावस - लास प्रमत्त-शिखी ने ,
प्रमदा ने सेवा, शृंगार ,
स्वाति-तृषा सीखी चातक ने ,
मधुकर ने मादक - गुंजार ।

शून्य-वेणु-उर से तुम कितनी
छेड़ चुके तब से प्रिय-तान ,
यमुना की नीली - लहरों में
बहा चुके कितने कल-गान ;

कहाँ मेघ औ' हंस ! किन्तु तुम
भेज चुके सन्देश - अजान ,
तुड़ा मरालों से मन्दर-धनु
जुड़ा चुके तुम अगणित प्राण ।

जीवन के सुख-दुख से सुरभित
कितने काव्य-कुसुम सुकुमार ,
करुण-कथाओं को मृदु-कलियाँ—
मानव - उर के - से शृंगार—

कितने छन्दों में, तालों में ,
कितने रागों में अविकार
फूट रहे नित, अहे विश्वमय !
तब से जगती के उद्‌गार !

विपुल - कल्पना - से, भावों - से ,
खोल हृदय के सौ सौ द्वार ,
जल,थल,अनिल,अनल,नभ से कर
जीवन को फिर एकाकार ।

विश्व - मंच पर हास - अश्रु का
अभिनय दिखला बारम्बार ,
मोह-यवनिका हटा, कर दिया
विश्व - रूप तुमने साकार ।

हे त्रिलोकजित् ! नव-वसन्त की
विकच - पुष्प - शोभा सुकुमार,
सहम, तुम्हारे मृदुल-करों में
झुकी धनुष - सी है साभार।
वीर ! तुम्हारी चितवन-चंचल
विजय - ध्वजा में मीनाकार
कामिनि की अनिमेष नयन-छवि
करती नित नव - बल संचार
बजा दीर्घ - साँसों की भेरी,
सजा सटे - कुच कलशाकार,
पलक-पाँवड़े बिछा, खड़े कर
रोओं में पुलकित - प्रतिहार।
बाल-युवतियाँ तान कान तक
चल चितवन के वन्दनवार,
देव ! तुम्हारा स्वागत करतीं
खोल सतत उत्सुक दृग-द्वार।
पा कर अबला-के पलकों से
मदन ! तुम्हारा प्रखर-प्रहार,
जब निरस्त्र त्रिभुवन का यौवन
गिर कर प्रबल-तृषा के भार,
रोमावलि की शर शय्या में
तड़प तड़प, करता चीत्कार,
हरते हो तब तुम जग का दुख,
बहा प्रेम - सुरसरि की धार।
ऐ त्रिनयन की नयन-वह्नि के
तप्त-स्वर्ण ! ऋषियों के गान !
नव-जीवन ! षड्ऋतु-परिवर्तन !
नव रसमय ! जगती के प्राण !

ऐ असीम - सौन्दर्य - राशि में
हृत्कम्पन - से अन्तर्धान !
विश्व-कामिनी की पावन-छवि
मुझे दिखाओ, करुणावान !

भावी पत्नी के प्रति—

प्रिये, प्राणों की प्राण !
न जाने किस गृह में अनजान
छिपी हो तुम, स्वर्गीय विधान !
नवल कलिकाओं की-सी बाण,
बाल रति-सी अनुपम, असमान,
न जाने कौन, कहाँ अनजान,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

जननि-अंचल में झूल सकाल
मृदुल उर-कम्पन-सी वपुमान;
स्नेह-सुख में बढ़, सखि ! चिरकाल
दीप की अकलुष शिखा समान;
कौन-सा आलय, नगर विशाल
कर रही तुम दीपित, द्युतिमान ?
शलभ - चंचल मेरे मन - प्राण,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

नवल मधुऋतु-निकुंज में प्रात
प्रथम कलिका-सी अस्फुट गात,
नील-नभ-अंतःपुर में, तन्वि !
दूज की कला-सदृश नवजात;
मधुरता-मृदुता-सी तुम, प्राण !
न जिसका स्वाद-स्पर्श कुछ ज्ञात;
कल्पना हो, जाने, परिमाण ?
प्रिये, प्राणों की प्राण !

हृदय के पलकों में गति-हीन
स्वप्न - संसृति - सी सुखमाकार ;
बाल - भावुकता बीच नवीन
परी - सी धरती रूप अपार ;
झूलती उर में आज, किशोरि !
तुम्हारी मधुर मूर्ति छविमान ,
लाज में लिपटी उषा-समान ,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

मुकुल मधुपों का मृदु मधुमास ,
स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ का सार ,
मनोभावों का मधुर विलास ,
विश्व-सुखमा ही का संसार
दृगों में छा जाता सोल्लास ,
व्योम - बाला का शरदाकाश ,
तुम्हारा आता जब प्रिय ध्यान ,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

अरुण अधरों की पल्लव-प्रात ,
मोतियों-सा हिलता हिम-हास ,
इन्द्रधनुषी पट से ढँक गात
बाल-विद्युत का पावस-लास ,
हृदय में खिल उठता तत्काल
अधखिले अंगों का मधुमास ,
तुम्हारी छवि का कर अनुमान ,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

खेल सस्मित सखियों के साथ
सरल शैशव-सी तुम साकार ,
लोल, कोमल लहरों में लीन
लहर ही-सी कोमल, लघु भार ,

सहज करती होगी, सुकुमारि!
मनोभावों से बाल विहार
हंसिनी-सी सर में कल तान!
प्रिये, प्राणों की प्राण!
खोल सौरभ का मृदु कच-जाल
सूँघता होगा अनिल समोद,
सीखते होंगे उड़ खग-बाल
तुम्हींसे कलरव, केलि-विनोद;
चूम लघु-पद-चंचलता प्राण!
फूटते होंगे नव जल-स्रोत,
मुकुल बनती होगी मुसकान,
प्रिये, प्राणों की प्राण!
मृदूर्मिल सरसी मे सुकुमार
अधोमुख अरुण सरोज-समान,
मुग्ध कवि के उर के छू तार,
प्रणय का-सा नव आकुल गान;
तुम्हारे शैशव में, सोभार,
पा रहा होगा यौवन प्राण;
स्वप्न-सा, विसमय-सा अम्लान,
प्रिये, प्राणों की प्राण!
अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात!
विकम्पित मृदु उर, पुलकित गात,
सशंकित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप,
जड़ित-पद, नमित-पलक दृग-पात;
पास जब आ न सकोगी, प्राण,
मधुरता में-सी मरी अजान,
लाज की छुईमुई-सी म्लान,
प्रिये, प्राणों की प्राण!

सुमुखि, वह मधु क्षण ! वह मधु वार !
धरोगी कर में कर सुकुमार !
निखिल जब नर-नारी-संसार
मिलेगा नव सुख से नव वार ;
अधर-उर से उर-अधर समान ,
पुलक से पुलक, प्राण से प्राण ,
कहेंगे नीरव प्रणयाख्यान ,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

अरे, चिर गूढ़ प्रणय आख्यान !
जब कि रुक जावेगा अनजान ,
साँस-सा नभ उर में पवमान ,
समय निश्चल, दिशि पलक समान ;
अवनि पर झुक आवेगा प्राण !
व्योम चिर-विस्मृति से म्रियमाण !
नील सरसिज-सा हो हो म्लान ,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

नौका विहार

शांत, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्वल !
अपलक अनन्त, नीरव भूतल !
सैकत-शैया पर दुग्ध-धवल, तन्वंगी गङ्गा, ग्रीष्म-विरल ,
लेटी हैं श्रान्त, क्लान्त, निश्चल !
तापस-बाला गङ्गा निर्मल, शशि-मुख से दीपित मृदु करतल ,
लहरे उर पर कोमल कुंतल ।
गोरे अङ्गों पर सिहर-सिहर, लहराता तार-तरल सुन्दर
चञ्चल अञ्चल-सा नीलाम्बर ।
साड़ी की सिकुड़न-सी जिसपर, शशि की रेशमी विभा से भर ,
सिमटी हैं वर्तुल, मृदुल लहर ।

चाँदनी रात का प्रथम प्रहर,
हम चले नाव लेकर सत्वर।
सिकता की सस्मित सीपी पर मोती की ज्योत्स्ना रही विचर,
लो, पालें चढ़ीं, खुला लंगर।
मृदु मन्द, मन्द, मन्थर, मन्थर, लघु तरणि, हंसिनी-सी सुन्दर,
तिर रही, खोल पालों के पर।
निश्चल जल के शुचि दर्पण पर, बिम्बित हो रजत पुलिन निर्भर,
दुहरे ऊँचे लगते क्षण भर!
कालाकाँकर का राजभवन, सोया जल में निश्चिन्त, प्रमन,
पलकों में वैभव-स्वप्न सघन।

नौका से उठतीं जल-हिलोर,
हिल पड़ते नभ के ओर-छोर।
विस्फारित नयनों से निश्चल, कुछ खोज रहे चल तारक-दल,
ज्योतित कर जल का अन्तस्तल;
जिनके लघु दीपों को चंचल, अञ्चल की ओट किये अविरल,
फिरतीं लहरें लुक-छिप पल-पल।
सामने शुक्र की छवि झलमल, पैरती परी-सी जल में कल,
रुपहरे कचों में हो ओझल।
लहरों के घूँघट से झुक-झुक, दशमी का शशि निज तिर्यक् मुख
दिखलाता, मुग्धा-सा रुक-रुक।

अब पहुँची चपला बीच धार,
छिप गया चाँदनी का कगार।
दो बाँहों-से दूरस्थ तीर, धारा का कृश-कोमल शरीर,
आलिंगन करने को अधीर।
अति दूर, क्षितिज पर विटप-माल, लगती भ्रू-रेखा-सी अराल,
अपलक नभ नील-नयन विशाल;
माँ के उर पर शिशु-सा, समीप, सोया धारा में एक द्वीप,
ऊर्मिल प्रवाह को कर प्रतीप,

वह कौन विहग ? क्या विकल कोक, उड़ता, हरने निज विरह शोक ?
छाया की कोकी को विलोक !

पतवार घुमा, अब प्रतनु भार
नौका घूमी विपरीत धार ।
डाँडों के चल करतल पसार, भर भर मुक्ताफल फेन-स्फार,
बिखराती जल में तार-हार ।
चाँदी के साँपों सी रलमल नाचतीं रश्मियाँ जल में चल,
रेखाओं-सी खिंच तरल-सरल ।
लहरों की लतिकाओं में खिल, सौ-सौ शशि, सौ-सौ उडु-झिलमिल,
फैले फूले जल में फेनिल ।
अब उथला सरिता का प्रवाह, लग्गी से ले-ले सहज थाह,
हम बढ़े घाट को सहोत्साह ।

ज्यों ज्यों लगती है नाव पार
उर में आलोकित शत विचार ।
इस धारा-सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम,
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम ।
शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत शशि का यह रजत-हास,
शाश्वत लघु लहरों का विलास ।
हे जग-जीवन के कर्णधार ! चिर जन्म-मरण के आर पार,
शाश्वत जीवन - नौका - विहार ।
मैं भूल गया अस्तित्व-ज्ञान, जीवन का यह शाश्वत प्रमाण,
करता मुझको अमरत्व दान !

सन्ध्या तारा

नीरव सन्ध्या में प्रशान्त
डूबा है सारा ग्राम प्रान्त ।
पत्रों के आनत अधरों पर सो गया निखिल वन का मर्मर,
ज्यों वीणा के तारों में स्वर ।
खग-कूजन भी हो रहा लीन, निर्जन गोपथ अब धूलि-हीन,
धूसर भुजंग-सा जिह्म, क्षीण ।

झींगुर के स्वर का प्रखर तीर केवल प्रशान्ति को रहा चीर,
सन्ध्या प्रशान्ति को कर गभीर।
इस महाशान्ति का उर उदार, चिर-आकांक्षा की तीक्ष्ण धार
ज्यों बेध रही हो आर-पार।

अब हुआ सान्ध्य स्वर्णाभ लीन,
सब वर्ण-वस्तु से विश्व हीन।
गङ्गा के चल-जल में निर्मल, कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल,
है मूँद चुका अपने मृदु दल।
लहरों पर स्वर्ण-रेख सुन्दर पड़ गई नील, ज्यों अधरों पर,
अरुणाई प्रखर शिशिर से डर।
तरु-शिखरों से वह स्वर्ण-विहग उड़ गया, खोल निज पंख सुभग,
किस गुहा नीड़ में रे किस मग!
मृदु-मृदु स्वप्नों से भर अंचल, नव नील-नील, कोमल-कोमल,
छाया तरु-वन में तम श्यामल।

पश्चिम नभ में हूँ रहा देख
उज्वल, अमंद नक्षत्र एक!
अकलुष, अनिन्द्य नक्षत्र एक ज्यों मूर्तिमान ज्योतित विवेक
उर में हो दीपित अमर टेक।
किस स्वर्णाकांक्षा का प्रदीप वह लिये हुए किसके समीप?
मुक्तालोकित ज्यों रजत-सीप!
क्या उसकी आत्मा का चिर-धन, स्थिर, अपलक नयनों का चिन्तन,
क्या खोज रहा वह अपनापन।
दुर्लभ रे दुर्लभ अपनापन, लगता यह निखिल विश्व निर्जन,
वह निष्फल इच्छा से निर्धन!

आकांक्षा का उच्छ्वसित वेग
मानता नहीं बन्धन - विवेक!
चिर आकांक्षा से ही थर थर, उद्वेलित रे अहरह सागर,
नाचती लहर पर हहर लहर!

अविरत इच्छा ही में नर्तन करते अबाध रवि, शशि-उडुगण ,
दुस्तर आकांक्षा का बन्धन !
रे उडु, क्या जलते प्राण विकल ! क्या नीरव-नीरव नयन सजल !
जीवन निसङ्ग रे व्यर्थ-विफल !
एकाकीपन का अन्धकार, दुस्सह है इसका मूक भार ,
इसके विषाद का रे न पार !

चिर अविचल पर तारक अमन्द !
जानता नहीं वह छन्द-बन्ध !
वह रे अनन्त का मुक्त मीन अपने असङ्ग सुख में विलीन ,
स्थित निज स्वरूप में चिर-नवीन ।
निष्कंप शिखा-सा वह निरुपम, भेदता जगत-जीवन का तम ,
वह शुद्ध, प्रबुद्ध, शुक्र वह सम '

... ...

गुंजित अलि-सा निर्जन अपार, मधुमय लगता घन-अन्धकार ,
हलका एकाकी व्यथा - भार !
जगमग जगमग नभ का आँगन लद गया कुन्द-कलियों से घन ,
वह आत्म और यह जग-दर्शन !

छाया

वह लेटी है तरु-छाया में ,
सन्ध्या-विहार को आया मैं ।
मृदु बाँह मोड़, उपधान किये ,
ज्यों प्रेम-लालसा पान किये ;
उभरे उरोज, कुन्तल खोले ,
एकाकिनि, कोई क्या बोले !
वह सुन्दर है, साँवली सही ,
तरुणी है, हा षोड़षी रही ;
विवसना, लता-सी तन्वंगिनि ,
निर्जन में क्षण भर की संगिनि !

वह जागी है अथवा सोई !
मूर्च्छित था स्वप्न-मूढ़ कोई !
नारी कि अप्सरा या माया !
अथवा केवल तरु की छाया !

सन्ध्या

कहो, तुम रूपसि कौन !
व्योम से उतर रहीं चुपचाप
छिपी निज छाया-छवि में आप,
सुनहला फैला केश - कलाप,
मधुर, मंथर, मृदु, मौन !
मूँद अधरों में मधुपालाप,
पलक में निमिष, पदों में चाप,
भाव-संकुल, बंकिम भ्रू-चाप,
मौन, केवल तुम मौन !
ग्रीव तिर्यक, चम्पक-द्युति गात,
नयन मुकुलित, नत मुख-जलजात,
देह छवि-छाया में दिन-रात,
कहाँ रहती तुम कौन !
अनिल-पुलकित स्वर्णांचल लोल,
मधुर नूपुर-ध्वनि खग-कुल-रोल,
सीप-से जलदों के पर खोल,
उड़ रही नभ में मौन !
लाज से अरुण-अरुण सुकपोल,
मदिर अधरों की सुरा अमोल,
बने पावस-घन स्वर्ण-हिंदोल,
कहो, एकाकिनि, कौन !
मधुर, मंथर तुम मौन !

तप रे

तप रे मधुर मधुर मन !
विश्व-वेदना मे तप प्रतिपल,
जग जीवन की ज्वाला में गल,
बन अकलुष, उज्वल औ' कोमल,
तप रे विधुर विधुर मन।
अपने सजल स्वर्ण से पावन
रच -जीवन की मूर्ति पूर्णतम,
स्थापित कर जग में अपनापन,
ढल रे ढल आतुर मन।
तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन,
गन्ध-हीन तू गन्ध-युक्त बन,
निज अरूप में, भर स्वरूप, मन।
मूर्तिमान बन, निर्धन।
गल रे गल निष्ठुर मन।

मर्म कथा

बाँध दिये क्यों प्राण
प्राणों से !
तुमने चिर अनजान
प्राणों से !
गोपन रह न सकेगी
अब यह मर्म-कथा,
प्राणों की न रुकेगी
बढ़ती विरह व्यथा,
विवश फूटते गान,
प्राणों से !

यह विदेह प्राणों का बन्धन ,
अन्तर्ज्वाला में तपता तन !
मुग्ध हृदय, सौन्दर्य-ज्योति को
दग्ध कामना करता अर्पण !
नहीं चाहता जो कुछ भी आदान
प्राणों से !
बाँध दिये क्यों प्राण
प्राणों से !

मर्म व्यथा

प्राणों में चिर व्यथा बाँध दी !
क्यों चिर-दग्ध हृदय को तुमने
वृथा प्रणय की अमर साध दी !

पर्वत को जल, दारु को अनल ,
वारिद को दी विद्युत चञ्चल ,
फूल को सुरभि, सुरभि को विकल
उड़ने की इच्छा अबाध दी !

हृदय दहन रे हृदय दहन ,
प्राणों की व्याकुल व्यथा गहन !
यह सुलगेगी, होगी न सहन ,
चिर-स्मृति की श्वास-समीर साथ दी !

प्राण गलेंगे, देह जलेगी ,
मर्म-व्यथा की कथा ढलेगी ,
सोने - सी तप कर, निकलेगी
प्रेयसि-प्रतिमा, ममता अगाध दी !
प्राणों में चिर व्यथा बाँध दी !

स्वप्न बंधन

बाँध लिया तुमने प्राणों को फूलों के बन्धन में
एक मधुर जीवित आभा-सी लिपट गई तुम मन में ।
बाँध लिया तुमने मुझको स्वप्नों के आलिंगन में ।

तन की सौ शोभाएँ सन्मुख चलती फिरती लगतीं,
सौ-सौ रंगों में, भावों में तुम्हें कल्पना रँगती,
मानसि, तुम सौ बार एक ही क्षण में मन में जगती ।

तुम्हें स्मरण कर जी उठते यदि स्वप्न आँक उर में छवि,
तो आश्चर्य प्राण बन जावें गान, हृदय प्रणयी कवि ?
तुम्हें देखकर स्निग्ध चाँदनी भी जो बरसावे रवि ।

तुम सौरभ-सी सहज मधुर बरबस बस जाती मन में,
पतझर में लाती बसंत, रस-स्रोत विरस जीवन में,
तुम प्राणों में प्रणय, गीत बन जाती उर कंपन में ।

तुम देही हो ? दीपक लौ-सी दुबली, कनक-छवीली,
मौन मधुरिमा भरी, लाज ही-सी साकार लजीली,
तुम नारी हो ? स्वप्न-कल्पना-सी सुकुमार सजीली ?

तुम्हें देखने शोभा ही ज्यों लहरी-सी उठ आई,
तनिमा, अंग-भंगिमा बन मृदु देही बीच समाई ।
कोमलता कोमल अंगों में पहिले तन धर पाई ।

शरद चाँदनी

शरद-चाँदनी ।
विहँस उठी मौन अतल
नीलिमा उदासिनी ।

आकुल सौरभ समीर
छल-छल चल सरसि नीर,
हृदय प्रणय से अधीर,
जीवन उन्मादिनी ।

अश्रु - सजल तारक-दल ,
अपलक दृग गिनते पल ,
छेड़ रही प्राण विकल
विरह-वेणु-वादिनी !

जगीं कुसुम-कलि थर्-थर्
जगे रोम सिहर - सिहर ,
शशि-असि-सी प्रेयसि-स्मृति
जगी हृदय-ह्लादिनी !
शरद्-चाँदनी !

अनुभूति

तुम आती हो ,
नव अंगों का
शाश्वत मधु-विभव लुटाती हो ।
बजते निःस्वर नूपुर छम-छम ,
साँसों में थमता स्पंदन-क्रम ,
तुम आती हो ,
अन्तस्थल में
शोभा-ज्वाला लिपटाती हो ।
अपलक रह जाते मनोनयन ,
कह पाते मर्म-कथा न वचन ,
तुम आती हो ,
तन्द्रिल मन में
स्वप्नों के मुकुल खिलाती हो ।
अभिमान अश्रु बनता झर-झर
अवसाद मुखर रस का निर्झर ,
तुम आती हो ,
आनन्द-शिखर
प्राणों में ज्वा[illegible]ठाती हो ।

स्वर्णिम प्रकाश में गलता तम,
स्वर्गिक प्रतीति में ढलता भ्रम,
तुम आती हो,
जीवन-पथ पर
सौन्दर्य-रहस बरसाती हो।
जगता छाया-वन में मर्मर,
कँप उठती रुद्ध स्पृहा थर-थर,
तुम आती हो,
उर-तंत्री में
स्वर मधुर व्यथा भर जाती हो।

परिवर्तन

अहे निष्ठुर - परिवर्तन!
तुम्हारा ही ताण्डव-नर्तन
विश्व का करुण-विवर्तन!
तुम्हारा ही नयनोन्मीलन,
निखिल उत्थान, पतन!
अहे वासुकि सहस्र-फन!
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षःस्थल पर!
शत-शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर!
-मृत्यु तुम्हारा गरल-दंत कंचुक-कल्पान्तर,
अखिल विश्व ही विवर,
वक्र-कुंडल,
दिङ्मण्डल!
विश्वमय हे परिवर्तन!
अतल से उमड़ अकूल, अपार,
मेघ से विपुलाकार;

दिशावधि में पल विविध प्रकार
अतल में मिलते तुम अविकार !

अहे अनिर्वचनीय ! रूप धर भव्य, भयंकर,
इन्द्रजाल-सा तुम अनन्त में रचते सुन्दर ;
गरज, गरज, हँस हँस, चढ़ गिर, छा ढा, भू-अम्बर,
करते जगती को अजस्र जीवन से उर्वर ;
अखिल विश्व की आशाओं का इन्द्रचाप-वर
अहे तुम्हारी भीम-भृकुटि पर
अटका निर्भर !

एक औ बहु के बीच अजान
घूमते तुम नित चक्र समान,
जगत के उर में छोड़ महान
गहन-चिह्नों में ज्ञान !

परिवर्तित कर अगणित नूतन-दृश्य निरन्तर,
अभिनय करते विश्व-मंच पर तुम मायाकर !
जहाँ हास के अधर, अश्रु के नयन करुणतर
पाठ सीखते संकेतों में प्रकट, अगोचर ;
शिक्षास्थल यह विश्व-मंच, तुम नायक-नटवर,
प्रकृति नर्तकी सुघर
अखिल में व्याप्त सूत्रधर !

हमारे निज सुख, दुख, निःश्वास
तुम्हें केवल परिहास ;
तुम्हारी ही विधि पर विश्वास
हमारा चिर आश्वास !

ऐ अनन्त हृत्कम्प ! तुम्हारा अविरत-स्पन्दन
सृष्टि-शिराओं में संचारित करता जीवन ;
खोल जगत के शत शत नक्षत्रों-से लोचन,
भेदन करते अंधकार तुम जग का क्षण, क्षण,

सत्य तुम्हारी राज-यष्टि, सम्मुख नत त्रिभुवन ,
भूप, अकिंचन ,
अटल शास्ति नित करते पालन !

तुम्हारा ही अशेष व्यापार ,
हमारा भ्रम, मिथ्याहंकार ,
तुम्हीं में निराकार, साकार ,
मृत्यु-जीवन सब एकाकार !

अहे महांबुधि ! लहरों से शत लोक, चराचर ,
क्रीड़ा करते सतत तुम्हारे स्फीत वक्ष पर ,
तुंग तरंगों से शत युग, शत शत कल्पांतर
उगल, महोदर में विलीन करते तुम सत्वर ;
शत-सहस्र रवि-शशि असंख्य ग्रह, उपग्रह, उडगण ,
जलते, बुझते हैं स्फुलिंग से तुम में तत्क्षण ,
अचिर विश्व में अखिल दिशावधि, कर्म, वचन, मन ,
तुम्हीं चिरंतन
अहे विवर्तन-हीन विवर्तन !

स्वर्णोदय

[यौवन का उदय]

न रोके रुकते चपल नयन ,
मीन तिरते, उड़ते खंजन ,
अधर से मिलते मधुर अधर ,
मुग्ध कलि अलि करते चुंबन !
बाँह यदि भरतीं आलिंगन
लताओं से लिपटे तरुगण ;
प्रबल रे फूलों का बन्धन ,
अमिट प्राणों का आकर्षण !

आज भू लतिकाओं में भंग ,
प्रतनु तन-शोभा प्रीति तरंग ,
गढ़े किस शिल्पी ने ये अंग ,
निछावर निखिल प्रकृति के रंग !
स्पर्श में बहती प्राण तड़ित ,
स्वतः तन हो उठता पुलकित ,
हृदय-स्वप्नों से जग रंजित
उषा अब इन्द्र धनुष-वेष्टित !

सहज चार आँखें होतीं, अपलक रह जाते लोचन ,
नव-प्रवाल-अधरों में बहती मदिरा - ज्वाला मादन !
प्राणों की चिर-चाह फूट बनती पुलकों के बन्धन ,
कौन भूल सकता है रे नव - यौवन का सम्मोहन !
कैसे उर - कामना स्वर्ण - कलशों में युगल गई भर ,
कहाँ नयनिमा ने पाये ये फूलों के मादक शर !
यह लज्जा सज्जा सुषमा मधुरिमा कहाँ थी गोपन ,
नव यौवन औ' प्रथम प्रणय औ' मुग्धा तरुणी का तन !

कौन बाँध सकता उद्दाम अजस्र वेग निर्झर का ,
कौन रोक सकता अबाध उद्वेलन रे सागर का !
मदोन्मत्त यौवन का, मेघों का दुर्धर आलोड़न ,
चकित नहीं कामिनी दामिनी करती किसके लोचन !

सरित पुलिन अब लगते शोभन ,
बह जाता धारा के सँग मन !
मधुर, मौन सन्ध्या का आँगन ,
प्रिय, स्वप्नों में शयित निशि गगन !
गुञ्जन कूजन गन्ध-समीरण
सब में मर्म-मधुर संवेदन ;
तरुण भावनाओं से रंजित
मुकुलित नव अङ्गों का उपवन !

स्वर्ण-नील भृंगों से झंकृत, कोकिल-स्वर से कीर्तित !
अपलक रत्न-स्वप्न मधु-वैभव मन को करता मोहित !
तारामों से शत लक्षित, ज्योत्स्ना-अञ्चल में वेष्टित
उदय हृदय में होता फिर फिर लेखा शिशि-मुख परिचित !
शरद-निशा आती सलज्ज मुग्धा-सी शंकित ,
मुक्त-कुन्तला वर्षा तनु चपला-सी कम्पित ,
सुरभित ऊष्मा-वेला कलि-स्रक् से उर दोलित ,
लिपट मधुर हिम जाती तन से आतप-सी स्मित !

खुल पड़ता उर का वातायन
बहती प्राण मलय चिर-मादन ,
कहीं दूर से आता भीतर
प्रणयाकुल पञ्चम पिक-गायन !

आओ हे चिर स्वप्न-सखी, आकुल अन्तर में आओ ,
फूलों की नव कोमलता में जीवन को लिपटाओ !
इन प्रिय स्नेह सरों में अपलक शरद-नीलिमा जाग्रत ,
चपल हंस-पंखों से चुम्बित सरसिज-श्री बरसाओ !
इस प्रवाल के प्याले की मधु मदिरा, सखि, उर मादन ,
तुहिन फेन-सी सस्मित प्रीति सुधा निज मुझे पिलाओ !
सुरभित साँसों के उर में कर मर्म-कामना दोलित
फूलों के मृदु शिखरों पर प्राणों के स्वप्न सुलाओ !
इन मांसल सुवर्ण-झरनों से लिपटी विद्युत् लपटें ,
प्रणय-उदधि में प्राणों की ज्वाला को अतल डुबाओ !
लेटा नव लावण्य चाँदनी-सा बेला के वन में ,
खिलती कलिकाओं की शोभा कोमल सेज सजाओ !
स्वप्नों की पी सुरा आज यौवन जागे विस्मृति में
चञ्चल विद्युत् को सलज्ज ज्योत्स्ना के अङ्क लगाओ !
आओ हे प्रिय स्वप्न-संगिनी, आकुल उर में आओ !

भगवतीचरण वर्मा

गीत

प्रिय, तुमने ही तो गाये थे
मैंने ये जितने गीत लिखे !

अम्बर की लाली को उस दिन
तुमने ही था अनुराग दिया ;
तुमने ऊषा को अपनी छवि ,
कलरव को अपना राग दिया ;
अपना प्रकाश रवि-किरणों को ,
अपना सौरभ मलयानिल को ,
पुलकित शतदल को तुमने ही
प्रिय, अपना मधुर पराग दिया !

मेरे प्राणों में तुम हँस दीं ,
मेरे स्वर में तुम कूक उठीं ;
पागल मैं कहता हूँ 'अपने'
तुमने ये जितने गीत लिखे !

उस दिन जब काली रजनी में
ज्योत्स्ना का सकरुण पीलापन
मिटते तारों को गिन-गिनकर
कर देता था धुँधले लोचन !
तुम समझीं थीं, तुम दूर बहुत ;
तुम तो थीं जल-थल-अम्बर में ;
प्रतिकण में तुम, प्रतिक्षण में तुम ,
तुम थीं स्पन्दन, तुम थीं जीवन !

मेरे प्राणों में तुम रो दीं,
मेरे स्वर में तुम हूक उठीं;
मूरख जग कहता है मेरे
तुमने ये जितने गीत लिखे!

अन्तरिक्ष,

प्रिय, कितना व्यापक अन्तरिक्ष,
ये मेरे कितने शिथिल गान!
युग-युग के अगणित झोंकों में
इन दो साँसों का क्या प्रमान!

कल इन दो नयनों मे अपने
भरकर असीमता के सपने,
मैंने गुरुता की एक नजर
डाली थी दुनियाँ के ऊपर!
फिर अपना मस्तक ऊँचा कर,
अपनी गर्वान्ध खुदी में भर,
मैं बोल उठा था गर्वोन्नत—
"मैं हूँ समर्थ, मैं हूँ महान!"

पर आज थका-सा, हारा-सा,
मैं फिरता हूँ मारा-मारा;
बैठा छोटे-से कमरे में,—
—वह भी न बन सकेगा अपना
कहता उसका कोना-कोना!
कितने ही आये, चले गये,
है कितनों को आना-जाना!—
होठों पर ले विषाद रेखा,
गत-जीवन की छायाओं से
मैं घिरा हुआ हूँ सोच रहा:—

कितना नीचा मेरा मस्तक,
कितना ऊँचा है आसमान!

न माँगो

(१)

तुम हँसकर मेरा प्यार न मुझसे माँगो!
तुम नवल उषा की प्रथम पुलक की सिहरन!
तुम स्वप्न-विचुंबित मुग्ध किरण की स्पन्दन!
तुम सौरभ से श्लथ मलयज की मादकता!
तुम आशा की उच्छवसित मधुर कल-कूजन!
तुम क्या जानो गति का संघर्ष भयंकर—
जब असह्य व्यथा से मथ उठता है अन्तर,
जब नयन उगलने लगते हैं अंगारे,
जब जल उठती है अवनि उबलता अम्बर!
मध्याह्न काल के मरु की मैं मृगतृष्णा,
प्रत्येक चरण पर मेरे शत-शत खँडहर!
अनिमेष दृगों मे ले जीवन की सुषमा
मेरा उजड़ा संसार न मुझसे माँगो!
तुम हँसकर मेरा प्यार न मुझसे माँगो!

(२)

तुम रसमय बेसुध गान न मुझसे माँगो!
अपनी तरंग मे खुलती हुई लजीली,
कलिकाओं का छविजाल लिये तुम रंगिनि!
उल्लास-धवल हिमहास लिये अधरों पर
तुम नृत्य-रता, तुम उत्सव-व्रता तरंगिनि!
तुम क्या जानो अपनी सीमा से उठकर
किस मौन क्षितिज से लहरें लेतीं टक्कर!
किस असफलता की व्यथा लिये प्राणों में
रह-रह कराह उठता है विस्तृत सागर!

मैं प्रलयकाल की झंझा का पागलपन,
प्रत्येक साँस मेरी विनाश का क्रन्दन!
अधरों पर ले संगीत, नृत्य चरणों पर
मेरी भूली पहचान न मुझसे माँगो!
तुम रसमय बेसुध गान न मुझसे माँगो!

मानव

[१]

जब कलिका को मादकता में
हँस देने का वरदान मिला,
जब सरिता की उन बेसुध-सी
लहरों को कल-कल गान मिला,
जब भूले - से, भरमाए - से
भ्रमरों को रस का पान मिला,
तब हम मस्तों को हृदय मिला
मर मिटने का अरमान मिला!

पत्थर - सी इन दो आँखों को
जलधारा का उपहार मिला,
सूनी-सी ठंढी साँसों को
फिर उच्छ्वासों का भार मिला,
युग-युग की उस तन्मयता को
कल्पना मिली, संचार मिला,
तब हम पागल - से झूम उठे
जब रोम-रोम को प्यार मिला!

भूखण्ड मापनेवाले इन
पैरों को गति का भान मिला,
ले लेनेवाले हाथों को
साहस-बल का सम्मान मिला,

नभ छूनेवाले मस्तक को
निज गुरुता का अभिमान मिला,
तब एक शाप - सा हाथ हमें
सहसा सुख-दुख का ज्ञान मिला !

[२]

मरु को युग-युग की प्यास मिली
पर उसको मिला अभाव कहाँ !
पिक को पंचम की हूक मिली
पर उसको मिला दुराव कहाँ !
दीपक को जलना यहाँ मिला
पर उसको मिला लगाव कहाँ !
निर्झर को पीड़ा कहाँ मिली !
पत्थर के उर मे घाव कहाँ !

वारिद - माला से ढकने पर
रवि ने समझा अपमान कहाँ !
नगपति के मस्तक पर चढ़कर
हिम ने पाया सम्मान कहाँ !
मधु - ऋतु ने अपने रंगों पर
करना सीखा अभिमान कहाँ !
कह सकता है कोई किससे
कब किसका है अज्ञान कहाँ !

बेड़ों को कर के गर्क किया
लहरों ने पश्चात्ताप कहाँ !
वृक्षों ने होकर नष्ट दिया
तूफानों को अभिशाप कहाँ !
पानी ने कब उल्लास किया
लहरों ने किया विलाप कहाँ !

बादल ने देखा पुण्य कहाँ !
दावा ने देखा पाप कहाँ !

[३]

पर हम मिट्टी के पुतलों को
जब स्पन्दन का अधिकार मिला ,
मस्तक पर गगन असीम मिला ,
फिर तलवों पर संसार मिला !
उन तत्वों के सम्राट बने
जिनका हमको आधार मिला ,
फिर हाय असह - सा वहीं हमें
यह मानवता का भार मिला !

जल उठी अहम की ज्वाल वही
जब कौतूहल-सा प्राण मिला ,
हम महानाश लेते आये
जब हाथों को निर्माण मिला ,
बल के उन्मत्त पिशाचों को
सुख - वैभव का कल्याण मिला ,
निर्बलता के कंकालों की
छाती पर फिर पाषाण मिला !

हम लेने को देवत्व बढ़े ,
पशुता का हमें प्रसाद मिला ;
पर की तड़पन में, आँसू में
हमको अपना आह्लाद मिला ;
निज गुरुता का उन्माद मिला ,
निज लघुता का अवसाद मिला ;
बस यहाँ मिटाने को हमको
मिटने का आशीर्वाद मिला !

[४]

जब हमने खोली आँख वहीं
उठने की एक पुकार हुई,
रवि-शशि, उडु भय से सिहर उठे
जब जीवन की हुंकार हुई,
'तुम हो समर्थ, तुम स्वामी हो!'
जब तत्वों की मनुहार हुई—
तब छिति की धुँधली रेखा में
खिंच कर सीमा साकार हुई!

जब एक निमिष में युग-युग की
व्यापकता व्याप्त विलीन हुई,
जब एक दृष्टि में दश-दिशि के
बन्धन से छवि स्वाधीन हुई,
जब एक श्वास में भावी की
स्वप्निल छाया प्राचीन हुई,
तब एक आह में मानव की
गुरुता खिंचकर श्रीहीन हुई!

जब हम सबलों की शक्ति प्रबल
निर्बल संसृति पर भार हुई,
जब विजित पद-दलित अणु अणु से
मानव की जय जयकार हुई;
जब जल में, थल में, अम्बर में
अपनी सत्ता स्वीकार हुई;
तब हाय अभागे हम लोगों
की अपने ही से हार हुई!

[५]

नारी के छविमय अंगों की
छवि में मिल छविमय होने को

पृथ्वी की छाती फाड़ लिया
हम ने चाँदी को, सोने को !
हम ने उनको सन्मान दिया
पल-भर निज गुरुता खोने को ,
पर हम निज बल भी दे बैठे
अपनी लघुता पर रोने को !

अति निर्मित की थी लोहे से
अपने अभाव के भरने को ,
हिंसक पशुओं के तीव्र नखों
से अपनी रक्षा करने को ,
हमने कृषि काटी थी उस दिन
निज तीव्र क्षुधा के हरने को ,
पर हाय हमारी भूख कि हम
असि लाये खुद कट मरने को !

मथ डाले हैं सागर, अम्बर
हमने प्रसार दिखलाने को ,
हमने विद्युत को निगल लिया
मानव की गति बन जाने को ,
हम ने तेलों को दाह दिया
निशि में प्रकाश बरसाने को ,
पर आज हमारे खाद्य घिरे
हैं हम को ही खा जाने को !

[६]

देखो वैभव से लदी हुई
विस्तृत विशाल बाजार यहाँ ,
देखो मरघट पर पड़े हुए
भिखमंगों के अम्बार यहाँ !

देखो मदिरा के दौरों में
नव-यौवन का संचार यहाँ,
देखो तृष्णा की ज्वाला में
जीवन को होते क्षार यहाँ!

केवल मुट्ठी-भर अन्न—कहाँ
है नारी में सम्मान यहाँ!
केवल मुट्ठी-भर अन्न—कहाँ!
है पुरुषों में अभिमान यहाँ!
केवल मुट्ठी-भर अन्न—कहाँ
है भले-बुरे का ज्ञान यहाँ!
केवल मुट्ठी-भर अन्न—यही
है बस अपना ईमान यहाँ!

अपने बोझे से दबे हुए
मानव को कहाँ विराम यहाँ!
सुख-दुख की सँकरी सीमा में
अस्तित्व बना नाकाम यहाँ!
बनने की इच्छा का हमने
देखा मिटना परिणाम यहाँ—
'अभिलाषाओं की सुबह यहाँ,
असफलताओं की शाम यहाँ!'

[७]

अपनी निर्मित सीमाओं में
हमको कितना विश्वास अरे!
यह किस अशान्ति का रुदन यहाँ!
किस पागलपन का हास अरे!
किस सूनेपन में मिल जाते
मानव के विफल प्रयास अरे!

क्यों आज शक्ति की प्यास प्रबल
बन गई रक्त की प्यास अरे!
अपनेपन में लय होकर भी
अपने से कितनी दूर अरे!
हम आज भिखारी बने हुए
निज गुरुता से भरपूर अरे!
अपनी ही असफलताओं के
बन्धन से हम मजबूर अरे!
अपनी दीवारों से दब कर
हम हो जाते हैं चूर अरे!

पथ-भ्रष्ट हमें कर रही यहाँ
अपनी अनियन्त्रित चाल अरे!
डस रही व्याल बनकर हमको
यह अपनी ही जयमाल अरे!
हम प्रतिपल बुनते रहते हैं
अपने विनाश का जाल अरे!
बन गये काल के हम स्वामी
हैं अब अपने ही काल अरे!

[८]

अम्बर को नत करने वाला
अपना अभिमान झुका न सका!
सागर को पी जानेवाला
आँखों की प्यास मिटा न सका!
व्यापक असीम रचने वाला
निज सीमा स्वयं बुझा न सका!
अपनी भूलों की दुनिया में
सुख-दुखका ज्ञान भुला न सका!
अपनी आहों में संसृति के
क्रन्दन का स्वर तू भर न सका!

अपने सुख की प्रतिछाया में
जग को तू सुखमय कर न सका !
यह है कैसा अभिशाप अरे
क्षमता रखकर तू तर न सका !
तू जान न पाया, जी न सका
जो उसके पहले मर न सका !

है प्रेम तत्व इस जीवन का,
यह तत्व न अब तक जान सका !
तू दया-त्याग का मूल्य अरे
अब तक न यहाँ अनुमान सका !
तू अपने ही अधिकारों को
अब तक न हाय पहचान सका !
तू अपनी ही मानवता को
अब तक हे मानव पा न सका !

मानव

१

मनुष्य जब सगर्व कह उठा कि आज मान दो—
मुझे महान मान दो।
प्रकृति पुकार तब उठी—अरे कि शीश-दान दो—
सगर्व शीश-दान दो !

सहम रहा गगन-अशान्त
तप्त-आह से भरा—
सहम रही अशान्त-भ्रान्त
रक्त-रंजिता धरा !
उबल रहा समुद्र-और
मेरु टूट गिर रहा।
मनुष्य भाल पर लिये
विनाश की परम्परा !

अखण्ड सृष्टि यह समस्त खण्ड-खण्ड हो रही,
मनुष्य की मनुष्यता स्वयं विनष्ट रो रही।
मनुष्य शक्ति हीन है, मनुष्य नाशवान है—
सशक्त जो, अजर-अमर-असीम एक ज्ञान है;
अलख जगा रहा सुकवि, मनुष्य आत्म-ज्ञान लो!"
समर्थ शीश - दान दो!

२

मिली तुम्हें न यदि दया, मिली तुम्हें न भावना,
विनाश है मनुष्य तव समस्त ज्ञान-साधना!
विनाश तर्क - बुद्धि सब,
विनाश अध्ययन मनन।
विनाश सृष्टि पर विलाप,
विनाश तत्व का चमन;
अबाध बल अधीर गति,
अलक्ष निज समर्थता,
लिये मनुष्य कर रहा
विनाश का महा - सृजन!
असत्य भोग - वासना, असत्य सिद्धि कामना,
मनुष्य सत्य त्याग है, मनुष्य सत्य भावना!
रुको, झुको, करो मनुष्य प्रेम की उपासना!
मिली तुम्हें न यदि दया, मिली तुम्हें भावना।
विनाश है मनुष्य तव समस्त ज्ञान - साधना।

३

रुको, मकान जल रहे रुको नगर उजड़ रहे,
रुको प्रलय उमड़ रही, विनाश-घन घुमड़ रहे!
कराह - आह का धुँवा,
हरेक साँस घुट रही।
समस्त सभ्यता, सुरुचि
दलित, विनष्ट लुट रही।

विशाल हास्य हँस रही
सशक्त हिंस्र - वृत्तियाँ,
मनुष्य सृष्टि की धुरी
अशक्त आज छुट रही।
रुको मनुष्य आँख में असीम अन्धकार है,
रुको मनुष्य पैर मे विनाश का प्रहार है।
झुको कि भूमि चूम लो, रुको कि तुम उखड़ रहे,
रुको मकान जल रहे, रुको नगर उजड़ रहे।

ट्राम

[१]

हम ठीक तरह चढ़ भी न सके
घर-घर-घर-घर चल पड़ी ट्राम।
दुबले - मोटे, लम्बे - नाटे
यात्री बेंचों पर अड़े हुए,
कुछ मौन विवशता से प्रेरित
थे मन को मारे खड़े हुए,
कुछ अपनी जेब सम्हाले थे,
कुछ थे जेबों को तड़े हुए,
हम भी कोने में चिपक गये
सुमिरन कर मन में राम-नाम।
हम ठीक तरह चढ़ भी न सके
घर-घर-घर-घर चल पड़ी ट्राम।

[२]

अंग्रेज, मारवाड़ी, सिंधी,
हिन्दुस्तानी, बंगाली थे,
कुछ असली ठस आसामी थे,
कुछ बने-ठने थे, जाली थे,

कुछ हँसी-खुशी में मस्त और
कुछ लड़ कर देते गाली थे।

आने वालों, जाने वालों
की मची हुई थी धूम-धाम।
हम ठीक तरह चढ़ भी न सके
घर-घर-घर-घर चल पड़ी ट्राम।

[३]

कुछ फूँक रहे थे पैसों को
निज हाथों में सिगरेट लिये,
कुछ सड़े मैल को भी अपने
मुहँ में थे कस कर बन्द किये,
हम सोच रहे थे मृत्यु यहीं
यह भाग्य हमारा कि हम जिये,

हम उस मेले में देख रहे
थे बड़े नगर की टीम-टाम।
हम ठीक तरह चढ़ भी न सके
घर-घर-घर-घर चल पड़ी ट्राम।

[४]

रुक गई ट्राम झटका खाकर,
दरवाजे पर आँखें घूमीं,
मदमाती, इठलाती युवती
नयनों ने उसकी छवि चूमी,
आई उछाह की एक लहर
हँस कर मन की मस्ती झूमी,
थी एक अप्सरा या कि परी,
रह गये सभी दिल थाम-थाम।
हम ठीक तरह चढ़ भी न सके
घर-घर-घर-घर चल पड़ी ट्राम।

[५]

कंधे से कंधे भिड़े हुए
थी भरी खचाखच ट्राम कहाँ!
औ' नहीं दिखाई देता था
तिल रखने का भी ठौर जहाँ।
हँसती-सी बाँकी चितवन पर
बेंचें खाली हो गईं वहाँ,
आदर से युवती बैठ गई
कुछ बल खाकर, कुछ झूम-झाम!
हम ठीक तरह चढ़ भी न सके
घर-घर-घर-घर चल पड़ी ट्राम!

[६]

फिर चौराहे पर ट्राम रुकी,
अब चढ़ी एक बुढ़िया जर्जर,
थीं शिथिल पिड़लियाँ काँप रहीं
थी हाँप रही, था उसको ज्वर,
वे सभ्य और मनचले लोग
चुप बैठे थे बन कर पत्थर!
धन और रूप के भिखमंगों
को था दुखिया से कौन काम!
हम ठीक तरह चढ भी न सके
घर-घर-घर-घर चल पड़ी ट्राम!

[७]

हमने धन की दानवता से
देखा पीड़ित उन लोगों को,
वासना और तृष्णा से हत
उनकी आत्मा के रोगों को,

उनके कलुषित उद्गारों को,
उनके उन कलुषित भोगों को !

कुछ क्षुब्ध सोचते हुए वहाँ
हम वापस लौटे घूम-घाम !
हम ठीक तरह चढ़ भी न सके
घर-घर-घर-घर चल पड़ी ट्राम !

[८]

हमने सोचा अनियन्त्रित रव
से भरा हुआ यह कलकत्ता !
कितना विशाल इसका वैभव !
कितनी महान इसकी सत्ता !
कितनी गँभीर इसकी गुरुता !—
पर एक बात है अलबत्ता ;

पशु बन कर मानव भूल गया
है मानवता का नाम-ग्राम !
हम ठीक तरह चढ़ भी न सके
घर-घर-घर-घर चल पड़ी ट्राम !

नूरजहाँ की क़ब्र पर

[१]

तुम रजकण के ढेर, उलूकों के तुम भग्न विहार !
किस आशा से देख रहे हो उस नभ पर प्रतिवार
कि जिससे टकराता था कभी
तुम्हारा उन्नत भाल !
सुनते हैं, तुमने भी देखा था वैभव का काल,
धूल में मिले हुए कंकाल !
तुम्हारे संकेतों के साथ
नाचता था साम्राज्य विशाल ;

तुम्हारा क्रोध और उल्लास
बिगड़ते बनते थे भूपाल,
किन्तु है आज कहानी शेष
प्रबल है प्रबल काल की चाल!

*

[२]

एक समय पर्वत-मालाओं की प्रतिध्वनि के साथ,
तुम रोई थीं, प्रथम नमा कर, उस भू पर निज माथ
कि जिस पर था सगर्व आरूढ़
तुम्हारा गुरुतर भार!
जीवन के पहले ही क्षण में वह जीवन की हार!
पतन ही है जीवन का सार!

तुम्हारा प्यारा शैशव-काल
स्वर्ग की सुषमा का आगार,
ज्ञान के धुँधलेपन से शून्य
किलकने हँसने के दिन चार,
भाग्य की देवि! भाग्य का तुम्हें
वही तो था सारा उपहार!

[३]

देखे थे सुख-मयी कल्पना के शत शत प्रासाद;
पुलकित नयनों से देखा था तुमने वह आह्लाद
कि जिसको फिर पाने के लिए
रहीं रोतीं दिन रात!
क्षणिक प्रभा थी, था भविष्य का अन्धकार अज्ञात,
आह बचपन के सुखद प्रभात!

दूसरों के हँसने के साथ
पुलक उठता था सारा गात,

छलकता था नयनों में नीर
किसी पर यदि होता आघात,
वासना तृष्णा ईर्ष्या डाह
कहो क्या थे पहिले भी ज्ञात !

[४]

लाड़ प्यार में तुम बढ़ती थीं—कहाँ ? किधर ? किस ओर ?
अरे विश्व के उस वैभव का मिलता ओर न छोर
कि जिसके एक अंश तक की
न ले पायीं तुम थाह !
बहता है संसार, वासना का है तीव्र प्रवाह,
देवि यह जीवन ही है चाह !

तुम्हारे आशा के सुख-स्वप्न,
तुम्हारे वे उमङ्ग उत्साह,
तुम्हारी मधुर मन्द मुसकान,
तुम्हारे भोले भाव अथाह,
हो गये क्षण भर में ही लोप,
हँसी बन गयी पलक में आह !

[५]

उस दिन पीले हुए तुम्हारे जब हलदी से हाथ,
बँधी प्रणय के उस बंधन में जब तुम पति के साथ
कि जिसमें बँधता है संसार,
किस प्रतीक्षा के साथ !
भय, सङ्कोच, प्रेम, लज्जा थे, हँसते थे रतिनाथ,
दृष्टि नीची थी, ऊँचा माथ !

प्रेम का प्रथम प्रणय-चुम्बन
पाश डाले थे कोमल हाथ,
और वह आलिङ्गन, कम्पन,
कोकिला थी ऋतुपति के साथ !

मन्द्र स्वर में सगर्व सोल्लास
कहा था तुमने जीवन-नाथ !"

[६]

प्रेम किया था उस चातक-सा, बुझी न जिसकी प्यास,
अरे सुधा के उन प्यालों का है विचित्र इतिहास
कि जो होठों से लगते ही
छलक जाते हैं हाय !
इच्छाएँ हैं प्रबल, किन्तु हैं असफल सकल उपाय,
भटकते हैं हम सब असहाय !
परिस्थितियों की विस्तृत परिधि,
प्रेरणाओं का है समुदाय,
गिरे नीचे नीचे दिन-रात,
क्षणिक हैं सारे क्षीण उपाय,
सुधा के हैं थोड़े से बूँद,
हाथ हैं अस्थिर चञ्चल हाय !

[७]

अरुण कपोलों में रस था, अधरों में अमृत-बोल !
तुम्हें ज्ञात भी था उन आँखों की मदिरा का मोल ?
कि जिनकी कुछ रेखाएँ लाल
हृदय उठता है काँप !
बना भृकुटियों का बाँकापन यौवन का अभिशाप,
शेष है अब तक वही प्रलाप !
किन्तु वह सौरभ और पराग—
प्रेम का गर्व, प्रेम का ताप,
और निश्छल निर्मल अनुराग !
किया था तुमने कैसा पाप ?
कि वह सारा पावन वैभव
उड़ गया नभ पर बन कर भाप !

[८]

आह ! भाग्य से हुई तुम्हारी उस दिन आँखें चार,
जिस दिन देखा था' सलीम ने वह अपना संसार
कि जिस अज्ञात खण्ड में उसे
शान्ति थी अथवा भ्रान्ति !
अनायास तुम काँप उठी थीं, थी वह प्रथम अशान्ति,
देवि यह जीवन ही है क्रान्ति !

दास हो अथवा हो सम्राट
विश्व भर की स्वामिनि है भ्रान्ति,
परिस्थितियों का है यह चक्र
जिसे हम सब कहते हैं क्रान्ति,
भाग्य की देवि ! भाग्य की भेंट
सदा से है जीवन की शान्ति !

[९]

तृष्णा ! तृष्णा ! आह रक्त से रंजित तेरे हाथ !
विश्व खेलता है पागल - सा उन पापों के साथ
कि जिनके पीछे ही है लगा
विषम रौरव का जाल ।
मिटा भाग्य-सिंदूर तुम्हारा, रिक्त हो गया भाल,
प्रेम ही बना प्रेम का काल !

आह अनजान शेर अफ़गान !
तुम्हारा सुख - साम्राज्य विशाल—
कौन-सा था वह गुरु-अपराध ?
—नष्ट हो समा गया पाताल !
प्रेम का था कैसा उपहार ?
मृत्यु बन गयी गले की माल !

[१०]

तुम रोई थीं, भाग्य हँसा था, था अद्‌भुत व्यवहार !
आह शेर अफ़गन ! गूँजी थी वह सकरुण चीत्कार

कि जिससे हृदय-रक्त मिलकर
बना नयनों का नीर !
तुम समझी थीं रुक न सकेगी यह सरिता गम्भीर,
किन्तु है निर्बल हृदय अधीर !

आह वह पतिघातक का प्यार !
वासना का उन्माद गँभीर !
कसक का भी होता है अन्त,
क्षणिक है सदा वेदना पीर,
कठिन है कठिन आत्म-बलिदान,
कठिन हैं ये मनसिज के तीर !

[११]

एक परिधि है उद्गारों की, परिमित है परिताप !
मिट जाती है हृदय-पटल से वह स्मृति-छाया आप
कि जिसका पाँच वर्ष तक देवि
किया तुमने सन्मान !
उस अशान्ति की हलचल को करने को अन्तर्ध्यान
किया आकांक्षा का आह्वान !

बनीं उस दिन साम्राज्ञी और
हुआ तुमको तृष्णा का ज्ञान ;
आह ! वह आत्म-समर्पण, हार !
उसी दिन लाप हो गया मान !
उसी दिन तुमने पल में किया
पतन-रूपी मदिरा का पान !

[१२]

"और ! और !" की ध्वनि प्रतिध्वनि है, "और ! और ! कुछ और !"
तृप्ति असम्भव है, चलने दो उन प्यालों के दौर
कि जिनके पीने ही के साथ
धधक उठती है प्यास!

झुक झुक पड़ते हैं पागल से, आह क्षणिक उल्लास—
आत्म-विस्मृति का यह उपहास !

महत्वाकांक्षा ! उफ उन्माद !
हुआ जिसको तेरा आभास,
उठा ऊँचे बन कर उत्साह,
गिरा नीचे बन कर निःश्वास !
पराजय की सीढ़ी है विजय
अरे भ्रम है भ्रम है विश्वास !

[१३]

धरा धसकती थी, असह्य था देवि तुम्हारा भार ;
उन कोमल चरणों के नीचे था समस्त संसार
कि जिनमें चुभते थे तत्काल
फूल भी बन कर शूल !
साम्राज्ञी थीं, किन्तु दैव था क्या तुम पर अनुकूल ?
यही तो थी जीवन की भूल !

शक्ति की स्वामिनि ! भोगविलास
सदा है सुख वैभव का मूल,
किन्तु खुल गयी अचानक आँख
प्रकृति ही है इसके प्रतिकूल ;
आज कल ! आह क्षणिक ऐश्वर्य !
हुए सुख-स्वप्न सभी निर्मूल ।

[१४]

उच्च शिखर था आकांक्षा का, नीचे था अज्ञात !
खेल रहा था वहाँ परिस्थिति का वह झंझावात
कि जिसके चक्कर में पड़कर
विजय बन जाती व्यङ्ग ।
तुम्हें गर्व था उस यौवन पर, था अनुकूल अनङ्ग ;
आह दीपक पर मुग्ध पतङ्ग !

अचानक पल भर में ही देवि,
लोप हो गया सकल रस-रङ्ग;
झुक गया माथ, गिर पड़ा मुकुट
व्यर्थ हो गया भृकुटि सारङ्ग;
गिराया जहाँगीर को किन्तु
गिरीं तुम भी तो उसके सङ्ग!

[१५]

"गिर सकती हो!" क्या इसका भी था तुमको अनुमान!
एक कल्पना की छाया है यह सारा अभिमान
कि जिससे प्रेरित होकर देवि
बनीं तुम निपट निशङ्क।
उठते गिरते ही रहते हैं राजा हो या रङ्क!
अमिट हैं ये विधिना के अङ्क!

अरे दो ही हिचकी की बात—
हृदय में समा गया आतङ्क;
रुक गयी जहाँगीर की श्वास,
झुक गयी मद की चितवन वङ्क;
बना जीवन जीवन का भार,
और जीवन ही बना कलङ्क!

[१६]

जो कि सिहर उठते थे भय से देख चढ़े भ्रूचाप,
उनकी ही आँखों में देखा तुमने वह अभिशाप
कि जिसके व्यङ्ग हृदय में हाय
चुभ गये बन कर तीर!
बदला ही तो था, बदला है देवि सदा बेपीर!
आग में कब होता है नीर!

अरी साम्राज्ञी! वह साम्राज्य
मिट गया बन कर उष्ण समीर,

और उच्छृङ्खल ऊँचा भाल
झुका नीचे बन कर गम्भीर ;
नाश की स्वामिनि! तुम बन गयीं
नाश के लिए नितान्त अधीर!

* * *

[१७]

ऐ रजकण के ढेर तुम्हारा है विचित्र इतिहास!
तुम मनुष्य की उन अभिलाषाओं के हो उपहास
कि जिनका असफलता है अन्त
और आशा जीवन!
बना अजान खण्ड ही यह लो आज तुम्हारा सदन,
कभी उत्थान, कभी है पतन।

वासनाओं का यह संसार
भयानक भ्रम का है बन्धन;
और इच्छाओं का मण्डल
आदि से अन्त रुदन है रुदन,
एक अनियंत्रित हाहाकार
इसीको कहते हैं जीवन!

——

महादेवी वर्मा

जो तुम आ जाते एक बार !

जो तुम आ जाते एक बार !
कितनी करुणा कितने सँदेश
पथ में बिछ जाते बन पराग,
गाता प्राणों का तार तार
अनुराग-भरा उन्माद-राग ;
आँसू लेते वे पद पखार !
हँस उठते पल में आर्द्र नयन
धुल जाता ओठों से विषाद,
छा जाता जीवन में वसन्त
लुट जाता चिर-संचित विराग ;
आँखें देतीं सर्वस्व वार !

संसार

निश्वासों का नीड़, निशा का
बन जाता जब शयनागार,
लुट जाते अभिराम छिन्न
मुक्तावलियों के बन्दनवार,
तब बुझते तारों के नीरव नयनों का यह हाहाकार,
आँसू से लिख लिख जाता है 'कितना अस्थिर है संसार !'
हँस देता जब प्रात, सुनहरे
अञ्चल में बिखरा रोली,
लहरों की बिछलन पर जब
मचलीं पड़तीं किरणें भोली,

तब कलियाँ चुपचाप उठाकर पल्लव के घूँघट सुकुमार,
छलकी पलकों से कहतीं हैं 'कितना मादक है संसार !'
देकर सौरभ दान पवन से
कहते जब मुरझाये फूल,
'जिसके पथ में बिछे वही क्यों
भरता इन आँखों में धूल !'
'अब इनमें क्या सार' मधुर जब गाती भौंरों की गुञ्जार,
मर्मर का रोदन कहता है 'कितना निष्ठुर है संसार !'
स्वर्ण-वर्ण से दिन लिख जाता
जब अपने जीवन की हार,
गोधूली नभ के आँगन में
देती अगणित दीपक वार,
हँसकर तब उस पार तिमिर का कहता बढ़ बढ़ पारावार,
'बीते युग, पर बना हुआ है अब तक मतवाला संसार !'
स्वप्न-लोक के फूलों के कर
अपने जीवन का निर्माण,
'अमर हमारा राज्य' सोचते
हैं जब मेरे पागल प्राण,
आकर जब अज्ञात देश से जाने कैसी मृदु झंकार,
गा जाती है करुण स्वरों में 'कितना पागल है संसार !'

तुम्हें बाँध पाती सपने में !

तुम्हें बाँध पाती सपने में !
तो चिरजीवन-प्यास बुझा
लेती उस छोटे क्षण अपने में ।

पावस-घन-सी उमड़ बिखरती,
शरद-निशा-सी नीरव घिरती,
धो लेती जग का विषाद
ढुलते लघु आँसू-कण अपने में ।

मधुर राग बन विश्व सुलाती,
सौरभ बन कण-कण बस जाती,
भरती मैं संसृति का क्रन्दन
हँस जर्जर जीवन अपने में!

सबकी सीमा बन सागर-सी,
हो असीम आलोक लहर-सी,
तारों मय आकाश छिपा
रखती चंचल तारक अपने में!

शाप मुझे बन जाता वर-सा,
पतझर मधु का मास अजर-सा,
रचतीं कितने स्वर्ग एक
लघु प्राणों के स्पन्दन अपने में!

साँसें कहतीं अमर कहानी,
पल-पल बनता अमिट निशानी,
प्रिय, मैं लेती बाँध मुक्ति
सौ-सौ लघुतम बन्धन अपने में!
तुम्हें बाँध पाती अपने में!

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ!

नींद थी मेरी अचल निस्पन्द कण कण में,
प्रथम जागृति थी जगत के प्रथम स्पन्दन में,
प्रलय में मेरा पता पद-चिह्न जीवन में,
शाप हूँ जो बन गया वरदान बन्धन में,
कूल भी हूँ कूलहीन प्रवाहिनी भी हूँ!

नयन में जिसके जलद वह तृषित चातक हूँ,
शलभ जिसके प्राण में वह निठुर दीपक हूँ,
फूल को उर में छिपाये विकल बुलबुल हूँ,
एक होकर दूर तन से छाँह वह चल हूँ,
दूर तुमसे हूँ अखण्ड सुहागिनी भी हूँ!

आग हूँ जिससे ढुलकते बिन्दु हिमजल के,
शून्य हूँ जिसको बिछे हैं पाँवड़े पल के,
पुलक हूँ वह जो पला है कठिन प्रस्तर में,
हूँ वही प्रतिबिम्ब जो आधार के उर में,
नील घन भी हूँ सुनहली दामिनी भी हूँ!

नाश भी हूँ मैं अनन्त विकास का क्रम भी,
त्याग का दिन भी चरम आशक्ति का तम भी,
तार भी आघात भी झङ्कार की गति भी,
पात्र भी, मधु भी, मधुप भी, मधुर विस्मृति भी;
अधर भी हूँ और स्मित की चाँदनी भी हूँ!

प्रिय चिरन्तन है सजनि

प्रिय चिरन्तन है सजनि
क्षण-क्षण नवीन सुहागिनी मैं!

श्वास में मुझको छिपा कर वह असीम विशाल चिर घन,
शून्य में जब छा गया उसकी सजीली साध-सा बन,
छिप कहाँ उसमें सकी
बुझ बुझ जली चल दामिनी मैं!

छाँह को उसकी सजनि नव आवरण अपना बनाकर,
धूलि में निज अश्रु बोने में पहर सूने बिताकर,
प्रात में हँस छिप गई
ले छलकते दृग यामिनी मैं!

मिलन-मन्दिर में उठा दूँ जो सुमुख से सजल गुंठन,
मैं मिटूँ प्रिय में मिटा ज्यों तप्त सिकता में सलिल-कण,
सजनि मधुर निजत्व दे
कैसे मिलूँ अभिमानिनी मैं।

दीप-सी युग-युग जलूँ पर वह सुभग इतना बता दे,
फूँक से उसकी बुझूँ तब क्षार ही मेरा पता दे!

वह रहे आराध्य चिन्मय
मृण्मयी अनुरागिनी मैं !
सजल सीमित पुतलियों पर चित्र अमिट असीम का वह ,
चाह एक अनन्त बसती प्राण किन्तु ससीम-सा यह ;
रजकणों में खेलती किस
विरज विधु की चाँदनी मैं !

पथ देख बिता दी रैन

पथ देख बिता दी रैन
मैं प्रिय पहचानी नहीं !
तम ने धोया नभ-पंथ
सुवासित हिमचल से ,
सूने आँगन में दीप
जला दिये झिलमिल-से ,
आ प्रात बुझा गया कौन
अपरिचित, जानी नहीं !
मैं प्रिय पहचानी नहीं !
धर कनक-थाल में मेघ
सुनहला पाटल-सा ,
कर बालारुण का कलश
विहग-रव मंगल-सा ,
आया प्रिय पथ से प्रात
सुनाई कहानी नहीं !
मैं प्रिय पहचानी नहीं !
नव इन्द्रधनुष-सा चीर
महावर अंजन ले ;
अलि-गुंजित मीलित पंकज—
—नूपुर रुनझुन ले ;

फिर आई मनाने साँझ
मैं बेसुध मानी नहीं !
मैं प्रिय पहचानी नहीं !

इन श्वासों का इतिहास
आँकते युग बीते ;
रोमों में भर भर पुलक
लौटते पल रीते ;
यह ढुलक रही है याद
नयन से पानी नहीं !
मैं प्रिय पहचानी नहीं !

अलि कुहरा-सा नभ, विश्व
मिटे बुद्बुद्-जल-सा ;
यह दुख का राज्य अनन्त
रहेगा निश्चल-सा ;
हूँ प्रिय की अमर सुहागिनि
पथ की निशानी नहीं !
मैं प्रिय पहचानी नहीं !

मुसकाता संकेत भरा नभ
मुसकाता संकेत भरा नभ
अलि क्या प्रिय आने वाले हैं !
विद्युत् के चल स्वर्णपाश में बँध हँस देता रोता जलधर,
अपने मृदु मानस की ज्वाला गीतों से नहलाता सागर ;
दिन निशि को, देती निशि दिन को
कनक-रजत के मधु-प्याले हैं !
अलि क्या प्रिय आने वाले हैं !
मोती बिखरातीं नूपुर के छिप तारक परियाँ नर्तन कर ;
हिमकण पर आता जाता मलयानिल परिमल से अंजलि भर !
श्रान्त पथिक-से फिर फिर आते

विसमित पल क्षण मतवाले हैं!
अलि क्या प्रिय आने वाले हैं

सघन वेदना के तम में, सुधि जाती सुख सोने के कण भर,
सुरधनु नव रचतीं निश्वासें, स्मित का इन भीगे अधरों पर,
आज आँसुओं के कोषों पर
स्वप्न बने पहरे वाले हैं!
अलि क्या प्रिय आने वाले हैं!

नयन श्रवणमय श्रवण नयनमय आज हो रहे कैसी उलझन!
रोम रोम में होता री सखि एक नया उर का-सा स्पन्दन!
पुलकों से भर फूल बन गये
जितने प्राणों के छाले हैं!
अलि क्या प्रिय आने वाले हैं!

मैं नीरभरी दुख का बदली!

मैं नीरभरी दुख की बदली!
स्पन्दन में चिर निस्पन्दन बसा,
क्रन्दन में आहत विश्व हँसा,
नयनों में दीपक से जलते
पलकों में निर्झरिणी मचली,

मेरा पग पग संगीतभरा,
श्वासों से स्वप्न-पराग झरा,
नभ के नव रँग बुनते दुकूल,
छाया में मलय बयार पली!

मैं क्षितिज-भ्रकुटि पर घिर धूमिल,
चिन्ता का भार बनी अविरल,
रज-कण पर जल-कण हो बरसी
नवजीवन-अंकुर बन निकली!

पंथ को न मलिन करता आना
पद-चिह्न न दे जाता जाना,

सुधि मेरे आगम की जग में
सुख की सिहरन हो अन्त खिली !

विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना इतिहास यही
उमड़ी कल थी मिट आज चली !

रूपसि तेरा घन-केश-पाश !

रूपसि तेरा घन-केश-पाश !
श्यामल-श्यामल कोमल-कोमल,
लहराता सुरभित केश-पाश !

नभगङ्गा की रजत धार में,
धो आई क्या इन्हें रात ?
कम्पित हैं तेरे सजल अंग,
सिहरा-सा तन है सद्यस्नात !
भीगी अलकों के छोरों से
चूतीं बूँदे कर विविध लास !
रूपसि तेरा घन-केश-पाश !

सौरभ-भीना झीना गीला
लिपटा मृदु अंजन-सा दुकूल,
चल अंचल से झर झर झरते
पथ में जुगनू के स्वर्ण-फूल;
दीपक से देता बार बार
तेरा उज्ज्वल चितवन-विलास !
रूपसि तेरा घन-केश-पाश !

उच्छ्वसित वक्ष पर चंचल है
वक-पाँतों का अरविन्द-हार;
तेरी निश्वासें छू भू को
बन बन जाती मलयज बयार;

केकी-रव की नूपुर-ध्वनि सुन
जगती जगती की मूक प्यास ;
रूपसि तेरा घन - केश - पाश !

इन स्निग्ध लटों से छा दे तन
पुलकित अङ्कों में भर विशाल ,
झुक सस्मित शीतल चुम्बन से
अङ्कित कर इसका मृदुल भाल ;
दुलरा देना बहला देना
यह तेरा शिशु जग है उदास !
रूपसि तेरा घन - केश - पाश !

धीरे धीरे उतर क्षितिज से
धीरे धीरे उतर क्षितिज से
आ वसन्त - रजनी !

तारकमय नव वेणी बन्धन ;
शीशफूल कर शशि का नूतन ;
रश्मि-वलय सित घन-अवगुंठन ;
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे
चितवन से अपनी !
पुलकती आ वसन्त-रजनी !

मर्मर की सुमधुर नूपुरध्वनि ;
अलि-गुंजित पद्मों की किंकिणि ;
भर पदगति में अलस तरंगिणि ;
तरल रजत की धार बहा दे
मृदु स्मित से सजनी !
विहँसती आ वसन्त - रजनी !

पुलकित स्वप्नों की रोमावलि ;
कर में हो स्मृतियों की अंजलि ;
मलयानिल का चल दुकूल अलि !
घिर छाया-सी श्याम, विश्व को

आ अभिसार बनी !
सकुचती आ वसन्त - रजनी !

सिहर सिहर उठता सरिता-उर ;
खुल खुल पड़ते सुमन सुधा-भर ;
मचल मचल आते पल फिर फिर ;
सुन प्रिय की पदचाप हो गई
पुलकित यह अवनी !
सिहरती आ वसन्त - रजनी !

लय गीत मदिर, गति ताल अमर

लय गीत मदिर, गति ताल अमर ,
अप्सरि, तेरा नर्तन सुन्दर !

आलोक तिमिर सित असित चीर ,
सागर गर्जन रुनझुन मँजीर ;
उड़ता झंझा में अलक-जाल ,
मेघों में मुखरित किंकिणि स्वर !
अप्सरि, तेरा नर्तन सुन्दर !

रवि-शशि तेरे अवतंस लोल ,
सीमन्त जटित तारक अमोल ;
चपला विभ्रम, स्मित इन्द्रधनुष ,
हिमकण बन झरते स्वेद-निकर !
अप्सरि, तेरा नर्तन सुन्दर !

युग हैं पलकों का उन्मीलन ,
स्पन्दन में अगणित लय जीवन ;
तेरी श्वासों में नाच-नाच ,
उठता बेसुध जग सचराचर !
अप्सरि, तेरा नर्तन सुन्दर !

तेरी प्रतिध्वनि बनती मधुदिन ,
तेरी समीपता पावस-क्षण ,

रूपसि ! छूते ही तुझमें मिट,
जड़ पा लेता वरदान अमर !
अप्सरि, तेरा नर्तन सुन्दर !

जड़ कण कण के प्याले झलमल ;
छलकी जीवनमदिरा छलछल ;
पीती थक झुक झुक झूम झूम ;
तू घूँट घूँट फेनिल सीकर !
अप्सरि, तेरा नर्तन सुन्दर !

बिखराती जाती तू सहास ;
नव तन्मयता उल्लास लास ;
हर अणु कहता उपहार बनूँ
पहले छू लूँ जो मृदुल अधर !
अप्सरि, तेरा नर्तन सुन्दर !

हे सृष्टिप्रलय के आलिंगन !
सीमा - असीम के मूक मिलन !
कहता है तुझको कौन घोर
तू चिर रहस्यमयि, कोमलतर !
अप्सरि, तेरा नर्तन सुन्दर !

तेरे हित जलते दीप-प्राण,
खिलते प्रसून हँसते विहान ;
श्यामांगिनि ! तेरे कौतुक को
बनता जग मिट मिट सुन्दरतर !
प्रिय-प्रेयसि ! तेरा लास अमर !

मधुर मधुर मेरे दीपक जल !

मधुर मधुर मेरे दीपक जल !
युग-युग प्रति दिन प्रतिक्षण प्रतिपल,
प्रियतम का पथ आलोकित कर !

सौरभ फैला विपुल धूप बन,
मृदुल मोम-सा घुल रे मृदु तन;
दे प्रकाश का सिन्धु अपरिमित,
तेरे जीवन का अणु गल गल!
पुलक पुलक मेरे दीपक जल!

सारे शीतल कोमल नूतन,
माँग रहे तुझसे ज्वाला कण,
विश्व शलभ सिर धुन कहता मैं
हाय न जल पाया तुझमें मिल!
सिहर सिहर मेरे दीपक जल!

जलते नभ में देख असंख्यक,
स्नेहहीन नित कितने दीपक,
जलमय सागर का उर जलता,
विद्युत ले घिरता है बादल!
विहँस विहँस मेरे दीपक जल!

द्रुम के अंग हरित कोमलतम,
ज्वाला को करते हृदयंगम,
वसुधा के जड़ अन्तर में भी,
बन्दी है तापों की हलचल!
बिखर बिखर मेरे दीपक जल!

मेरी निश्वासों से द्रुततर,
सुभग न तू बुझने का भय कर;
मैं अंचल की ओट किये हूँ,
अपनी मृदु पलकों से चंचल!
सहज सहज मेरे दीपक जल!

सीमा ही लघुता का बन्धन,
है अनादि तू मत घड़ियाँ गिन;
मैं दृग के अक्षय कोषों से
तुझमें भरती हूँ आँसू-जल!

सजल सजल मेरे दीपक जल !

तम असीम तेरा प्रकाश चिर ;
खेलेंगे नव खेल निरन्तर ;
तम के अणु अणु में विद्युत-सा
अमिट चित्र अंकित करता चल !
सरल सरल मेरे दीपक जल !

तू जल जल जितना होता क्षय ,
वह समीप आता छलनामय ,
मधुर मिलन में मिट जाना तू
उसकी उज्ज्वल स्मित में घुल खिल !
मदिर मदिर मेरे दीपक जल !
प्रियतम का पथ आलोकित कर !

क्या जलने की रीति शलभ समझा दीपक जाना

क्या जलने की रीति शलभ समझा दीपक जाना ।
घेरे है बन्दी दीपक को
ज्वाला की वेला ,
दीन शलभ भी दीप शिखा से
सिर धुन धुन खेला !
इसको क्षण सन्ताप भोर उसको भी बुझ जाना !
इसके झुलसे पंख, धूम की
उसके रेख रही ,
इसमें वह उन्माद न उसमें
ज्वाला शेष रही !
जग उसको चिर-तृप्ति कहे या समझे पछताना !
प्रिय मेरा चिर दीप जिसे छू
जल उठता जीवन ,
दीपक का आलोक शलभ
का भी इसमें क्रन्दन !

युग-युग जल निष्कम्प इसे जलने का वर पाना !

धूम कहाँ विद्युत लहरों से
है निश्वास भरा,
झंझा की कम्पन देती
चिर जागृति का पहरा !

जाना उज्ज्वल प्रात न यह काली निशि पहचाना !

जब यह दीप थके तब आना !

जब यह दीप थके तब आना !

यह चंचल सपने भोले हैं,
दृगजल पर पाले मैंने मृदु
पलकों पर तोले हैं,

दे सौरभ से पंख इन्हें सब नयनों मे पहुँचाना !

साधें करुणा-अङ्क ढली हैं,
सान्ध्य गगन-सी रंगमयी पर
पावस की सजला बदली हैं,

विद्युत के दे चरण इन्हें उर उर की राह बताना !

यह उड़ते क्षण पुलकभरे हैं,
सुधि से सुरभित स्नेहधुले,
ज्वाला के चुम्बन से निखरे हैं,

दे तारों के प्राण इन्हींसे सूने श्वास बसाना !

यह स्पन्दन हैं अङ्क व्यथा के,
चिर उज्ज्वल अक्षर जीवन की
बिखरी विस्मृत क्षार-कथा के,

कण का चल इतिहास इन्हीं से लिख लिख अजर बनाना !

लौ ने वर्ती को जाना है,
वर्ती ने यह स्नेह, स्नेह ने
रज का अञ्चल पहचाना है,

चिर बन्धन में बाँध इन्हें घुलने का वर दे जाना !

यह मन्दिर का दीप इसे नीरव जलने दो

यह मंदिर का दीप इसे नीरव जलने दो !
रजत-शंख-घड़ियाल स्वर्ण-वंशी-वीणा स्वर ,
गये आरती-वेला को शत शत लय से भर ,
जब था कलकंठों का मेला ,
विहँसे उपल तिमिर था खेला ,
अब मन्दिर में इष्ट अकेला ,
इसे अजिर का शून्य जलाने को गलने दो !

चरणों से चिह्नित अलिंद की भूमि सुनहली ,
प्रणत शिरों के अङ्क लिये चन्दन की दहली ,
झरे सुमन बिखरे अक्षत सित ,
धूप अर्घ्य नैवेद्य अपरिमित ,
तम में सब होंगे अन्तर्हित ,
सबकी अर्चित कथा इसी लौ में पलने दो

पल के मन के फेर पुजारी विश्व सो गया ,
प्रतिध्वनि का इतिहास प्रस्तरों बीच खो गया ,
साँसों की समाधि, सा जीवन ,
मसि-सागर - सा पन्थ गया बन ,
रुका मुखर कण कण का स्पन्दन ,
इस ज्वाला में प्राण रूप फिर से ढलने दो !

झंझा है दिग्भ्रान्त रात की मूर्च्छा गहरी ,
आज पुजारी बने, ज्योति का यह लघु प्रहरी ,
जब तक लौटे दिन की हलचल ,
तब तक यह जागेगा प्रतिपल ,
रेखाओं में भर आभा जल ,
दूत साँझ का इसे प्रभाती तक चलने दो !

———

रामकुमार वर्मा

प्रिय ! तुम भूले मैं क्या गाऊँ ?

प्रिय ! तुम भूले मैं क्या गाऊँ !
जिस ध्वनि में तुम बसे उसे,
जग के कण-कण में क्या बिखराऊँ !
प्रिय ! तुम भूले मैं क्या गाऊँ !
शब्दों के अधखुले द्वार से अभिलाषाएँ निकल न पातीं ।
उच्छ्वासों के लघु-लघु पथ पर इच्छाएँ चलकर थक जातीं ॥
हाय, स्वप्न-संकेतों से मैं,
कैसे तुमको पास बुलाऊँ !
प्रिय ! तुम भूले मैं क्या गाऊँ !
जुही-सुरभि की एक लहर से निशा बह गई, डूबे तारे ।
अश्रु-विन्दु में डूब-डूबकर, दृग-तारे ये कभी न हारे ।
दुख की इस जागृति में कैसे,
तुम्हें जगाकर मैं सुख पाऊँ !
प्रिय ! तुम भूले मैं क्या गाऊँ !

यह तुम्हारा हास आया

यह तुम्हारा हास आया ।
इन फटे-से बादलों में कौन-सा मधुमास आया !
यह तुम्हारा हास आया ।
आँख से नीरव व्यथा के
दो बड़े आँसू बहे हैं,
सिसकियों में वेदना के
व्यूह ये कैसे रहे हैं !
एक उज्ज्वल तीर-सा रवि-रश्मि का उल्लास आया ।
यह तुम्हारा हास आया ।

आह, वह कोकिल न जाने
क्यों हृदय को चीर रोई !
एक प्रतिध्वनि-सी हृदय में
क्षीण हो हो हाय, सोई !
किन्तु इससे आज मैं कितने तुम्हारे पास आया !
यह तुम्हारा हास आया ।

एक दीपक-किरण-कण हूँ

एक दीप-किरण-कण हूँ ।
धूम्र जिसके क्रोड़ में है,
उस अनल का हाथ हूँ मैं ।
नव प्रभा लेकर चला हूँ,
पर जलन के साथ हूँ मैं ।
सिद्धि पाकर भी तुम्हारी
साधना का ज्वलित क्षण हूँ ।
एक दीपक-किरण-कण हूँ ।

व्योम के उर में अपार
भरा हुआ है जो अँधेरा—
और जिसने विश्व को
दो बार क्या, सौ बार घेरा ।
उस तिमिर का नाश करने—
के लिए मैं अखिल प्रण हूँ ।
एक दीपक-किरण-कण हूँ ।

शलभ को अमरत्व देकर
प्रेम पर मरना सिखाया ।
सूर्य का सन्देश लेकर
रात्रि के उर में समाया ।
पर तुम्हारा स्नेह खोकर—
भी तुम्हारी ही शरण हूँ ।
एक दीपक-किरण-कण हूँ ।

मौन करुणा

मैं तुम्हारी मौन करुणा का सहारा चाहता हूँ।
जानता हूँ, इस जगत में
फूल की है आयु कितनी,
और यौवन की उभरती,
साँस में है वायु कितनी।
इसलिए आकाश का विस्तार सारा चाहता हूँ।
मैं तुम्हारी मौन करुणा का सहारा चाहता हूँ।
प्रश्न चिह्नों में उठी हैं
भाग्य-सागर की हिलोरें।
आँसुओं से रहित होंगी
क्या नयन की नमित कोरें?
जो तुम्हें कर दे द्रवित वह अश्रु-धारा चाहता हूँ।
मैं तुम्हारी मौन करुणा का सहारा चाहता हूँ।
जोड़कर कण कण कृपण
आकाश ने तारे सजाये।
जो कि उज्ज्वल हैं सही,
पर क्या किसीके काम आये?
प्राण! मैं तो मार्ग-दर्शक एक तारा चाहता हूँ।
मैं तुम्हारी मौन करुणा का सहारा चाहता हूँ।
यह उठा कैसा प्रभंजन!
जुड़ गई जैसे दिशाएँ!
एक तरणी, एक नाविक
और कितनी आपदाएँ!
क्या कहूँ, मँझधार में ही मैं किनारा चाहता हूँ!
मैं तुम्हारी मौन करुणा का सहारा चाहता हूँ!

चट्टान

दृढ़ खड़ी, कड़ी, टेढ़ी, अखंड,
चट्टान अटल, जड़ सी विषण्ण।

भू मंडल में निर्भीक वायु मंडल का शून्यान्तर बिगाड़ ।
झाड़ों के झुंड चपेट भूमि पर बैठी है बनकर पहाड़ ॥
चुपचाप हजारों लाखों मन का पिंड बनी भू खंड फाड़ ।
भूकम्पों की दुर्धर्ष शक्तियाँ उसको क्या पाईं उखाड़ !

ना परिवर्तन - को रोक,
अमर जीवन का लेकर सबल मंत्र ।
चट्टान खड़ी है, आदि सृष्टि
निर्माण देख, भीषण स्वतंत्र ॥

वर्षाओं का आघात बीच में खड़ी हुई निर्भीक भ्रान्त ।
जैसे चामुंडा और प्रहारों में अविरत ये चर ध्वान्त ॥
सब थके, एक चट्टान विश्व की सुदृढ़ शक्ति संपूर्ण नान्त ।
केन्द्रित दिक्कोण चतुर्भुज-सी शासन करती-सी अखिल प्रान्त ॥

यह महाशक्ति सौन्दर्य ! विजय
सौन्दर्य ! अटलता का विधान !
मैं था मुरझाया फूल आज,
बन गया शक्ति का बीज शान ॥

तेरी अटूट कोरों में मेरे उलझ गये हैं नयन कोर ।
तेरी गुरुता पर चढ़कर नभ तक फैले मेरे नयन छोर ॥
तेरी दृढ़ता में आज सुदृढ़ हो गई भावना की हिलोर ।
तेरी अखंडता देख, देखता हूँ मैं उर दृढ़ता विभोर ॥

अब कहाँ पराजय, कहाँ हीनता,
कहाँ क्लैव्य है कहाँ हार !
ओ शिलाखंड ! मैं कठिन भाग्य
की तरह हो गया दुर्निवार ॥

हाँ, एक बात ! क्या तुझमें कोई सिसक रही अभिशप्त
वह कौन अहल्या, ओ नारी ! तू कहाँ रही यों सिक्त-तप्त !
क्या बीतराग की एक किरण खा पाई प्रेम की किरण सप्त !
क्या इस कठोरता की रोकी-सी दृढ़ता में है उर विलुप्त !

किसकी दृढ़ता ! किसका क्रन्दन !
ओ ठहर, विश्व के व्यथित पाप !
तू आज शिला बनकर नारी के
आँसू भी पी गया आप !

प्रातःवेला का भ्रम, मुनि का नियमित क्रम, नारी-तन अनुपम ।
ये तीनों जैसे एक दूसरे के विद्रोही, क्रूर, विषम ॥
यह विधि का गुरु षड्यंत्र और निर्जन-निर्दित एकाकी तम ।
फिर एक अधम का मदन अन्ध, सरला नारी का यौवन-भ्रम ॥

किसका है यह अपराध ! अरे गौतम !
चुप, अपना हृदय थाम ।
यह नारी है वंचिता, दया की पात्री ,
निश्चय ही अकाम ॥

पर टेढ़ा-सा पाषाण रूप में आह ! निकल ही गया शाप ।
यह शिला, वाह ! अपराधों की अच्छी बनकर रह गई माप ॥
अब है कठोरता क्या ! किसका है रुदन ! और किसका विलाप !
यह है विधान, ओ चंड रश्मि ! तू तप, तेरा हो चिर प्रताप ॥

वर्षा ! तू निज आघातों से दे ,
इसी शिला को तोड़ फोड़ ।
हिम ! कुंठित कर, पत्थर के भीतर
कंकालों के जोड़ जोड़ ॥

कोमलता की प्रतिहिंसा ! यह है मेरे सम्मुख शिला खंड ।
निर्बलता अपनी असफलता में, बनी सुदृढ़ अतिशय प्रचंड ॥
उस पर, अब वर्षा के प्रचंड अभिशाप हिमोपल खंड खंड
कन कर गल जाते हैं, अपने ही दंडों से पा रहे दंड ॥

लेकिन यह है चट्टान ,
आज अपने कण कण में रही जाग ।
इसमें न एक भी अंश रुदन है ,
इसमें है परिव्याप्त आग ॥

क्या इसमें है परिव्याप्त आग ? मुझमें भी जागी यही आग ।
मैं दृढ़ हूँ, सागर उठे, देखना, निकल न आये कहीं झाग ॥
मैं हूँ अखंड, कायरता का मुझमें न कहीं भी लगा दाग ।
आकर चाहे मुझको देखे, भूमंडल का प्रत्येक भाग ॥
मैं अपने प्रण की प्रकट शक्ति से ,
चिर वर्षों तक हूँ प्रचंड ।
दृढ़ खड़ी, कड़ी, टेढ़ी, अखंड ,
चट्टान अटल, जड़-सी विषण्ण ॥

साधना-सङ्गीत

आज मेरी गति, तुम्हारी आरती बन जाय !
आरती घूमे कि खिंचता जाय
रंजित क्षितिज - घेरा ,
धूम-सा जलकर भटकता
उड़ चले सारा अँधेरा ।

हो शिखा स्थिर, प्राण के
प्रण की अचल निष्कंप रेखा ,
हृदय में ज्वाला, हँसी में
दीप्ति की हो चित्र-लेखा ।

श्वास ही मेरी, विनय की भारती बन जाय !
आज मेरी गति, तुम्हारी आरती बन जाय !

यह हँसी मन्दिर बने
मुस्कान क्षण हों द्वार मेरे ,
तुम मिलो या मैं मिलूँ
ये मिलन-पूजा-हार मेरे ।

आज बन्धन ही बनेंगे
मुक्ति के अधिकार मेरे ,
क्यों न मुझमें अवतरित
होकर रहो स्वरकार ! मेरे !

प्राण-वंशी प्रेम की ही चिर-व्रती बन जाय!
आज मेरी गति, तुम्हारी आरती बन जाय!

फूल वाली

फूल-सी हो फूल वाली।
किस सुमन की साँस तुमने आज अनजाने चुरा ली!

जब प्रभा की रेख दिनकर ने
गगन के बीच खींची।
तब तुम्हीं ने भर मधुर
मुस्कान कलियाँ सरस सींची,
किन्तु दो दिन के सुमन से
कौन-सी . यह प्रीति पाली!

प्रिय तुम्हारे रूप में
सुख के छिपे संकेत क्यों हैं!
और चितवन में उलझते
प्रश्न सब समवेत क्यों हैं!
मैं करूँ स्वागत तुम्हारा
भूलकर जग की प्रणाली॥

तुम सजीली हो, सजाती हो
सुहासिनि, ये लताएँ,
क्यों न कोकिल कण्ठ
मधु ऋतु में तुम्हारे गीत गाएँ!
जब कि मैंने यह छटा
अपने हृदय के बीच पा ली!
फूल-सी हो फूल वाली।

नूरजहाँ

कहता है भारत तेरे गौरव की एक कहानी,
वैभव भी बलिहार हुआ था तेरे मुख का पानी।

नूरजहाँ ! तेरा सिंहासन था कितना अभिमानी !
तेरी इच्छा ही बनती थी जहाँगीर की रानी !

फूलों के यौवन से सज्जित—
केश-राशि थी खोली,
तन से तो तू युवती थी पर—
मन से कितनी भोली !

एक स्वप्न था कभी आगरे ने विस्मित हो देखा,
मुगलों के भाग्यों में थी बस एक सुनहली रेखा।
उस रेखा से ही सज्जित तेरी मृदु आकृति आई,
जिस पर छवि-विभूति सोई थी यौवन में अलसाई !

सिंहासन के मणियों ने थी—
शोभा वही निहारी,
जिसके लिए सलीम—
शाहजादे से बना भिखारी।

कान्तिमती थी मानो शशि-किरणों पर तू सोती थी,
राजमहल की सरस सीप में तू जीवित मोती थी।
वह मोती का प्यार—चुप रहो ऐ सलीम, मत बोलो !
इस सौन्दर्य-सुधा में मत विषमयी वासना घोलो !

वह मोती का प्यार—सजा है,
जिसमें छवि का पानी !
कैसे रक्षित होगा ? यह—
दुनियाँ तो है दीवानी।

कोमल छवि का मोल ! वासना ही के उपहारों में—
और प्रेम का मोल रत्न के—हीरों के—हारों में—
करता है संसार, यही है उसकी रीति निराली,
अन्धकार से तारों का विक्रय करती निशि काली।

यह न स्थान है जहाँ प्रेम का—
मूल्य लगाया जावे,

नूरजहाँ तेरे मन का
सौदा—सुलझाया जावे ।
जहाँगीर क्या समझ सका था तेरे मन की बातें ,
तेरे साथ उसे भाती थीं बस चाँदी की रातें ।
सारी रात देखते थे तारे तेरे दृग-तारे ,
प्रातः तेरे आँसू बनकर बिखर गये थे सारे ।
इस रहस्य ही में करुणा की
थी अव्यक्त कहानी ,
कितने हृदय-प्रदेशों की थी
एक साथ तू रानी ।

× × ×

उन आँखों में देखी जाती—
थी मदिरा की लाली ,
स्वप्न बनी तू और साथ ही
स्वप्न देखने वाली ।
सदियों के सागर में डूबी तेरी गौरव-गाथा ,
उफ, तेरे चरणों पर था किस-किस प्रेमी का माथा ।
जगत देखता रहा फूल वह तोड़ ले गया माली ,
हाथ बढ़े ही रहे गिर पड़ी यौवन की वह प्याली ।
नूर-रहित हो गया जहाँ ,
तेरे जग से जाने से ,
नूरजहाँ, तू जाग—जाग फिर
मेरे इस गाने से ।

———

उदयशंकर भट्ट

वन्दन गीत बनें—

वन्दन गीत बनें—
प्राण प्राण के स्वर मेरे अभिनन्दन गीत बनें ;
हो उल्लास हमारे स्वर में ,
हो मधुमास हमारे स्वर में ,
घर घर रवि के उषा मिलन का स्पन्दन गीत बनें ;
वन्दन गीत बनें—
आज दिवस के प्राण गा रहे ,
मन में हर्ष नहीं समा रहे ,
प्राणों की मुस्कान, प्रेम के वन्दन गीत बनें ;
वन्दन गीत बनें—
प्राण प्राण के स्वर मेरे अभिनन्दन गीत बनें ।

दीप कहता अँधेरे से

दीप कहता अँधेरे से पाप का अधिवास तू !
सृष्टि का मधुमास मैं, रे प्रलय का निश्वास तू ।
खिल रहा यौवन-निशा का हूँ जवानी मैं ,
भूमि पर तारे उगा कहता कहानी मैं ।
आग से मत खेल मैं अंगार हूँ जग का ,
स्वयं जलकर कर रहा शृंगार हूँ जग का ।
आँख हूँ मैं विश्व की, उल्लास हूँ अपना ,
प्राण का व्यापार हूँ मैं स्वर्ग का सपना ;
हास हूँ मैं सृष्टि का—अपना स्वयं उपहास तू—
दीप कहता अँधेरे से पाप का अधिवास तू !
—लगा कहने तिमिर बैठा दीप के नीचे ,
देख आँखें खोल आगे, देख टुक पीछे ,

घेर चारों ओर से मैं ताकता तुझको,
अन्त तेरा है मुझीमें भय नहीं मुझको;
तू लहर है तिमिर-सागर में उठी औ' खो गई,
तारिका-सी रात में झाँकी, थकी औ' सो गई!
मैं असीम, ससीम जीवन का अरे, लघु श्वास तू!
दीप कहता अँधेरे से पाप का अधिवास तू!

पूछती मँझधार कवि से

—प्राण में अविराम गति का द्वन्द्व भर कर,
और गति में अनवरति का छन्द भर कर,
आ रही हूँ सुबह से बहती हुई मैं,
आप ही अपनी कथा कहती हुई मैं,
रात के दो छोर, पथ के दो किनारे,
बह रहा सब जगत-जीवन इस सहारे;
कौन मेरा तट, कहाँ आधार कितनी दूर!
पूछती मँझधार कवि से पार कितनी दूर!
—कह उठा कवि तट नहीं तेरा कहीं है,
मध्य को किस अन्त ने घेरा कहीं है!
तट हुआ मँझधार का मँझधार क्या फिर!
अन्त हो जिस प्यार का वह प्यार क्या फिर।
मुक्त पारावार मे जाकर मिलेंगे,
लहरियों के प्यार में जाकर खिलेंगे,
आप ही सम्पूर्ण को अधिकार कितनी दूर!
पूछती मँझधार कवि से पार कितनी दूर!

विजयिनि, यह वरदान

"विजयिनि, यह वरदान तुम्हारा आज मुझे अभिशाप बना क्यों!
मंगल गीतों का मृदुतर स्वर गूँज जगत आलाप बना क्यों!
तिमिर-ग्रस्त दुर्भाग्य भीम से
काजल से इस काले काले,

शव से छलक उठा-सा जीवन
जीवन का संताप बना क्यों !

लहरों से खेला करता रवि
लहरों में ही छिप जाता है,
भूधर पर सिर रखकर जाने
कैसे जलन बुझा पाता है !

कलियों के प्राणों में बैठा—
मूक-गीत-स्वर साध रहा है,
क्या सपनों में हँसने वालों
का यौवन आबाद रहा है !

जाने अपनी इन आँखों में मैं अपना ही पाप बना क्यों !
विजयिनि, यह वरदान तुम्हारा आज मुझे अभिशाप बना क्यों !

तुमने चुप चुप मेरे पथ में
बिछा दिये थे नभ के तारे,
किन्तु न जाने कैसे वे सब
लगे मुझे जलते अंगारे !

ऊब चुका हूँ मैं जीवन से
मरण माँगने को अति आतुर,
मेरे रोम रोम के चिंतन
लगा न मुझको सके किनारे;

प्राण बना उपहास, न जाने व्यंग्य गीत आलाप बना क्यों !
रंगिनि, यह वरदान तुम्हारा आज मुझे अभिशाप बना क्यों !

रूपसि, यह सौन्दर्य तुम्हारा
कब तक मुझको मान रहेगा !
कब तक पायल के गीतों में
डूबा मेरा गान रहेगा !
कब तक सुधा भरी आँखों में
बिजली का संहार रहेगा !

कौन अवधि तक हृदय किसीका
जलता-सा अंगार रहेगा ?
लघु, सीमत मेरे जीवन में प्रिय का रूप अमान बना क्यों ?
विजयिनि, यह वरदान तुम्हारा आज मुझे अभिशाप बना क्यों ?

रात की गोद में

१

सुनसान रात, गुपचुप तारे, एकान्त चन्द्र, नभ मूक आप !
सागर लहरों को सुला गोद, मुख चूम उमंगें रहा माप !
सब मूक नगर, पथ, गली, द्वार,
नर मूक सो रहे—पग पसार,
आँखों में भर कर साध, पुण्य,
आँखों में भर कर अघ जघन्य,
उर में जीवन की आशाएँ,
आशाओं की मृदु भाषाएँ,
कुछ शाप और
अपलाप लिये,
वरदान और
अपमान लिये,
अरमान कहीं, अवसान कहीं,
कोने में स्मृतियाँ कहीं मूक,
चंचल आकृतियाँ कहीं मूक,
कुत्ते भी चुप, कौए भी चुप,
तस्कर रखते पग दबा चाप—
सुनसान रात, गुपचुप तारे, एकान्त चन्द्र, नभ मूक आप !

२

मानिनी कहीं है रही जाग,
झूठे आँसू, झूठाऽनुराग,

पर उमड़ रहा है प्रेम हृदय,
आँसू से करती है अभिनय,
दीपक से चितवन वक्र मिला,
प्रिय का विह्वल मन रहीं हिला,
बेचैन विनय
बेचैन हृदय,
बेचैन प्रान,
बेचैन मान,
दम्पति के हैं तूफान मूक
दम्पति के हैं अरमान मूक,
दीपक जल जल
धोता उर - मल,
दोनों अपनापन भूल गये
दोनों अपना मन भूल गये;
दीपक की लौ से मूक मधुर—
दोनों की धड़कन रही काँप।
सुनसान रात, गुपचुप तारे, एकान्त चन्द्र, नभ मूक आप।

३

दिल-जले समेटे हुए राख,
मनचले बटोरे हुए खाक,
कुछ पत्थर-से दिल निर्विकार,
कुछ पानी-से पिघले अपार,
केवल सपनों में प्यार मिला,
जीवन में जिनको भार मिला;
वे विरह और
वे मिलन लिये,
वे चाह और
वे डाह लिये,

उन्माद कहीं, अवसाद कहीं,
जीवन में जो कुछ कर न सके,
अपने घावों को भर न सके,
दिन से पाकर वे घृणा, व्यंग्य,
निशि में करते चुपचुप विलाप।
सुनसान रात, गुपचुप तारे, एकान्त चन्द्र, नभ मूक आप।

४

शैशव की कहीं कहानी चुप,
उठती-सी कहीं जवानी चुप,
थी आँखों की नादानी चुप,
अल्हड़ मस्ती का पानी चुप,
उठता-उठता-सा रह जाता,
चुपके-चुपके सब बह जाता,
उद्‌गार और
अभिसार और,
अपनी ऐंठन का
प्यार और,
अवशेष मधुर, उठ चले सिहर,
सब अपना नव-पथ भूल गये,
आँखों में लेकर शूल नये,
वे भी करवट ले नचा रहे,
आँखों में अपने नये ताप।
सुनसान रात, गुपचुप तारे, एकान्त चन्द्र, नभ मूक आप।

५

कुछ स्वामी की झिड़कन लेकर,
बेचैनी ऊबा मन लेकर,
तन भूख, भर्त्सना-घन लेकर,
जर्जर तन-मन
जर्जर जीवन,

विगलित आहें,
छूँछी चाहें,
प्राणों में हाहाकार भरे,
आँखों का जल उपहार भरे,
सो रहे सहेजे हुए हृदय,
दुनियाँ के अपने सभी पाप—
सुनसान रात, गुपचुप तारे, एकान्त चन्द्र, नभ मूक आप।

६

कुछ सोते दुख की लिये साँस
कुछ सोते कल की लिये आस,
क्या जाने कल भी जिन्हें सत्य,
लेने दे जीवन का न पथ्य!
रे, अलग अलग
मानव का जग,
सब चुप ही चुप
अंधेरा घुप,
केवल मेरा कवि रहा जाग,
ले हृदय-आग वाणी-विहाग,
उस महा नींद का ताल प्रखर,
हर रात गूँजता रह रह कर,
पीता है निशि के खप्पर में,
जग की साँसों को नाप नाप।
सुनसान रात, गुपचुप तारे, एकान्त चन्द्र, नभ मूक आप।
गिरते अचूक हैं बम्ब कहीं,
नर छिन्न भिन्न अवलम्ब कहीं,
आँखों में कटती दुखद रात,
भय-विगलित जीवन-पारिजात,
इस ओर मृत्यु
उस-ओर मृत्यु,

झकझोर रही
सब ओर मृत्यु
कुछ चौंक रहे कह वज्र गिरा,
मर रहे अँधेरे से टकरा,
निज साँस तोड़, सब आस छोड़,
नैराश्य निशा से नाश जोड़,
सो रहे समुज्ज्वल जीवन पर,
यम-छाया का कंकाल ढाँप।
सुनसान रात, गुपचुप तारे, एकान्त चन्द्र, नभ मूक आप।

नव जीवन, नव प्राण चाहिये?

रक्त-लिप्त, विष-दग्ध, धरा को नव जीवन, नव प्राण चाहिये;
कुंठित गति, लुंठित संस्कृति को अपना पथ निर्माण चाहिये।
युद्ध युद्ध की हृदय विदारक ध्वनि से व्याकुल विश्व प्राण है;
दुर्बल काँप रहे हैं भय से बली सज रहे संविधान हैं;
डग मग डग मग भूधर डोले अम्बर प्रलय मेघ छाये हैं;
नियति प्रकम्पित दिग् दिगन्त जड महानाश दल बल आये हैं;
साढ़े तीन हाथ के नर में भरी उदधि निःसीम पिपासा;
हिम-शृंगों-सी उच्च उमंगें पोर पोर छाई अभिलाषा;
खूनी खप्पर, सत्य; स्वर्ग-सुख—बोलो कैसा ज्ञान चाहिये?
रक्त-लिप्त, विष-दग्ध, तुम्हें क्या नव जीवन, नव प्राण चाहिए?
इस राक्षसी हिंसा जागी महा काल जागे जल थल में;
नाश नाश औ' महानाश के सुन पड़ते गर्जन पल पल में;
स्वयं गरल औ' अमृत बाँटनेवाला हमने आज खो दिया;
सत्य धर्म का, दया कर्म का प्रेम, मूर्ति सिर-ताज खो दिया;
जिसकी कम्पित पर निर्भय पग ध्वनि सुन मरण अचेत हो गया;
जिस दधीचि की वज्र-अस्थि से सोता विश्व सचेत हो गया;
उसके अनुगामी को हे नर, बस उसकी मुस्कान चाहिये;
रक्त-लिप्त, विष दग्ध, धरा को नव जीवन, नव प्राण चाहिये!

जीवन बिखर रहा पल पल में, प्राण प्राण में, रोम रोम में ;
जीवन निखर रहा पृथ्वी पर, जल में, थल में, व्योम व्योम में ;
उसे प्राण दो, उसे त्राण दो, रक्त पिपासा युद्ध विकृति है ;
इसे मान दो, शुद्ध ज्ञान दो जीवन ही निःशेष प्रकृति है ;
जीने को यह लोक बना है, मरने को परलोक बना है ;
तिमिर-हरण के लिए धरा पर रवि-शशि का आलोक बना है ;

कलुषित है इतिहास तुम्हारा, कितना और प्रमाण चाहिये ;
रक्त-लिप्त, विष-दग्ध, धरा को नव जीवन, नव प्राण चाहिये !

मैं चलता मेरे साथ नया जीवन चलता है

मैं चलता मेरे साथ नया जीवन चलता है,
मैं चलता मेरे साथ नित्य ही दिन चलता है।

मैं श्वास छोड़ता चलता नव आशा स्वप्न सँजोकर,
विश्वास जोड़ता चलता जीवन में हास भिगोकर,
प्रत्येक चरण की गति में मेरा अस्तित्व सिमटता,
प्रत्येक चरण चलता है सुख दुख में प्राण पिरोकर।

मैं चलता मेरे साथ साथ मधुवन चलता है,
मैं चलता मेरे साथ नया जीवन चलता है।

मैं चलता मुझसे आगे दो कदम कीर्ति चलती है,
मैं चलता मेरे पीछे अपकीर्ति मुझे मिलती है,
प्रत्येक चरण पर निन्दा-स्तुति दायें बायें आती,
प्रत्येक चरण पर मेरी साधना बिखरती जाती।

मैं चलता मेरे साथ कल्पना-धन चलता है,
मैं चलता मेरे साथ नया जीवन चलता है।

दिन-रात मुझे खाते हैं मैं उनको खाकर बढ़ता,
भय, स्नेह उपेक्षा पीकर विश्वास शिखर पर चढ़ता,
नव परिचय ज्ञान नया ले मैं चलता आगे आगे,
पीछे को खींचा करते नैराश्य बीच उठ जागे,

मैं चलता मेरे साथ प्रभंजन-स्वन चलता है,
मैं चलता मेरे साथ नया जीवन चलता है।

मैं मेघों की डोरी पर चढ़कर नभ में जाता हूँ,
मैं बिजली के हासों से उल्लास खोज लाता हूँ,
मैं बूँदों के नर्तन में जीवन की रिमझिम पाता,
मैं पूर पयोनद का मद गट-गट करके पी जाता,
मैं चलता मेरे साथ नया सावन चलता है,
मैं चलता मेरे साथ नया जीवन चलता है।
उत्थान पतन-कंदुक पर मैं गिरता और उछलता,
साँसों की दीप शिखा में 'लौ'-सा यह जीवन जलता,
धूमायित अगुरु सुरभि-सा मैं छीज रहा हूँ पल पल,
मेरी वाणी के स्वर में सागर भरता निज सम्बल,
मैं चलता मेरे साथ 'अहं' गर्जन चलता है,
मैं चलता मेरे साथ नया जीवन चलता है।
मैं चलता रवि-शशि चलते किरणों के पंख सजाकर,
भू चलती सतत प्रगति-पथ नदियों के हार बनाकर,
झरने झर झर झर चलते भर भर बहतीं सरितायें,
दिन रात चला करते हैं चलते तरुवर, लतिकायें,
मैं चलता मेरे साथ प्रकृति कानन चलता है,
मैं चलता मेरे साथ नया जीवन चलता है।
मैं चलता भीतर भीतर दिल की दुनियाँ चलती है,
कल्पना किरण आभायें अन्तर अन्तर पलती हैं,
उसके भीतर भी जीवन का ज्वार उठा करता है,
उस जीवन में जोवन का अधिकार उठा करता है,
उस अविक्षेप का इंगित बन बन्धन चलता है,
मैं चलता मेरे साथ नया जीवन चलता है।
मैं चलता मेरे साथ साथ साहस चलता है,
मैं चलता मेरे साथ हृदय का रस चलता है,
मैं चलता मेरे साथ निराशा, आशा चलती,
मैं चलता मेरे साथ सृजन की भाषा चलती,

मैं चलता मेरे साथ ग्रहण, सर्जन चलता है,
मैं चलता मेरे साथ नया जीवन चलता है।
मैं चलता मेरे साथ जाति, संस्कृति चलती है,
मैं चलता मेरे साथ संचिता स्मृति चलती है,
मैं चलता मेरे साथ कुसुम का स्मय चलता है,
मैं चलता मेरे साथ विश्व-विस्मय चलता है,
मैं चलता मेरे साथ गगन वाहन चलता है,
मैं चलता मेरे साथ नया जीवन चलता है।

—

हरिकृष्ण प्रेमी

आँखों में

किसके अंतस्तल में भर दूँ
अपनी आँखों का सन्देश !
किसने इस जग में देखा है
मेरे प्रियतम का शुभ देश !

इन पापिन आँखों ने तुमको
यदि न कभी देखा होता ।
तो, मेरी फूटी किस्मत में
कुछ सुख का लेखा होता ।

अंतरिक्ष से, जल थल से, क्यों
सारा प्रेम समेट समेट,
इस प्रेमी ने मुझ अभिमानी
प्रियतम को कर डाला भेंट ।

आँखों में मैं दीप छिपाकर,
तुम्हें खोजने जाता हूँ ।
कहीं फूँककर बुझा न दो तुम,
मन-ही-मन भय खाता हूँ ।

पत्थर के टुकड़े में भी तो
मिलता प्रियतम का आभास !
उठा हृदय पर रख लेता हूँ,
करता रहे जगत उपहास !

आज पूछती प्रियतम की स्मृति—
"किसका, किसपर, क्या अधिकार !"
हाय, हृदय भोला-सा मेरा,
पाये वाणी कहाँ उधार !

मत पूछो मुझसे कोई—क्या
प्रियतम पर मेरा अधिकार !
जाकर सुनो पूर्णिमा के दिन—
सागर के चञ्चल उद्‌गार !

तुमसे मिलन-कल्पना ने ही
मेरी नस नस को कीला !
आँखों में आँसू झर-झर कर
रखते घावों को गीला !

आँखों में है आँख मिचौनी,
पीड़ा की—सुख की मोली !
कोई छिपे-छिपे भर देता
दुख से प्रेमी की झोली !

आँखों में प्यारे दर्शन हैं,
अंकित है पहली तस्वीर।
भले मिटाओ, पर न मिटेगी
यह पत्थर की अमिट लकीर !

पर यह व्यर्थ सांत्वना मन की,
आँखों में है, तो क्या है !
हाँ, प्रत्यक्ष तुम्हें पाऊँ, तो
समझूँ तुमको पाया है !

अच्छा है उनकी निष्ठुरता,
अमर रहे मेरी पीड़ा !
करते रहें अधूरे आँसू
आँखों में असफल क्रीड़ा !

अनंत के पथ पर

निशि संध्या-पट के पीछे
सुलझाती अलकें काली।
उनको फैलाती आती
बुनती-सी तम की जाली !

अलकों के कुसुमों से ही
खिलते हैं नभ के तारे।
क्या चमक उठे जीवन के
गत सपने सारे प्यारे !

स्वर्गंगा की धारा में
स्मृति के दीपक हैं बहते,
किस मधुर लोक की गाथा
मेरे मानस से कहते !

इस रत्न-जटित अंबर को
किसने वसुधा पर छाया !
करुणा की किरणें चमका,
क्यों अपना रूप छिपाया !

यह हृदय न जाने किसकी
सुधि में बेसुध हो जाता !
छिप-छिप कर कौन हृदय की
वीणा के तार बजाता !

क्या जाने नीरव नभ से
किसका आमंत्रण आता !
उर लक्ष्यहीन पक्षी-सा
किस ओर उड़ा-सा जाता !

इस महाशून्य में किसका
मैं अनुभव कर मुसकाती !
मैं अपने ही कलरव को
क्यों नहीं समझने पाती !

नभ के पर्दे के पीछे
करता है कौन इशारे !
सहसा किसने जीवन के
खोले हैं बंधन सारे !

रुक सकी न इस कुटिया में ,
रह सकी न मैं मन मारे ।
हो अब प्रवाह ही जीवन ,
छूटे सब कूल-किनारे ।

जग के सुख-दुख से मेरा
अब टूट चुका है नाता ,
पर, समझ नहीं पाई हूँ !
है मुझको कौन बुलाता !

बन्धन-मुक्त

खोलती हूँ पिंजरे का द्वार !
उड़ो, अम्बर में विहग कुमार !!

गहन तम का यह काला कोट
सुनहरी किरणों की खा चोट ,
भूमि पर अभी जायगा लोट ,
तुम्हें होगा तुम पर अधिकार !
खोलती हूँ पिंजरे का द्वार !!

अश्रु निर्झरिणी में कर स्नान ,
तुम्हारा विहंगी धरती ध्यान !
स्वजन-गण गाते स्वागत-गान !
मिलो जाकर उनसे सुकुमार !
खोलती हूँ पिंजरे का द्वार !!

बन्द कर प्राणों का संगीत ,
भुलाकर मादक मधुर अतीत ,
मौन से, सूनेपन से प्रीति ,
पालकर रहते क्यों मन मार ?
खोलती हूँ पिंजरे का द्वार !!

कुसुम-दल के गालों को चूम ,
प्यार की प्याली पी-पी झूम ,
गगन, वन, कुंज-कुंज में घूम ,

करो जग में स्वच्छन्द विहार।
खोलती हूँ पिंजरे का द्वार'॥
तुम्हारा चन्द्र, सूर्य आकाश
तुम्हारी सन्ध्या, उषा, प्रकाश,
निशा, दिन, उपवन, वन, मधुमास,
करो शासन, ऐ राजकुमार!
खोलती हूँ पिंजरे का द्वार॥

पंखी की पीड़ा

१

पंखी एक पड़ा था पथ पर जिसमें बाकी कुछ जीवन था।
कवि ने उठा लिया, दुलराया, उसकी आँखों में सावन था
सहसा पलकें खोलीं पंखी ने पंखों में गति-सी आई।
कवि मुसकाया, उसकी आँखों में सन्तोष दिया दिखलाई।

नीरव नयनों ने पंखी के
कहा कि 'तुम कैसे मानव हो?
मुझे प्यार करने में अपना
समझ रहे तुम क्यों गौरव हो?'

२

"गीतों के निर्झर कोमल कवि, मेरे पास भला क्यों आए?
मुझको भी गाना आता है पर मैंने वे गीत भुलाए।
भुला दिया दुनियाँ ने मुझको, मैंने उसकी भूल भुलाई।
मुझे पुनः जीवित कर तुमने फिर से मेरी मौत बुलाई।

दिल दुखता है, कवि मत पूछो,
मुझसे जीवन का अफसाना।
अगर सुनोगे तो भय मुझको
भूलोगे तुम अपना गाना।

३

"तुम व्याकुल हो, मुझे विमुघ-सा पथ पर पड़ा देख एकाकी।
पूछ रहे हो, 'नहीं रहा क्या, आज तुम्हारा घर भी बाकी।'
मेरी वाणी सूख गई है, मेरे अश्रु जल चुके सारे।
कवि, न तुम्हारी तरह देखता आसमान के तारे।

मुझसे अब अपनी साँसों का
बोझा उठता नहीं उठाए।
अब वह यौवन कहाँ कि शशि का
चुम्बन लेने मन ललचाए।

४

"मैंने कभी नहीं गाये हैं इस दुनियाँ में गम के गाने।
साँझ-सबेरे छेड़ा करता था सुख से लबरेज तराने।
मैं सन्तोषी भोला पंखी चुग लेता था पथ के दाने।
सरिता का जल पी लेता था, मुझे चाहिए थे न खजाने।

जग ने ऊँचे महल बनाये,
पर मैंने कुछ बुरा न माना।
फिर उसको क्यों अखरा मेरा
किसी डाल पर नीड़ बनाना!

५

"'मैं औ' मेरी विहगी रानी, एक-एक तिनका ला-लाकर,
सुखद बसेरा बना सके थे कितने ही दिन-रात लगाकर।
पर मनुष्य को बुरा लगा यह, क्यों उपवन में नीड़ बनाया।
एक सनक आई क्षण भर में उसने मेरा महल गिराया।

तोप नहीं थी पास हमारे
हमने सब चुप-चाप सह लिया।
दोनों ने आँखों आँखों में
कहना था, चुपचाप कह लिया।

"क्या मानव, क्या विहग जगत् पर है अधिकार समान सभीका।
जिसमें प्यारे फूल सजाए प्रभु ने वह उद्यान सभीका।
हमें नहीं भाया उपवन का वास छोड़ कर वन को जाना।
वैसे तो वन के वासी हैं, पर मानव का हुक्म न माना।

अखिल विश्व अधिवास हमारा,
जहाँ करे जी नीड़ बनावें,
क्यों मानव के वन्दी बनकर,
बैठें, उठें, हँसें, या गावें।

"हमने पुनः परिश्रम करके वहीं दुबारा नीड़ बनाया।
जब मानव आया तब उसका ध्यान खींचने गाना गाया।
वह था शक्तिवान् उसको भी अपना यह अपमान न भाया।
कोट पड़ा आँखें तरेर कर, फिर पिस्तौल उठाकर लाया।

मैं दाने लेने निकला था,
विहगी रही अकेली भोली।
उसकी नन्हीं जान भुन गई,
लगते ही मानव की गोली।

८

"पंख थक गये अब मेरे भी, जीवन में अब जान नहीं है।
जिसमें साँसें उलझ रही थीं, मेरा वह सामान नहीं है।
वक्त बदलते दुनिया बदली, स्वजनों में सम्मान नहीं है।
अब मुझसे कहते हैं, 'पागल' तुमसे तो पहचान नहीं है।

सूने पथ पर पड़ा हुआ था,
घर का नाम-निशान नहीं है।
मैं एकाकी मेरा जग में,
आज किसीको ध्यान नहीं है।

९

कभी सोचता था मैं मन में गीतों का आकाश बना लूँ।
मैं उत्साह-सुरा को पीकर पतझड़ को मधुमास बना लूँ।

मेरे पंख तड़फते रहते जीवन को उच्छ्‌वास बना लूँ।
सदा हृदय चाहा करता था शशि को अपने पास बना लूँ।

वे सपने सब स्वप्न हो गये,
कैसे अपनी साँस सँभालूँ।
जहाँ न जाय किरण आशा की
क्यों न वहीं अधिवास बना लूँ।"

१०

कवि ने कहा कि "सच है दुनिया जलती हिंसा की ज्वाला में।
भेद नहीं है आज सर्प में और गले की वरमाला में।
आज स्वजन ही गला काटते, किससे बचकर चलें यहाँ पर।
सभी जगह तलवार तन रही बच कर जावें कहो कहाँ पर।

नित्य नये शस्त्रास्त्र बन रहे,
है भयभीत सभ्यता सारी।
पंखी, केवल तुम पर ही क्या,
आज विश्व पर विपदा भारी।

११

"जब से स्वार्थ घुसा प्राणों में हिंसा नस-नस में है छाई।
भाई के लोहू का प्यासा आज दिखाई देता भाई।
पंखी नीड़ तुम्हारा ही क्या, सभी गरीबों के घर लुटते।
आज मानवों को खाने को दो दाने भी सहज न जुटते।

पर यह सब कृत्रिम उबाल है,
इसका दौरा चल न सकेगा।
हिम्मत मत हारो यह जग फिर,
प्रेम-पन्थ की ओर मुड़ेगा।"

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

उत्तर

१

खोल न पाऊँ यदि मैं अपने अन्तर्पट को
सच कहता हूँ, मेरे गान विफल हो जायें।
यदि मैं पर्वतीय पुष्करिणी
के इन्दीवर को लख पाऊँ,
कब तक उसकी नूतन छवि को
अपने प्राणों में रख पाऊँ!
पर छवि का अस्तित्व क्षणिक है!
यदि वह स्थायी भी हो जाये;
तो फिर नील गगन के चन्दा
के प्रति मेरे इस जीवन के—
विश्वासों के—कल हासों के—
सच कहता हूँ, सब प्रतिदान विफल हो जायें!
खोल न पाऊँ यदि मैं अपने अन्तर्पट को
सच कहता हूँ, मेरे गान विफल हो जायें!

२

यदि मैं पथ के चपल दृगों की
कोरों से आहत हो जाऊँ।
यदि मैं सुषमा के दुकूल की
इक उठान पर ही ठग जाऊँ।
पा भी जाऊँ कमल नयन की
मुसकानों की, नवल मधुरिमा,
तो फिर मेरे मनोदेवता
की रचना में, युग-युग-व्यापी
संघर्षों के—निःश्वासों के—
सच कहता हूँ सब अभिमान विफल हो जायें!

खोल न पाऊँ यदि मैं अपने अन्तर्पट को
सच कहता हूँ, मेरे गान विफल हो जायें !

३

इस जग की बहती गङ्गा में
यदि मैं भी अपने कर धो लूँ ।
आँख मूँदकर मैं भी पथ से
थोड़ा-सा ही विचलित हो लूँ ।
पा भी जाऊँ मनोराज्य की
सारी वसुधा सकल सम्पदा
तो फिर मेरे जनम-मरण के
देह-प्राण के साथी के प्रति
स्वेद-रक्त के—हास अश्रु के
सच कहता हूँ, सारे दान विफल हो जायें ।
खोल न पाऊँ यदि मैं अपने अन्तर्पट को
सच कहता हूँ, मेरे गान विफल हो जायें !

४

गदराई अमराई से यदि
मैं रसना पर सान चढ़ा दूँ ।
यदि मुकुलों पर मैं वसन्त की
लहरों के तूफान चढ़ा दूँ ।
पा भी जाऊँ देवराज की
सकल कल्पना और सफलता ,
तो अपनी जीवन-राधा की
उपासना में, आहुतियों के
युग युग व्याकुल—मृत्यु-विचुंबित
सच कहता हूँ, मेरे प्रान विफल हो जायें !
खोल न पाऊँ यदि मैं अपने अन्तर्पट को ।
सच कहता हूँ, मेरे गान विफल हो जायें !

———

जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द'

आषाढ़स्य प्रथम दिवसे

कितने युग बीते, सरस सृजन
था किया इसी दिन के बादल के प्रथमागम का।
कालिदास की कला-कल्पना ने कोमल,
जो दूत बना था यक्ष-प्रिया के हेतु
विरह-व्याकुल प्रियतम का।
सुन्दर था विरही यक्ष,
विरहिणी सुन्दर दूरस्थिता प्रिया
और कल्पना सुन्दर थी वह
उस महान् कवि की, जिसने था
दूत बनाया इस दिन के उस प्रथम मेघ को।
है वही दिवस, यह वही दिवस,
आषाढ़-प्रतिपदा सदा स्मरण के योग्य।

× × ×

पर आज व्योम में नहीं एक भी रेखा,
जो मेघ कही जा सके किसी भाषा में।
कवि देख रहा अपने आँगन से ऊपर—
विस्तृत, मरु-सा सूना आकाश चतुर्दिक!
कैसी आई प्रतिपदा आज आषाढ़ी,
अगणित सूखी आँखें जिसने तरसाईं!
कवि की परिचित मानवता आज विरहिणी,
कल्पनाशून्य-सा आज मनुज का मानस,
उर में न इन्द्रधनु आज सरस भावों का,
ऊपर सूखा ही मेघशून्य अम्बर है!
यह प्रथम दिवस आषाढ़ मास का कैसा,

जिसमें न मेघ का चिह्न व्योम में कोई !
कैसे कोई कवि करे सृजन उस सुन्दर
शृंगार-काव्य का आज, जिसे लिख जग में
हो गये अमर कवि कालिदास रससृष्टा ,
जिनके युग में थीं नहीं समस्याएँ ये !
अब तो वह मानव क्षुधित, नग्न, अनिकेतन ,
जिसके मानस का सृजन यक्ष बन सकता ,
जो प्रथम मेघ में दूत-कल्पना करके
विरही का भिजवाता संदेश प्रिया को !
शोषण के फौलादी हाथों ने कुचला ;
अब मनुज नहीं वह मनुज कि जो कर सकता
रससृष्टि पुरातन, मेघदूत की रचना ।
है नहीं मेघ भी आज शून्य अम्बर में ,
था जिसे देख उच्छ्वास हृदय से उठता ।
उच्छ्वास-भावना के रस से पूरित वह ,
जो अजर, अमर शृंगार-काव्य बन जाता ,
कल्पना-स्वर्ग-रचना करता जीवन में ।

× × ×

आता भी यदि वह प्रथम मेघ इस नभ में ,
कवि आज न उससे दूत-कार्य करवाता ।
प्राणों में भर सम्पूर्ण याचना करता—
हे प्रथम मेघ, गंभीर बनो, रुक जाओ ,
बरसो, मेघावलि और गगन में लाओ ,
जो छा जावे अम्बर पर ,
जो बरस पड़े धरणी पर ।
तुम दूत नहीं, तुम स्वयं आज प्रियतम हो ,
प्रियतम हो भूखी, नङ्गी मानवता के !
देखो तो, कवि के आसपास मानवता

वंचित, शोषित, अपमानित, त्रस्त, व्यथित है।
इसने कितने कष्टों का ज्येष्ठ बिताया।
आषाढ़ मास के प्रथम दिवस के बादल,
थी इसे तुम्हारी आशा, आओ, आओ।
तुम इस सूखी, सूनी, तपती धरती पर
हरियाली का ऐसा सुख-स्वर्ग बसाओ,
प्रत्यक्ष सत्य बनकर जो सम्मुख आवे,
यह दिगम्बरा, अनिकेत, क्षुधित मानवता
जिससे पा जावे अन्न, वस्त्र का वैभव।
विरहिणी मनुजता, विरह तुम्हारा इसको
दे चुका ताप कितना, अब तो तुम ठहरो,
उत्सर्ग करो, बरसो, इस पर बलि जाओ।
अपना अस्तित्व मिटाओ, यहीं मिटाओ।
मत दूत बनो तुम, दूर न अब तुम जाओ।

× × ×

कल्पनालोक का यक्ष, प्रिया भी उसकी
कल्पनालोक की विरह व्यथा से पीड़ित।
तुम यक्ष-दूत बन सार्थक हो न सकोगे,
अवकाश-विभव का वह युग आज कहाँ है!
यक्षों का युग हो गया तिरोहित कब का,
है आज ठोस धरती का, वास्तव का युग,
पृथ्वीपुत्रों का, मनुजों का नूतन युग।
मानवता शोषण, भूख, विषमता, रण से
जितनी पीड़ित है इस युग में, हे बादल,
आषाढ़ मास के प्रथम दिवस के बादल,
उतना पीड़ित वह विरही यक्ष न होगा,
उतनी व्यथिता होगी न प्रिया भी उसकी।
संकुचित व्यथा से व्यथित जनों के हित तुम

मत दूत बनो, निस्सीम व्यथा को देखो।
अनुभूति सत्य की, भू की, मानवता की
अपने अन्तर में जाग्रत करके देखो।
वेदना गहनतर अब इनकी पाओगे!
होगा यदि तुममें हृदय, बरस जाओगे।

× × ×

अपने युग की ले व्यथा, वेदना गहरी,
इस युग का कवि भी शून्य, खिन्न आँखों से
पथ देख रहा है नूतन मेघ तुम्हारा,
हे कालिदास के भावकाव्य के बादल!
है शून्य अभी तक गगन, तप्त धरणी है,
सूखी धरणी पर शोषित, व्यथित मनुजता।
इसकी कितनी गम्भीर समस्याएँ हैं,
गंभीर वेदना, है अनुभूति गहनतर!
तुम पर इसकी है अन्न, वस्त्र की आशा!
आओ आषाढ़ी बादल, आओ, आओ,
इस जटिल, गहन युग में गहरे बन आओ।
केवल दर्शक की भाँति न ऊपर-ऊपर
कल्पनादूत-से तुम क्षण में उड़ जाओ।
नवयुग के कवि का गहन, करुण आवाहन,
प्राणों के आकुल छन्दों का आवाहन,
सुनकर आओ, गम्भीर सजल बन आओ।
आकर ठहरो, बहु मेघावलियाँ लाओ।
बरसो, जमकर बरसो, बरसो तुम इतने,
हो शस्य-श्यामला सूखी, सूनी धरती।
प्राचीन यक्ष के संदेशों के वाहक,
बनकर प्रियतम इस युग की मानवता के
आओ, निदाघ-तप्ता धरणी पर आओ।

× × ×

अभिमान न करना, एक अंश यह होगा ,
हैं अमित मनुजता के पथ पर बाधाएँ।
कवि को होगा उत्साह-गीत वह गाना ,
जिससे समृद्धि वह जो तुम इसको दोगे ,
शोषक-वर्गों के बचा दुष्ट हाथों से
रख पावें अपने पास पुत्र पृथ्वी के ,
जो कठिन परिश्रम करके इस धरणी को
तुमसे लेकर जलदान अन्न आदिक के
उत्पादन के हैं योग्य बनानेवाले।
आह्वान-गीत यदि गाकर कवि रह जाये ,
मानवता उससे केवल दान तुम्हारा
पाकर शोषण के बन्धन काट न पावे ,
तो अन्न-वस्त्र की शोषक लूट मचावें ,
उत्पादक-श्रमजीवी वंचित रह जावें।
इससे, नव युग का कवि करता स्वर-साधन ;
उस क्रांति-गीत की रचना की तैयारी ,
जो शोषित, वंचित, श्रमजीवी जनता को
बल भी दे अपने श्रम-फल की रक्षा का।

कलाकार से

तुम प्रकाश के स्रोत नित्य-नव ,
प्रतिनिधि संस्कृति के, जीवन के ;
प्रगति-पदों के मार्ग-प्रदर्शक ,
प्रेरक हो जग के यौवन के।
कला तुम्हारी शिथिल अनुसरण
या पिछड़ा जय-नाद नहीं है ;
भोगवाद, सन्तोष, निराशा ,
भ्रान्ति, पलायनवाद नहीं है।

कला अग्रगति, इसके पीछे
हर युग में सब जग चलता है;
चिर-जाग्रत इसके अन्तर में
दीप साधना का जलता है।

प्राणों के तन्मय अणु-अणु के
रक्त-रङ्ग का यह अङ्कन है;
यह वाणी है उस अनुभव की,
जिसका बल बलि है, जीवन है।

भीरु हृदय का सृजन नहीं यह,
जो केवल इतिहास लिखेगा;
वर्तमान कटु सत्यों से बच,
भावी स्वप्न-विलास लिखेगा।

जो केवल निर्झर, मलयानिल,
पुष्प और आकाश लिखेगा;
मानवता के संघर्षों को
छोड़, शून्य उच्छ्वास लिखेगा।

कला हृदय के अनुभव-रस के
स्वर का बलि-पथ पर कम्पन है,
चिन्तन, जीवन और वेदना,
तीनों का यह अमर मिलन है।

जो युग-युग का श्वास, क्यों न वह
अपने युग का श्वास बनेगा!
जो भावी विश्वास, क्यों न वह
वर्तमान विश्वास बनेगा!

युगनायक, प्रतिमा-विभूतिमय,
तुम न कठिन पथ अपना छोड़ो;
सस्ती तृप्ति प्राप्त करने की
दुर्बलता से तुम मुख मोड़ो!

तोड़ो मोह-शृङ्खला, छोड़ो
मिथ्या-स्वप्न-सृष्टि का चित्रण;
जग-मन की जागरण-ज्योति में
करो सत्य का उज्ज्वल दर्शन।

सार्थकता अपने जीवन की
जग के नवजीवन में पाओ;
कलाकार, अपने प्राणों में
मानवता के प्राण जगाओ।

कोटि-कोटि कण्ठों की वाणी,
अगणित हृदयों की अभिलाषा,
युग के बलिदानों की गरिमा,
संघर्षान्वित साम्य-पिपासा।

ये सब तुमसे अमर बनें, हो
तुम्हें इन्होंने अमर बनाया;
इन सबपर हो छाप तुम्हारी,
इन सबकी तुमपर हो छाया।

तुम इनके, ये बनें तुम्हारी
प्रेरक, जीवन-ज्योति जगाओ;
अपने युग के प्राणपुञ्ज बन,
युग-युग के गौरव बन जाओ।

जब जग निज सर्वस्व चाहता
अग्नि-परीक्षा में हो डाला,
जला चाहती हो धू-धू कर
महाक्रान्ति की भीषण ज्वाला।

संस्कृति, जीवन, आदर्शों पर
ध्वंस-आपदा बरस रही हो,
दृढ़ता, तेज, शक्ति के स्वर को
जब मानवता तरस रही हो,

मिथ्या, जीर्ण कल्पनाओं से
क्या तब तुम खिलवाड़ करोगे ;
क्या निर्जीव क्षुद्र शब्दों से
दुर्बल मन की सृष्टि भरोगे ?

युग-प्रतिनिधि, अपने प्राणों में
विश्व-वेदना भरकर गाओ ;
तुम जनता-मय, मानवता-मय,
जग-मय, जीवन-मय हो जाओ !

उर-उर में जो एक वेदना,
प्राण-प्राण में एक व्यथा है,
असन्तोष है, प्यास साम्य की,
जो अभाव की एक कथा है,

उससे अपना हृदय अछूता
रख कैसे तुम जी पाओगे !
क्रान्ति तथा नव-रचना-पथ पर
कैसे पीछे रह जाओगे !

——

लक्ष्मीनारायण मिश्र

कर्ण का अर्घ्यदान

सप्तर्षि मंडल किनारे भुवलोक के
जाकर लगा है, रजनी के अवसान में,
कवि-मन-मानस के जैसे भावरत्न ये
हारी कविवाणी नहीं बाँध जिनको सकी।
बीती अब यामिनी, निमेष पल तारे ये
लुप्त हो रहे हैं। परिजन के बिछोह में
द्रवित सुधाकर की सूख चलीं किरणें।
श्रीहत मयंक अपरा के श्वेत पट में
आनन छिपा रहा है; किंवा नीरनिधि में
पश्चिम दिगंत के चला है हाय! डूबने
होकर अधीर, धरती को अश्रु जल से
सींच कर, वे ही हिमबिंदु सब ओर हैं
फैले लता, वृक्ष, वनराजि, पद्मवन में
गिरि शिखरों में। नत-शीश सृष्टि तल है
शोक में निशाकर के, किंवा अंशुमाली का
उदय समीप जान धरती झुकाती है
शीश निज भक्ति से। झुके हैं पद्म सर में,
गिरि-शिखरों में झुके भुरुह, लतायें हैं
नीचे झुकी! आहा! यह प्राची के कपोल में
अरुण लगा रहा है कुंकुम। दिनेश की
चिर अनुरागिनी चढ़ी है हेम-रथ में
ऊषा। दिन-मणि का विजय-केतु व्योम में
बढ़ता अबाध, ज्यों विजय-श्री जगत को
मोद से लुटा रहा है अरुण। दिनेश के
पथ की मिटी ज्यों सभी बाधा मिटा तम है।
विजयी के यश से विपक्षी मिटते हैं ज्यों।
मिट गये तारे, तेजहीन शशि नभ में

काँप रहा भय से, कला से, हीन, देख के
रवि का उदय। सकुची है कुमुदावली
खिल उठा पद्मराजि, शोक में उलूक है,
चक्रवाक नाचा हर्ष में हो पंख खोल के,
उड़ चला रिझाने चक्रवाकी को पुलक में।
अस्त हो रहा है चन्द्र, दिन-मणि उदय है
विधि का विधान यह कैसा एक साथ ही
हर्ष औ' विषाद खेलते हैं धरा-धाम में।
मिलता नहीं है ठौर तम को गुफा में भी
टिकने का जैसे अपकारी टिकते नहीं।
आहा! बढ़ी ऊषा रँगती-सी अनुराग के
रंग में गगन को कि सोने के सलिल में
बोरती दिगंत को। प्रभाती देवबाला-सी
जागी अब, इंदीवर-नेत्र खुले जिसके
अरुण वनज बने कर-पद-तल हैं;
विकसित मालती बनी है देह-बल्लरी,
चञ्चरीक-राजि अलकावली खुली है ज्यों,
पक्षिकुल-कलरव अलाप से जगत को
गिरि, वन, व्योम को सचेत कर मोहिनी
सज रही स्वागत के हेतु दिनमणि के।
जग को जगाता यथा शिशिर-प्रभात का
मंथर समीर चला मालती पराग को
लोक में बिखेरता, कँपाता पद्मवन को।
हिलती लतायें, वृक्ष-राजि सब ओर है
हिल रही, काँपकर फूल अविरत हैं
चूते भूमि-तल पर पराग-गंध फैली है।
भौंरे गूँजते जो मधुमत्त सब ओर से
रवि का विजय-गान चारण सुनाते हैं।

शीतवाही शिशिर-समीर संग जिनके
काँप कर आप धरातल को कँपाता है।
पादपों के पत्र सिमटे हैं शीत भय से,
पंख को समेट शिखी शीश को छिपाये हैं
ले रहे जँभाई सिंह देह को समेट के।
शिशिर-समीर या कि तीर अंतरिक्ष से
चलते अलक्षित चराचर को बेधते!
हिम-बिंदु भूतल व्योमतल फैले हैं,
रवि-किरणें हैं बनी शशि की किरण-सी
शीत के प्रताप से। क्षितिज से दिनेश है
उठ रहा ऊपर जैसे नीर-निधि से
बड़वानल-ज्वाला चली।

तूर्यं भोर के बजे।

वीरभूमि आहा! कुरुभूमि जलनिधि-सी
ध्वनिपूर्ण सहसा बनी जो वीर जाग के
दिनचर्या में लगे, अग्नि अग्निहोत्र की
प्रज्वलित होने लगी, सामगान नभ में
गूँज उठा, हवि-धूम जैसे स्वर्ग-लोक की
रचता निसेनी अहा! फैला व्योम-तल में
त्रिदिव-निवासियों को किंवा कुरुभूमि की
कीर्तिकथा जैसे हो सुनाने चला व्योम को
पार कर, यज्ञधूप प्राविट्-पयोद-सा।
वंदि-जन गाने लगे हर्ष-ओज स्वर में
द्वार-द्वार शिविरों के वीर-विरुदावलि!
गरज रहा हो सिंधु जैसे महाध्वनि से,
वायु से विकंपित चली हों यथा लहरें
बोरती धरा को, रणभूमि ध्वनि-पूर्ण है।
बाजे बजते हैं, कहीं होता वेद गान है

और कहीं इष्ट-देव पूजा में निरत हो
स्तुति-पाठ सस्वर सुनाते वीर-जन हैं।
गज बोलते जो यथा होती मेघ-ध्वनि है,
हय हींसते हैं, दुही जाने के लिए अहा
गायें हैं रँभाती, बोलते हैं वत्स जिनके।
घंटे बजते हैं ध्वनि शंख सब ओर है।
जनरव डूबे पटमंडप समर के।
कितना कहेगा कवि कितना सुनायेगा!
एक संग आती जो अनेक ध्वनि कानों में
शब्द में उतारे कवि कैसे एक साथ ही!
काव्य के रसिक भारती के भावलोक में
पायें पंख कल्पना के और मंद कवि से
चित्रण में जो कुछ है छूटा उसे आप ही
भावना की आँखों से निरखें।

हरगिरि-सा
हिम-श्वेत उन्नत शिविर वसुसेन का
नीर में रँगा है यथा सोने के, पड़ीं जो ये
छूट रवि-मंडल से आहा अभी किरणें।
विश्वजयी वैरिंदम कर्ण युग्म हाथों में
सोने का कलश है उठाये, शीश नत है
जल-बिंदु चू रहे हैं मोती ज्यों अलक से,
भाल पर, नासिका, कपोल, कंठ, वक्ष में
फैले सब ओर जल-कण देह भीगी है।
स्नान कर आया अभी वीर इष्टदेव के
पूजन के हेतु, अर्घ्य दे रहा है रवि को।
सामने शिविर के धरी जो हेम-पट्टी है।
जिस पर पड़े हैं जपा-पुष्प, लाल पद्म ये
और अर्चनीय वस्तुयें हैं धरी विधि से।

हवन - हुताशन समीप हेम-पट्टी के
जल रहा हेम-पात्र में है, होम द्रव्य का।
अग्निदेव भोग करते जो रह-रह के
उठती शिखा जो हँसी जैसे अग्निदेव की
उठती धरातल से बलरस देने को
आहा दिन मणि का।
दिनेश अंतरिक्ष में
आगे बढ़ा पार कर क्षितिज प्रदेश को।
घूमता-सा जैसे चक्रगति में अरुण का
गोल पिंड लालिमा विहीन अब श्वेत हो
भास्कर परिधि में लसा जो, पूत किरणें
नाचीं महाभाग वसुसेन के ललाट में।
शीश पर नाचीं हिला वीर गद्‌गद् हो।
एकटक देखा वीर-मणि ने दिनेश को
पद्म-नेत्र डूबे अहा! जैसे भक्ति-जल मे।
आधी मुँदी आँखें, मुख-मण्डल से मोद की
दिव्य रश्मि-माला चली, रवि-कर-जाल को
बाँधने को जैसे प्रेम-बन्ध में कि भक्ति में
होती-सी विभोर कामनायें भक्त मन की
पल में, समपित हुई थीं इष्टदेव को।
युगल चरण जुटे भूतल में सहसा
रक्त परिधान हिला दोनों हाथ पल में
हिल उठे और अहा! हाटक कलश से
अर्घ्य-धारा नीचे चली, जैसे भगीरथ के
पुण्य से चली थीं सुरसरि अधोतल में
गोमुख से अहा! ज्यों अटूट पुण्य धारा-सी।
किंवा रत्नमाला यह चाँदी और सोने के
सूत्र में पिरोई गई पद्मराग-मणि की

लेमेरक बीच-बीच में थे लगे जिसके।
शीश टेक भूतल से, हाटक-कलश को
छोड़ धरातल पर उठा जो हाथ जोड़ के,
एक पग खड़ा हुआ निष्ठा और भक्ति से
देख रवि-मण्डल को बोला,

"हे जगत के
मूलाधार! पद्मपति! लोक-त्राणकारी हे!
पोषक अकेले इस सृष्टि के! उदय हो
तुमने मिटाया तमतोम धरातल से
पल में, प्राणमयी धरती के प्राण तुम!
तेज, बल, बुद्धि और विक्रम के निधि हे!
लोक जो जगा है, और कर्म-सिद्धि पाने को
कर्म में निरत हो रहा है, सो तुम्हारी ही
केवल कृपा से! मिटी आहा! निशा यम की
कर्म-बेला आई हे अनादि सखा! सृष्टि के
कर्म के सनातन हे साक्षी! अब तुमसे
दास क्या निवेदन करेगा? सम भाव से
जीवन का दान तुम देते जीव तल को!
जानते हो अनुचर के मन में बसा है जो
इष्टदेव मेरे! इस भूतल में तल क्या
कोई भी कहीं है जो कि छुटे देव गति से?
चिर विजयी हे! यह दास पराजय के
भय से विमुक्त रहे जब तक कर में
शस्त्र रहे मेरे! नहीं मानव अमर है
वरण करूँ मैं मृत्यु आये जब मोद से।"
मौन हुआ वीर किरणों में अंशुमाली की
ऐसे खिला पद्म ज्यों खिला हो देवसरि में,
किंवा खड़े ध्यानमग्न सनत्कुमार हों,
ज्ञान की विभूति से मिटा हो भ्रम मन का।

शुद्ध चित्त अन्तःकरण के विभव में
आनन रँगा हो, या कि देव-कुल-सेनानी
शक्तिधर आहा ! खड़े शक्ति की उपासना
करते हैं किंवा मूर्तिमान आप तप हैं।
कौशेय केशराशि डोली कण्ठदेश में,
और अक्षमाला हिली वक्ष पर साथ ही,
फड़कीं भुजायें, खुले नेत्र और मुख के
मंडल से फूटी दिव्य आभा दिनकर के
मंडल से जैसे बनी मूर्ति यह तेज की।
तप्त हेम-द्रव से रचे हैं गये किंवा ये
अङ्ग अङ्गपति के, निरखने में जिनके
अक्षम हैं आँखें।

अन्तर्जगत

अग्नि-राशि से निकल खड़ा मैं
नील—अनन्त—किनारे—
जलने से जो शेष रहा उस
सुन्दर अमर-सहारे !
उसी अमर को अर्पित करता,
पावन-पग में तेरे—
देव ! ढँक लिया तूने सुख में,
अपराधों को मेरे !
यह अन्तर-इतिहास जानते,
केवल अन्तर्यामी—
जिसमें तव असीम-जीवन का,
वेगतीव्रतर - गामी !
'प्रिये' नहीं आदर्श; प्रेम की
वंशी के शुभ स्वर से—
'हृदय-दान दो' मुझे कहूँगा,
खींच मोह-सागर से !

बन्द हुआ संग्राम-निरन्तर
हृदय-जगत का मेरे—
सोई अमर-चेतना मेरी,
मधुर-मिलन में तेरे—
जला गगन के एक किनारे,
तूने दीपक क्षण में,
लिख डाली मम कथा-पुरातन,
इस जगती के मन में।
पावन-मधुर शेष है अब तक,
जो कुछ मेरे मन में—
उसके बदले पाया जिसको,
आज साधना-वन में—
कहीं समझ ले वह न जगत की,
व्यापक-करुण-पहेली—
गा अपने संगीत भुलाती,
उसको परम अकेली!
वह अज्ञात एक आँधी थी,
जिसने मुझको क्षण में—
पटक दिया उत्सव-मन्दिर से,
खींच व्यथा के वन में!
क्षुब्ध हुए जीवन-सागर की,
लहरें प्रतिपल गातीं—
उस अनन्त की ओर तभी से,
क्रमशः चलती जातीं!
वही पूर्णिमा और अमा के,
प्रबल-ज्वार-सी आशा—
उमड़ी चली आ रही मन में,
उसकी क्या परिभाषा!

मधुर-थपकियाँ देकर जिसकी,
सरल-हिलोर हृदय में—
भुला जगत की इस उलझन को,
देती मृत्यु-निलय में!

भूले हुए नखत-से नभ में,
आकुल-तिमिर किनारे—
किस अनन्त को देख रहे थे,
वे तेरे दृग-तारे!

जिस असीम के मधुर अंक में,
होती तेरी क्रीड़ा—
वहाँ नहीं पहुँची क्या अबतक,
मेरी व्यापक-व्रीड़ा!

अपने लिए निरन्तर करता,
सृष्टि नवीन- जगत की—
उलट-फेर करता जैसे नित,
रखता सुधि न विगत की।

उसी भाँति मेरे भीतर तुम,
प्रलय सृष्टि की धुन में—
नहीं देखती उस अनादि,
तापस को विश्व-सदन में।

विश्व-वेदना के मानस में,
बजती जिनकी वीणा—
वही जानते मेरे सुख की—
आकुलता की पीड़ा।

शून्य अनन्त शान्त है रजनी,
नीरव नखत गगन में—
उसके बीच अनादि रुदन यह,
जाग्रत मेरे मन में।

इलाचन्द्र जोशी

नृत्य

नाचो ! नाचो ! महाकाल ! तुम खर मध्याह्न गगन में,
सूर्योज्वल आँगन में ।
होकर गर्वित अपने दीप्त विजय में
नाचो रुद्र समुद्र ताल में, निखिल सृष्टि के लय में
तुम तो नाच रहे हो प्यारे ! उन्मद रस से पागल
उच्छल यौवन चंचल,
पर यह भोली भोली प्यारी निपट नवेली ललना
सरल लासमय तरल दृगों में छलका निश्छल छलना
पर्वत पथ के विजन प्रान्त में सुन कपोत कुल कूजन
मन्द, हंस गति से जाती है करने शिव का पूजन।
सरल, मधुर विश्वास भरा है तरुण, करुण नयनों में,
लज्जा रक्तिम लास खिला है हस्तस्थित सुमनों में;
स्नेह प्रेम रस प्रतिपल उसके मधुमन में सिंचित है,
निखिल चक्र की वक्र प्रगति से नहीं तनिक परिचित है;
ब्रह्म सत्य सम निश्चित समझे बैठी है निज यौवन,
परम तत्व सम नित्य समझती है निज पति का जीवन,
मोहाच्छन्न हृदय को उसके मैं कैसे समझाऊँ !
चिर जीवन की तृष्णा उसकी कैसे हाय, बुझाऊँ !
नाचो ! नाचो ! अमानिशा के महाकाश मण्डल में,
लयंकरी लीला दिखला पल पल में।
रुद्रकाल ! तुम करो विघूर्णित नर्तन ।
अन्ध सृष्टि के रन्ध्र रन्ध्र में जगे बन्धहर चेतन !
तुम तो नाच रहे हो प्यारे ! वसन कराल पहन कर
अगणित सूर्यों की माला की ज्वाला नित्य वहन कर,

पर यह देखो, करुणा विह्वल माता विकल शयन में
घन निद्रारत, परम दुलारे शिशु के कोमल तन में
फेर फेर कर हस्त पुलकप्रद, स्नेह वेदना व्याकुल
रह रह होती है अविजानित आशंका से आकुल,
उसकी यह उद्दाम वेदना कैसे हाय, भुलाऊँ!
किस माया से उसका शंकित, कंपित वक्ष सुलाऊँ!

नाचो! नाचो! भैरव!

निखिल नियम के रोम रोम में मचे व्योममय ताण्डव!
गर्जित होओ सुदृढ़ वज्र सम मेरे नग्न हृदय में,
हँसो ठठाकर अट्टहास से तुङ्ग तुषारालय में!
हिमखण्डों के भीम पतन से, वज्रमयी क्रीड़ा से
तुम होते विक्षोभित जीवन मृत्यु मयी पीड़ा से,
पर यह देखो, निखिल विश्व के मानव आर्त रुदन से
किस निष्ठुर से भिक्षा चाह रहे हैं शीर्ण वदन से!
वज्रकोप से, रुद्रशाप से जन्मावधि हैं पीड़ित,
कठिन नियम के पेषण से हैं निशिदिन त्रस्त, विताड़ित;
नहीं शक्ति जीने की उनमें; नहीं चाह मरने की,
ज्ञानहीन पशु सम चिन्ता है क्षुधा शांत करने की;
उनके दुर्बल, भीरु हृदय को कैसे सबल बनाऊँ!
मस्तक ऊँचा करने का क्या जीवन मन्त्र सुनाऊँ!

बालकृष्ण राव

समर्पण

छन्दों की छवि, लय की मृदुता,
शुचिता, भावुकता भाषा की;
जिसमें करुणा की कोमलता
है अजर अमरता आशा की।
बन चुकी परिधि मेरे जग की
जिसकी मुस्कान क्षितिज-रेखा;
तारों में तरल, सरल शिशुता,
शशि में जिसका यौवन देखा।

उस पीड़ा-सी प्रच्छन्न, जिसे
पीड़ित की वाणी कह न सकी;
उस धारा-सी दुर्लभ, जिसको
मरु-भूमि मिली, जो बह न सकी।
सरिता के कूलों की अतृप्ति,
जो साथ रहे पर मिल न सके;
उनकी आकांक्षा की अशक्ति
जो सुमन समय पर खिल न सके।

जिसने प्राणों को वाणी दी,
कवि की वाणी को प्राण दिये,
वह मूर्तिमती कविता कर ले,
स्वीकृत जो उसने दान दिये।

तुम सुनो तो गान मेरा स्वर बने!

तुम सुनो तो गान मेरा स्वर बने।
तुम उपास्य बनो, तपस्या वर बने।
दीप ने जलकर शलभ को पथ दिखाया।
दृष्टि पाई जब तुम्हें मैं देख पाया॥

तृप्ति कैसी, जब तृषा निर्झर बने !
हर्ष की हो वृष्टि, घिर लें शोक के घन ।
युग-प्रतीक्षा का बने प्रिय मिलन का क्षण ।
क्षितिज तक जाकर अवनि अम्बर बने ।।

तुम और मैं

मैं अकिंचन याचना हूँ
तुम सदय वरदान ।
मैं अथक स्वर-साधना
तुम हो चिरन्तन गान ॥

मार्ग-मन्दिर का दिखाता भक्ति का आलोक ।
अर्घ्य देता है दिवस को यामिनी का शोक ॥

मैं विकलता, चेतना तुम ;
स्फूर्ति मैं, तुम प्राण ।
तुम चरण-ध्वनि अवतरण की ,
मैं सजग सोपान ॥

मैं प्रतीक्षा, मिलन पल तुम, मैं नियम, तुम न्याय ।
मैं सतत उद्योग हूँ, तुम एकमात्र उपाय ॥

नैश नभ में पूर्णिमा की
तुम मधुर मुस्कान ।
मैं प्रतिध्वनि की मुखरता ,
तुम अमर आह्वान ॥

केवल एक

सौ सुन्दर, सुरभित सुकुमार
सुमनों से गुम्फित कर हार ,
पहनाया था सखि, प्रियतम ने
पुलकित होकर पहली बार ।
उसके सौ सुमनों में आज
सुरभित है बस केवल एक, केवल एक ॥

तन्मय होकर सौ सौ बार
सजनि, किया प्रियतम ने प्यार,
केन्द्रित कर मेरे अधरों की
सीमा में अपना संसार।
उन सौ सौ मादक स्पर्शों में
अंकित अब तक है बस एक, केवल एक॥

अलि-गुंजन पर स्वर संधान,
कर समीर गति पर स्थिर तान,
मुझे सुनाया था प्रियतम ने
आशा का, स्मृतियों का गान।
उसके सौ सौ मधुर पदों में
मुझे स्मरण है केवल एक, केवल एक॥

दीपक मन्द न हो

दीपक मन्द न हो
मार्ग का दीपक मन्द न हो।
खोल द्वार यदि देवालय ही स्वयं निमन्त्रित करता,
हर्षित होता, किन्तु उपासक सोच सोच कर डरता।
कल, फिर बन्द न हो—
द्वार यह कल फिर बन्द न हो।
छिपे न शशि, अलसाई आँखें झिप न जायँ तारों की,
बने निशा ही स्वयं कल्पना दिन के शृंगारों की।
जब अभिनन्दन हो—
सूर्य का जब अभिनन्दन हो।
लक्ष्य दूरतर हुआ, कठिनतर हुई विषम वन-वीथी,
श्रान्त पथिक ने किन्तु एक बस यही प्रार्थना की थी—
दीपक मन्द न हो,
मार्ग का दीपक मन्द न हो।

अधूरी बात

बात पूरी हो न पायी थी, अभी कुछ
और कहना था मुझे, जब रात बीती।
दिवस की पहली किरण के स्पर्श से ही
हो गये शशि तारिका के साथ मेरे
शब्द भी निष्प्राण, सहमकर स्वर न जाने
छिप गया किस विहग वाणी में अचानक।
मैं न समझा क्या हुआ था, क्यों अधूरी
रह गई वह बात जिसको सुन रहे थे
तुम सहज सुन्दर कुतूहल से समुत्सुक।
अब प्रतीक्षा कर रहा हूँ रात की फिर,
शब्द फिर से मिल सकें, पूरी करूँ मैं
बात अपनी। किन्तु भय है अब न होगा
फिर उसे सम्भव सुनाना या समझना
शब्द होंगे, पर वही क्या अर्थ होगा!

जग उठा हूँ, पर न अब तक नींद टूटी

जग उठा हूँ, पर न अब तक नींद टूटी;
दृष्टि है जिस ओर पड़ती देखता हूँ
द्रवित कल के सत्य की होतीं शिलायें,
तरल, चञ्चल स्वप्न पुंजीभूत होते।
नींद होगी शेष आँखों में, नहीं तो
इस व्यवस्था को विपर्यय क्यों समझता!
राह दिखलाने बढ़ी थी कल्पना, पर
साथ चलने का उपक्रम उस क्रिया को
मान, साहस कर अकेला चल पड़ा मैं
यह न जाने भूल थी या वंचना थी।
देखता हूँ अब वही आलोक आगे
मार्ग के उस छोर को करता प्रकाशित,

इस दिशा से ही कभी जो कर बढ़ाये
स्वयं पथ की ओर इङ्गित कर रहा था ।

क्षीण स्वर में ही विनय की पहुँच सम्भव

क्षीण स्वर में ही विनय की पहुँच सम्भव ,
दूर हूँ जितना धरातल तारिका से
मार्ग-दर्शक दीप भी हो और पथ की
चरम सीमा पर चमकते लक्ष्य भी तुम ।
ज्ञात होता है तुम्हें ही देखकर यह
ध्येय क्या है और मैं कितना विमुख हूँ ।
छोड़ देती साथ छाया भी विवश हो
जब निशा-तम गहन होता, छवि तुम्हारी
किन्तु होती स्पष्टतर, प्रियतर, निकटतर ।
चेतना के भी चरण पड़ते न सीधे
और प्राणों में प्रभंजन की प्रबलता ।
माँगता तुमसे, अटल अवलम्ब मेरे ,
आज आश्रय और वह वरदान जिसको
यह अकिंचन याचना अभिषिक्त कह दे ॥

फिर क्या होगा उसके बाद ?

फिर क्या होगा उसके बाद !
उत्सुक होकर शिशु ने पूछा ,
माँ, क्या होगा उसके बाद !

'रवि से उज्ज्वल, शशि से सुन्दर ,
नव किसलयदल से कोमलतर
वधू तुम्हारी घर आयेगी
उस विवाह उत्सव के बाद !'

पलभर मुख पर स्मित की रेखा
खेल गई, फिर माँ ने देखा—
कर गम्भीर मुखाकृति शिशु ने
फिर पूछा, क्या उसके बाद !

फिर नभ के नक्षत्र मनोहर
स्वर्ग-लोक से उतर उतर कर
तेरे शिशु बनने को मेरे
घर आयेंगे उसके बाद।

मेरे नये खिलौने लेकर
चले न जायें वे अपने घर!
चिन्तित हो कह उठा, किन्तु फिर
पूछा शिशु ने, उसके बाद?

अब माँ का जी ऊब चुका था,
हर्ष-श्रान्ति में डूब चुका था;
बोली, फिर मैं बूढ़ी होकर
मर जाऊँगी उसके बाद।

यह सुनकर भर आये लोचन,
किन्तु पोंछकर उन्हें उसी क्षण,
सहज कुतूहल से फिर शिशु ने
पूछा, माँ, क्या उसके बाद?

कवि को बालक ने सिखलाया
सुख-दुख हैं पल भर की माया,
है अनन्त का तत्व-प्रश्न यह
फिर क्या होगा उसके बाद?

कविता का जन्म

विमल क्षितिज पर गोधूली में
रवि ने देखी शशि को छाया।
इंगित पाकर सूत्रधार का
गगन-मंच पर घन घिर आया।

तारे यह मृदु मिलन देखने
खड़े हुये छिपकर मेघों में,
मोहित होकर मन्द पवन ने
पुण्य प्रणय संगीत सुनाया।

चौंक पड़े शिशु, पशु, विहंग, कवि ,
थिरक उठा था तन वसुधा का ।
सुध बुध खोकर बाल प्रकृति ने
आभा का आवरण उठाया ।
अन्तिम चुम्बन कर वसुधा का
विकल सूर्य से विदा माँग ली ।
नभ में रजत हास बिखराकर
शशि ने आगे चरण बढ़ाया ।

कवि के सुख दुख भेद भूलकर
मिले स्नेह से स्वप्नलोक में ।
छवि ने खोले द्वार शान्ति के ,
आशाओं ने आश्रय पाया ।
शुचि, स्वर्गिक, सांकेतित स्वर में
नियति देवि बोली रवि-शशि से ;
चिर वियोग ज्वाला की द्युति से
रच दो मधुर मिलन की माया ।

जग के अश्रु-सिक्त नयनों पर
सुख का इन्द्रधनुष अंकित कर ,
बन्धु सजा दो आज स्वर्ग के
वैभव से वसुधा की काया ।
इस अद्भुत क्षण के प्रकाश में
बन्धु, प्रकट होकर, बढ़ बढ़कर
पड़े आज सीमा के मुख पर ,
उस असीम की छविमय छाया ।

सुनकर, पुलकित हो रवि शशि ने
तम प्रकाश की खींच यवनिका ,
आशा के आतुर नयनों से
स्मृति का तारक लोक छिपाया ।
चिर नीरव संगीत विश्व का
झंकृत हुआ पवन वीणा में ;
कवि ने केन्द्रित कर करुणा में
कविता को साकार बनाया ।।

——

तारा पाण्डेय

तुमको बाँध चुकी हूँ मन में !

संध्या की बेला यह सूनी ,
आकुलता बढ़ जाती दूनी ,
रवि भी बँधा हुआ है देखो
अपनी किरणों के बंधन में !

बैठ नीड़ में चोंच मिला कर ,
अपने उर में स्वर्ग बसा कर ,
पक्षी कहते —'जान गये हम
सुख से रहना इस जीवन में' !

एक समय ऐसा है आता ,
जब स्वप्नों का जगत सुहाता ,
सीमाहीन मधुर आशाएँ
रंग भरा करतीं यौवन में !

बाँध तुम्हें क्या मुक्त बनी मैं !
पीड़ाओं की बनी धनी मैं !
समझोगे तब, खो जाऊँगी
जब मैं अपने सूनेपन में !

तुमको बाँध चुकी हूँ मन में !

रामधारी सिंह 'दिनकर'

गीत-अगीत

गीत, अगीत कौन सुन्दर है ?

(१)

गाकर गीत विरह के तटिनी
वेगवती बहती जाती है,
दिल हलका कर लेने को
उपलों से कुछ कहती जाती है।
तट पर एक गुलाब सोचता—
"देते स्वर यदि मुझे विधाता,
अपने पतझड़ के सपनों का
मैं भी जग को गीत सुनाता।"

गा-गा कर बह रही निर्झरी,
पाटल मूक खड़ा तट पर है।
गीत, अगीत कौन सुन्दर है ?

(२)

बैठा शुक उस घनी डाल पर
जो खोंते पर छाया देती,
पंख फुला नीचे खोंते में
शुकी बैठ अन्डे है सेती।
गाता शुक जब किरण बसन्ती
छूती अङ्ग पर्ण से छनकर,
किन्तु, शुकी के गीत उमड़कर
रह जाते सनेह में सनकर।

गूँज रहा शुक का स्वर वन में,
फूला मग्न शुकी का पर है।
गीत, अगीत कौन सुन्दर है ?

(३)

दो प्रेमी हैं यहाँ, एक जब
बड़े साँझ आल्हा गाता है,
पहला स्वर उसकी राधा को
घर से यहाँ खींच लाता है।
चोरी-चोरी खड़ी नीम की
छाया में छिपकर सुनती है,
'हुई न क्यों मैं कड़ी गीत की
'विधना', यों मन में गुनती है।

वह गाता, पर किसी वेग से
फूल रहा इसका अन्तर है।
गीत, अगीत कौन सुन्दर है?

रास की मुरली

अभी तक कर पाई न सिंगार,
रास की मुरली उठी पुकार।

(१)

गई सहसा किस रस से भींग
वकुल-वन में कोकिल की तान?
चाँदनी में उमड़ी सब ओर
कहाँ के मद की मधुर उफान?
गिरा चाहता भूमि पर इन्दु
शिथिलवसना रजनी के संग;
सिहरते पग सकता न सँभाल
कुसुम-कलियों पर स्वयं अनंग।
ठगी-सी रुकी नयन के पास
लिये अञ्जन उँगली सुकुमार,
अचानक लगे नाचने मर्म,
रास की मुरली उठी पुकार।

(२)

रास की मुरली उठी पुकार।

साँझ तक तो पल गिनती रही,
कहीं तब डूब सका दिनमान;
आँजने जिस क्षण बैठी आँख,
मधुर बेला पहुँची यह आन।
सुहागिनियों में चुनकर एक
मुझे ही भूल गये क्या श्याम?
बुलाने को न बजाया आज
बाँसुरी में दुखिया का नाम।
बिताऊँ आज रैन किस भाँति?
पिन्हाऊँ किसे यूथिका-हार?
धरूँ कैसे घर बैठे धीर?
रास की मुरली उठी पुकार।

(३)

रास की मुरली उठी पुकार।

उठी उर में कोमल हिल्लोल
मोहिनी मुरली का सुन नाद,
लगा करने कैसे तो हृदय,
पड़ी जाने कैसी कुछ याद!
सकूँगी कैसे स्वयं सँभाल
तरङ्गित यौवन का रसवाह?
ग्रन्थि के ढीले कर सब बन्ध
नाचने को आकुल है चाह।
डोलती श्लथ कटि-पट के संग,
खुली रशना करती झनकार,
न दे पायी कङ्कन में कील,
रास की मुरली उठी पुकार।

(४)

रास की मुरली रही पुकार।
छोड़ दो़ो सब साज-सिंगार,,
रास की मुरली रही पुकार।

अरी भोली मानिनि ! इस रात
विनय-आदर का नहीं विधान,
अनामन्त्रित अर्पण कर देह
पूर्ण करना होगा बलिदान।
आज द्रोही जीवन का पर्व,
नम्र उल्लासों का त्योहार;
आज केवल भावों का लग्न,
आज निष्फल सारे श्रृंगार।
अलक्तक पद का आज न श्रेय,
न कुंकुम की बेंदी अभिराम,
न सोहेगा अधरों में राग,
लोचनों में अंजन घनश्याम।
हृदय का संचित रंग उँड़ेल
सजा नयनों में अनुपम राग,
भींगकर नख-शिख तक सुकुमारि
आज करलो निज सुफल सुहाग।
पहन कर केवल मादक रूप
किरण-वसना परियों-सी नग्न
नीलिमा में हो जाओ बाल,
तारिकामयी प्रकृति - सी मग्न।
यूथिका के ये फूल बिखेर
पुजारिन ! बनो स्वयं उपहार,
पिन्हा बाँहों के मृदुल मृणाल
देवता की ग्रीवा का हार।

खोल बाँहें आलिङ्गन—हेतु
खड़ा सङ्गम पर प्राणाधार ;
तुम्हें कङ्कन-कुंकुम का मोह,
और यह मुरली रही पुकार।

(५)

रास की मुरली रही पुकार।
महालय का यह मंगल-काल,
आज भी लज्जा का व्यवधान !
तुम्हें तनु पर यदि नहीं प्रतीति
भेज दो अपने आकुल प्रान।
कहीं हो गया द्विधा में शेष
आज मोहन का मादक रास,
सफल होगा फिर कब सुकुमारि !
तुम्हारे यौवन का मधुमास !
रही बज आमन्त्रण के राग
श्याम की मुरली नित्य-नवीन,
विकल-सी दौड़-दौड़ प्रतिकाल
सरित हो रही सिन्धु में लीन।
रहा उड़ तज फेनिल अस्तित्व
रूप पल-पल अरूप की ओर,
तीव्र होता ज्यों-ज्यों जयनाद,
बढ़ा जाता मुरली का रोर।
सनातन महानन्द मे आज
बाँसुरी — कङ्कण एकाकार,
बहा जा रहा अचेतन विश्व,
रास की मुरली रही पुकार।

पुरुष-प्रिया

मैं तरुण भानु-सा अरुण, भूमि पर
उतरा रुद्र - विषाण लिये,

सिर पर ले वह्नि-किरीट, दीप्ति का
तेजवन्त धनु - बाण लिये ।
स्वागत में डोली भूमि, त्रस्त
भूधर ने हाहाकार किया,
वन की विशीर्ण अलकें झकोर
झंझा ने जयजयकार किया ।
नाचती चतुर्दिक घूर्णि चली,
मैं जिस दिन चला विजय-पथ पर ।
नीचे धरणी निर्वाक् हुई,
सिहरा अशब्द ऊपर अम्बर ।

मुक्ता ले सिन्धु शरण आया
मैंने जब किया सलिल-मन्थन,
मेरे इङ्गित पर उगल दिये
भू ने उर के फल, फूल, रतन ।
दिग्विदिक् सृष्टि के पर्ण-पर्ण पर
मैंने निज इतिहास लिखा,
दिग्विदिक् लगी करने प्रदीप्त
मेरे पौरुष की अरुण शिखा ।

मैं स्वर्ग-देश का जयी वीर,
भू पर छाया शासन मेरा;
हाँ, किया वहन नतभाल, दमित
मृगपति ने सिंहासन मेरा ।
कर दलित चरण से अद्रि-भाल,
चीरते विपिन का मर्म सघन,
मैं विकट, धनुर्धुर, जयी वीर
था घूम रहा निर्भय रन-वन ।

उर के मन्थन की दर्द-भरी
घड़ियों से थी पहचान नहीं,

सुमनों से हारे भीम शैल,
तबतक था इतना ज्ञान नहीं।
चूमे जिसको झुक अहङ्कार,
वह कली, स्यात्, तबतक न खिली;
लज्जित हो अनल-किरीट, चाँदनी
तबतक थी ऐसी न मिली।
सहसा आई तुम मुझ अजेय को
हँसकर जय करनेवाली,
आधी मधु, आधी सुधा-सिक्त
चितवन का शर भरनेवाली।
मैं युवा सिंह से खेल रहा था
एक प्रात निर्झर - तट पर,
तुम उगी तीर पर माया-सी
लघु कनक-कुम्भ साजे कटि पर।
लघु कनक-कुम्भ कटि पर साजे,
दृग-बीच तरल अनुराग लिये;
चरणों में ईषत् अरुण, क्षीण
जलधौत कलक्तक-राग लिये।
सद्यःस्नाता, मद-भरित, सिक्त
सरसीरुह की अम्लान कली,
अक्षता, सद्य पाताल-जनित
मदिरा की निर्झरिणी पतली।
मैं चकित देखने लगा तुम्हें,
तुमने विस्मित मुझको देखा;
पल-भर हम पढ़ते रहे पूर्व—
युग का विस्मृत, धूमिल लेखा।
तुम नई किरण-सी लगी, मुझे
सहसा अभाव का ध्यान हुआ,

जिस दिन देखा यह हरित स्रोत ,
अपने ऊसर का ज्ञान हुआ ।
मैं रहा देखता निर्निमेष, तुम
खड़ी रही अपलक-चितवन ,
नस-नस जृम्भा संचरित हुई ,
संस्रस्त, शिथिल उर के बन्धन ।
सहसा बोली, 'प्रियतम', अधीर ,
श्लथ कटि से गिरा कलस तेरा ,
गिर गये बाण, गिर गया धनुष ,
सिहरा यौवन का रस मेरा ।
'प्रियतम', 'प्रियतम', रसकूक मधुर
कब की श्रुत-सी, कुछ जानी-सी ,
'प्रियतम', 'प्रियतम', रूपसी कौन
तुम युग-युग की पहचानी-सी ?
उमड़ा व्याकुल यौवन विबन्ध ,
उर की तन्त्री झनकार उठी ;
सब ओर सृष्टि में निकट-दूर
'प्रियतम', की मधुर पुकार उठी ।
तुम अर्द्ध-चेतना में बोली ,
"मैं खोज थकी, तुम आ न सके ,
लद गई कुसुम से डाल, किन्तु ,
अब तक तुम हृदय लगा न सके ।
"सीखा यह निर्दय खेल कहाँ ?
तुम तो न कभी थे! निठुर पिया !",
मैं चकित, भ्रमित कुछ कह न सका ,
मुख से निकले दो वर्ण, 'प्रिया' ।
दो वर्ण 'प्रिया', यह मधुर नाम
रसना की प्रथम ऋचा निर्मल ,

उल्लसित हृदय की प्रथम वीचि,
सुरसरि का बिन्दु प्रथम उज्ज्वल।
नर की यह चकित पुकार 'प्रिया',
जब पहली दृष्टि पड़ी रानी,
जिस दिन मन की कल्पना उतर
भू पर हो गई खड़ी रानी।
विस्मय की चकित पुकार 'प्रिया',
जब तुम नीलिमा गगन की थी;
जब कर-स्पर्श से दूर अगुण
रस प्रतिमा स्वप्न-मगन की थी;
जब पुरुष-नयन में वह्नि नहीं,
था विस्मय-जड़ित कुतुक केवल;
जब तुम अचुम्बिता, दूर-ध्वनित
थी किसी सुरा का मद-कलकल।
विस्मय की चकित पुकार 'प्रिया',
जिस दिन तुम थी केवल नारी;
नर की ग्रीवा का हार नहीं भुज-
बँधो वल्लरी सुकुमारी।
दो वर्ण, 'प्रिया', यह नाद उषा
सुनती शिखरों पर प्रथम उतर;
दो वर्ण 'प्रिया', कुछ मन्द-मन्द
इस ध्वनि से ध्वनित गहन अम्बर।
दो वर्ण 'प्रिया', संध्या सुनती
झुक अतल मौन सागर-तल में;
सुन-सुनकर हृदय पिघल जाता
इसका गुञ्जन दृग के जल में।
सुन रही दिशाएँ मौन खड़ी,
सुन रही मग्न नभ की बाला;

सुन रहे चराचर, किन्तु, एक
सुनता न पुरुष कहने वाला।
अकलङ्क प्राण का सम्बोधन
सुनते जो कर्ण अजान प्रिये,
तो पुरुष-प्रिया के बीच आज
मिलता न एक व्यवधान प्रिये।
व्यवधान वासना का कराल
जगते जो आग लगाती है;
जो तप्त शाप-विष फूँक सरल
नयनों को हिंस्र बनाती है।
उन आँखों का व्यवधान, ज्ञात
जिनको न रहस्यों का गोपन,
देखा कुछ कहीं कि कह आतीं
सब कुछ प्राणों के भवन-भवन।
उत्सुक नर का व्यवधान, शृङ्ग
लख जिसे सूझता आरोहण;
जल-राशि देख संतरण और
वन सघन देखकर अन्वेषण।
अम्बर का देख वितान उड़ा,
'यह नील-नील ऊपर क्या है ?'
मिट्टी खोदी यह सोच, "गुप्त
इस वसुधा के भीतर क्या है ?"
जिस दिवस अबारित प्रेम-सदन में
विस्मित, चकित पुरुष आया,
माणिक्य देख धीरता तजी,
मुक्ता - सुवर्ण पर ललचाया।
क्या ले, क्या छोड़े, रत्नराशि का
भेद नहीं लघु जान सका,

वह लिया कि जिसमें तृप्ति नहीं,
पाना था जो वह पा न सका।
पा सका न मन का द्वार, क्षुब्ध
भग चला कुसुम का तन लेकर,
ग्रीवा-विलसित मन्दार-हार का
दलन किया चुम्बन लेकर।

जीवन पर प्रसरित खिली चाँदनी
को पीने की चाह हुये,
शशि का रस सकल उँड़ेल बुझे
वह कठिन, चिरन्तन दाह हुये।

तरुणी-उर को कर चूर्ण खोजने
लगा सुरभि का कोष कहाँ!
प्रतिमा विदीर्ण कर ढूँढ़ रहा,
वरदान कहाँ! सन्तोष कहाँ!

खोजते मोह का उत्स पुरुष ने
सारी आयु वृथा खोई;
इससे न अधिक कुछ जान सका
तुम - सा न कहीं सुन्दर कोई।

सब ओर तीव्र-गति घूम रहा
युग-युग से व्यग्र पुरुष चञ्चल,
तुम चिर-चञ्चल के बीच खड़ी
प्रतिमा-सी सस्मित, मौन, अचल।

सुन्दर थी तुम जब पुरुष चला,
सुन्दर अब भी जब कल्प गया;
जा रहा सकल श्रम व्यर्थ, नहीं
मिलता आगे कुछ ज्ञान नया।

जब-जब फिर आता पुरुष श्रान्त,
तब तुम कहती रसमग्न 'पिया!'

मिलती न उसे फिर बात नई,
मुख से कढ़ते दो वर्ण, 'प्रिया'!

कला-तीर्थ

पूर्णचन्द्र-चुम्बित निर्जन वन
विस्तृत शैलप्रान्त उर्वर थे,
मसृण, हरित दूर्वा-सज्जित पथ
वन्य कुसुम-द्रुम इधर-उधर थे।

पहन शुक्र का कर्ण-विभूषण
दिशा-सुन्दरी रूप-लहर से
मुक्त कुन्तला मिला रही थी
अवनी को ऊँचे अम्बर से।

कला-तीर्थ को मैं जाता था
एकाकी वनफूल-नगर में,
सहसा दीख पड़ी सोने की
हंसग्रीव नौका लघु सर में।

पूर्ण-यौवना दिव्य सुन्दरी
जिसपर वीण लिये निज कर में,
भेद रही थी विपिन-शून्यता
भर शत स्वर्गों का मधु स्वर में।

लहरें खेल रहीं किरणों से
ढुलक रहे जल-कण पुरइन में,
हलके यौवन थिरक रहा था
ओस-कणों-सा गान पवन में।

मैंने कहा—"कौन तुम वन में
रूप-कोकिला बन गाती हो,
इस वसन्त-वन के यौवन पर
निज यौवन-रस बरसाती हो!"

वह बोली—"क्या नहीं जानते
मैं सुन्दरता चिर-सुकुमारी,
अविरत निज आभा से करती
आलोकित जगती की क्यारी।

मैं अस्फुट यौवन का मधु हूँ
मदभोरी, रसमयी नवेली,
प्रेममयी तरुणी का दृग-मद
कवियों की कविता अलबेली।

वृन्त-वृन्त पर मैं कलिका हूँ
मैं किसलय-किसलय पर हिम-कण,
फूल-फूल पर नित फिरती हूँ
दीवानी तितली-सी वन-वन।

प्रेम व्यथा के सिवा न दुख है
यहाँ चिरन्तन सुख की लाली,
इस सरसी में नित मराल के
संग विचरती सुखी मराली।

लगा लालसा-पंख मनोरम
आओ, इस आनन्द-भवन में,
जी भर पी लो आज अधर-रस
कल तो आग लगी जीवन में।

यौवन! तृषा! प्रेम! आकर्षण
हाँ, सचमुच तरुणी मधुमय है,
इन आँखों में अमर सुधा है
इन अधरों में रस-संचय है।

मैंने देखा, और दिनों से
आज कहीं मादक था हिमकर,
उडुओं की मुसकान स्पष्ट थी
विमल व्योम, स्वर्णाभ सरोवर।

लहर-लहर में कनक शिखाएँ
झिलमिल झलक रहीं लघु सर में,
कला-तीर्थ को मैं जाता था
एकाकी सौंदर्य-नगर में।

बढ़ा और कुछ दूर विपिन में
देखा, पथ संकीर्ण, सघन है,
दूब, फूल, रस, गन्ध न किंचित्
केवल कुलिश और पाहन हैं।

झुरमुट में छिप रहा पन्थ
ऊँचे नीचे पाहन बिखरे हैं,
दुर्गम पथ में पथिक अकेला
इधर-उधर वन-जन्तु भरे हैं।

कोमलप्रभ चढ़ रहा पूर्ण विधु
क्षितिज छोड़कर मध्य गगन में,
पर देखूँ कैसे उसकी छवि
कहीं हार हो जाय न रण में।

कुछ दूरी चल उस निर्जन में
देखा एक युवक अति सुन्दर,
पूर्ण स्वस्थ रक्ताभवदन, विकसित
प्रशस्त उर, परम मनोहर।

चला रहा फावड़ा अकेला
पोंछ स्वेद के बहु कण कर से,
नहर काटता वह आता था
किसी दूरवाही निर्झर से।

मैंने कहा—"कौन तुम ?" बोला
वह—"कर्तव्य, सत्य का प्यारा,
उपवन को सींचने, लिये
जाता हूँ वह निर्झर की धारा।

मैं बलिष्ठ आशा का सुत हूँ
विहँस रहा निज जीवन रण में,
तंद्रा, अलस मुझे क्यों घेरें
मैं अविरल तल्लीन लगन में।

बाधाएँ घेरतीं मुझे, पर
मैं निर्भय नित मुसकाता हूँ,
कुचल कुलिश-कंटक-जालों को
लक्ष्य ओर बढ़ता जाता हूँ।

भीत न हो पथ के काँटों से
भरा अमित आनन्द अजिर में,
यहाँ दुःख ही ले जाता है
हमें अमर सुख के मन्दिर में।

सुन्दरता पर कभी न भूलो
शाप बनेगी वह जीवन में,
लक्ष्य विमुख कर भटकायेगी
तुम्हें व्यर्थ फूलों के वन में।

बढ़ो लक्ष्य की ओर, न अटको
मुझे याद रख जीवन-रण में।
उसके इस आतिथ्य-भाव से
व्यथा हुई कुछ मेरे मन में।

वह रत हुआ कार्य में अपने
मैं श्रम-शिथिल बढ़ा निज पथ पर,
सुन्दरता-सा सत्य श्रेष्ठ है
उठने लगा द्वन्द्व पग-पग पर।

सुन्दरता - आनन्द मूर्ति है
प्रेम नदी, मोहक, मतवाली,
कर्म-कुसुम के बिना किन्तु, क्या
भर सकती जीवन की डाली।

सत्य सींचता हमें स्वेद से
सुन्दरता मधु-स्वप्न-लहर से,
कला-तीर्थ को मैं जाता था
एकाकी कर्तव्य नगर से।

कुछ क्षण बाद मिला फिर मुझको
गन्ध, फूल, दूर्वामय प्रान्तर,
हरी भरी थी शैल तटी त्यों
सघन रत्न - भूषित नीलाम्बर।

दूर्वो की नन्हीं फुनगी पर
जगमग ओस बने आभा-कण,
कुसुम आँकते उनमें निज छवि
जुगनू बना रही निज दर्पण।

राशि-राशि वन-फूल खिले थे
पुलक-स्पन्दित वन-हृत-शतदल,
दूर-दूर तक फहर रहा था
श्यामल शैलतटी का अञ्चल।

एक विन्दु पर मिले मार्ग दो
आकर दो प्रतिकूल विजन से,
संगम पर था भवन-कला का
सुन्दर घनीभूत गायन से।

अमित प्रभा फैला जलता था
महाज्ञान - आलोक चिरन्तन,
दीवारों पर स्वर्णांकित था
"सत्य भ्रमर, सुन्दरता गुञ्जन।

प्रखर अजस्र कर्मधारा के
अन्तराल में छिप कम्पन - सी,
सुन्दरता गुंजार कर रही
भावों के तर्गायन - सी।

प्रेम सत्य की प्रथम प्रभा है
जिधर अमर छवि लहराती है,
उधर सत्य की प्रभा प्रेम बन
बेसुध - सी दौड़ी जाती है।

प्रेमाकुल जब हृदय स्वयं मिट
हो जाता सुन्दरता में लय,
दर्शन देता उसे स्वयं तब
सुन्दर बनकर सत्य निरामय।"

देखा, कवि का स्वप्न मधुर था
उसकी अमिय धार जीवन में;
पूर्णचन्द्र बन चमक रहे थे
'शिव'-'सुन्दर' आनन्द-गगन में।

मानवता देवत्व हुई थी
मिले प्राण आनन्द अमर से,
कला-तीर्थ में आज मिला था
महा सत्य भावुक सुन्दर से॥

हिमालय के प्रति

मेरे नगपति! मेरे विशाल!
साकार, दिव्य, गौरव विराट,
पौरुष के पुंजीभूत ज्वाल!
मेरी जननी के हिम-किरीट,
मेरे भारत के दिव्य भाल!
मेरे नगपति! मेरे विशाल!

युग-युग अजेय, निर्बन्ध, मुक्त
युग-युग गर्वोन्नत, नित महान,
निस्सीम व्योम में तान रहा
युग से किस महिमा का वितान?

रामधारीसिंह 'दिनकर'

कैसी अखण्ड यह चिर-समाधि
यतिवर ! कैसा यह अमर ध्यान ,
तू महाशून्य में खोज रहा
किस जटिल समस्या का निदान !
उलझन का कैसा विषम जाल ,
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

ओ, मौन तपस्या-लीन यती
पल-भर को तो कर दृगोन्मेष ,
रे ज्वालाओं से दग्ध विकल
है तड़प रहा पद पर स्वदेश ।

सुख सिन्धु पंचनद, ब्रह्मपुत्र
गङ्गा, यमुना की अमिय धार ,
जिस पुण्यभूमि की ओर बही
तेरी विगलित करुणा उदार ।

जिसके द्वारों पर खड़ा क्रान्त
सीमापति ! तूने की पुकार ,
'पद-दलित इसे करना पीछे ,
पहले ले मेरा सिर उतार ।'

उस पुण्यभूमि पर आज तपी
रे आन पड़ा संकट कराल ,
व्याकुल तेरे सुत तड़प रहे
डँस रहे चतुर्दिक् विविध व्याल ।
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

कितनी मणियाँ लुट गईं ! मिटा
कितना मेरा वैभव अशेष ,
तू ध्यान-मग्न ही रहा, इधर
वीरान हुआ प्यारा स्वदेश ।

कितनी द्रुपदा के बाल खुले
कितनी कलियों का अन्त हुआ,
कह हृदय खोल चित्तौर ! यहाँ
कितने दिन ज्वाल-वसन्त हुआ।

पूछे, सिकता-कण से हिमपति
तेरा वह राजस्थान कहाँ ?
वन-वन स्वतन्त्रता-दीप लिये
फिरने वाला बलवान कहाँ ?

तू पूछ अवध से, राम कहाँ
वृन्दा ! बोलो, घनश्याम कहाँ ?
ओ मगध ! कहाँ मेरे अशोक
वह चन्द्रगुप्त बलधाम कहाँ ?

पैरों पर ही है पड़ी हुई
मिथिला भिखारिणी सुकुमारी,
तू पूछ, कहाँ इसने खोईं
अपनी अनन्त निधियाँ सारी।

री कपिलवस्तु ! कह बुद्धदेव
के वे मंगल उपदेश कहाँ ?
तिब्बत, इरान, जापान चीन
तक गये हुए सन्देश कहाँ ?

वैशाली के भग्नावशेष से
पूछ लिच्छवी-शान कहाँ ?
ओ री उदास गंडकी ! बता
विद्यापति कवि के गान कहाँ ?

तू मौन त्यागकर पूछ आज
बंगाल, नवाबी ताज कहाँ ?
भारत का अन्तिम ज्योति-नयन
मेरा प्यारा सीराज कहाँ ?

तू तरुण देश से पूछ अरे
गूँजा कैसा यह ध्वंस-राग ?
अम्बुधि अन्तस्तल बीच छिपी ?
यह सुलग रही है कौन आग ?

प्राची के प्रांगण बीच देख
जल रहा स्वर्ण-युग अग्निज्वाल,
तू सिंहनाद कर जाग यती !
मेरे नगपति ! मेरे विशाल !

रे रोक युधिष्ठिर को न यहाँ
जाने दे उनको स्वर्ग धीर,
पर फिरा हमें गांडीव, गदा
लौटा दे अर्जुन, भीम वीर।

कह दे शंकर से आज करें
वे प्रलय-नृत्य फिर एक बार,
सारे भारत में गूँज उठे
'हर हर बम' का फिर महोच्चार।

ले अँगड़ाई उठ, हिले धरा
कर निज विराट स्वर में निनाद,
तू शैलराट् ! हुंकार भरे
फट जाय कुहा, भागे प्रमाद !

तू मौन त्याग, कर सिंहनाद
रे तपी ! आज तप का न काल,
नवयुग शंखध्वनि जगा रही
तू जाग, जाग, मेरे विशाल !

मेरी जननी के हिम किरीट
मेरे भारत के दिव्य भाल,
नवयुग शंखध्वनि जगा रही
जागो नगपति ! जागो विशाल !

हाहाकार

दिव की ज्वलित शिखा-सी उड़ तुम जब से लिपट गई जीवन में ;
तृषावन्त मैं घूम रहा, कविते ! तब से व्याकुल त्रिभुवन में ।
उर में दाह, कण्ठ में ज्वाला सम्मुख यह प्रभु का मरुथल है ;
जहाँ पथिक जल की झाँकी में एक बूँद के लिए विकल है !
घर-घर देखा धुआँ, धरा पर सुना, विश्व में आग लगी है ;
'जल ही जल' जन-जन रटते हैं कण्ठ कण्ठ में प्यास जगी है !
सूख गया रस श्याम गगन का एक घूँट विष जग का पीकर ;
ऊपर ही ऊपर जल जाते सृष्टि - ताप से पावस - सीकर ।
मनुज वंश के अश्रु-योग से जिस दिन हुआ सिन्धु-जल खारा !
गिरि ने चीर लिया निज उर, मैं ललक पड़ा लख जल की धारा ।
पर विस्मित रह गया, लगी पीने जब वही मुझे सुधि खोकर ;
कहती—'गिरि को फाड़ चली हूँ मैं भी बड़ी पिपासित होकर !'
यह वैषम्य नियति का मुझपर किस्मत बड़ी धन्य उन कवि की ,
जिनके हित कविते ! बनतीं तुम झाँकी नग्न अनावृत छवि की ।
दुखी विश्व से दूर जिन्हें लेकर आकाश-कुसुम के वन मे
खेल रही तुम अलस जलद्-सी किसी दिव्य नन्दन-कानन में ।
भूषण-वसन जहाँ कुसुमों के कहीं कुलिश का नाम नहीं है ,
दिन भर सुमन-हार-गुम्फन को छोड़ दूसरा काम नहीं है ।
वही धन्य, जिनको लेकर तुम बसी कल्पना के शतदल पर ;
जिनका स्वप्न तोड़ पाती है मिट्टी नहीं चरण-तल बजकर ।
मेरी भी यह चाह, विलासिनि ! सुन्दरता को शीश झुकाऊँ ;
जिधर-जिधर मधुमयी बसी हो उधर बसन्तानिल बन धाऊँ ।
एक चाह कवि की यह देखूँ—छिपकर कभी पहुँच मालिनि-तट ,
किस प्रकार चलती मुनि-बाला यौवनवती लिये कटि पर घट ।
झाँकूँ उस माधवी-कुञ्ज में, जो बन रहा स्वर्ग कानन में ;
प्रथम परस की जहाँ अरुणिमा सिहर रही तरुणी-आनन में ।
जनारण्य से दूर स्वप्न में मैं भी निज संसार बसाऊँ ,
जग का आर्त्तनाद सुन अपना हृदय फाड़ने से बच जाऊँ ।

फूट जाती ज्यों किरण विहँस सारा दिनकर लहरों पर झिल-मिल;
खो जाऊँ त्यों हर्ष मनाता, मैं भी निज स्वप्नों से हिलमिल।
पर नभ में न कुटी बन पाती मैंने कितनी युक्ति लगाई,
आधी मिटती कभी कल्पना कभी उजड़ती बनी-बनाई।
रह रह पंखहीन खग-सा मैं गिर पड़ता भू की हलचल में;
झटिका एक बहा ले जाती स्वप्न-राज्य आँसू के जल में।
कुपित देव की शाप-शिखा जब विद्युत बन सिर पर छा जाती,
उठता चीख हृदय विद्रोही अन्ध भावनाएँ जल जातीं।
निरख प्रतीची-रक्त-मेघ में अस्तप्राय रवि का मुख-मण्डल,
पिघल-पिघल कर चू पड़ता है दृग से क्षुभित, विवश अन्तस्तल।
रणित विषम रागिनी मरण की आज विकट हिंसा-उत्सव में;
दबे हुए अभिशाप मनुज के लगे उदित होने फिर भव में।
शोणित से रँग रही शुभ्र पट संस्कृति निठुर लिये करवालें,
जला रही निज सिंहपौर पर दलित-दीन की अस्थि-मशालें।
घूम रही सभ्यता दानवी, 'शान्ति! शान्ति!' करती भूतल में,
पूछे कोई भिगो रही वह क्यों अपने विष-दन्त गरल में।
टॉक रही हो सुई चर्म, पर, शान्त रहें हम तनिक न डोलें;
यही शान्ति, गर्दन कटती हो, पर हम अपनी जीभ न खोलें!
बोलें कुछ मत क्षुधित, रोटियाँ श्वान छीन खायें यदि कर से;
यही शान्ति, जब वे आयें, हम निकल जायँ चुपके निज घर से!
हव्शी पढ़ें पाठ संस्कृति के खड़े गोलियों की छाया में;
यही शान्ति, वे मौन रहें जब आग लगे उनकी काया में!
चूस रहे हों दनुज रक्त पर, हों मत दलित प्रबुद्ध कुमारी!
हो न कहीं प्रतिकार पाप का, शान्ति या कि यह युद्ध कुमारी!
जेठ हो कि हो पूस, हमारे कृषकों को आराम नहीं है,
छुटे बैल से संग कभी, जीवन में ऐसा याम नहीं है।
मुख में जीभ, शक्ति भुज में, जीवन में सुख का नाम नहीं है,
वसन कहाँ! सूखी रोटी भी मिलती दोनों शाम नहीं है।

विभव-स्वप्न से दूर, भूमि पर यह दुखमय संसार कुमारी !
खलिहानों में जहाँ मचा करता है हाहाकार कुमारी !
बैलों के ये बन्धु वर्ष भर क्या जानें, कैसे जीते हैं !
जबाँ बन्द, बहती न आँख गम खा, शायद, आँसू पीते हैं !
पर, शिशु का क्या हाल, सीख पाया न अभी जो आँसू पीना ?
चूस-चूस सूखा स्तन माँ का सो जाता रो-विलप नगीना।
विवश देखती माँ, अंचल से नन्हीं जान तड़प उड़ जाती ;
अपना रक्त पिला देती यदि फटती आज वज्र की छाती।
कब्र-कब्र में अबुध बालकों की भूखी हड्डी रोती है ;
"दूध, दूध !" की कदम-कदम पर सारी रात सदा होती है।
"दूध, दूध !" ओ वत्स ! मन्दिरों में बहरे पाषाण यहाँ हैं ;
"दूध, दूध !" तारे, बोलो, इन बच्चों के भगवान कहाँ हैं ?
"दूध, दूध !" दुनियाँ सोती है, लाऊँ दूध कहाँ, किस घर से ?
"दूध, दूध !" हे देव गगन के ! कुछ बूँदें टपका अम्बर से।
"दूध, दूध !" गंगा, तू ही अपने पानी को दूध बना दे,
"दूध, दूध " उफ ! है कोई भूखे मुर्दों को जरा मना दे ?
"दूध, दूध !" फिर "दूध !" अरे, क्या याद दूध की खो न सकोगे ?
"दूध, दूध !" मर कर भी क्या तुम बिना दूध के सो न सकोगे ?
वे भी यहीं, दूध से जो अपने श्वानों को नहलाते हैं।
ये बच्चे भी यहीं, कब्र में "दूध ! दूध" जो चिल्लाते हैं।
बेकसूर, नन्हें देवों का शाप विश्व पर पड़ा हिमालय !
हिला चाहता मूल सृष्टि का, देख रहा क्या खड़ा हिमालय ?
"दूध, दूध !" फिर सदा क़ब्र की आज दूध लाना ही होगा ;
जहाँ दूध के घड़े मिलें, उस मंजिल पर जाना ही होगा।
जय मानव की धरा साक्षिणी ! जय विशाल अम्बर की जय हो !
जय गिरिराज ! विन्ध्य-गिरि, जयजय ! हिन्द महासागर की जय हो !
हटो व्योम के मेघ, पन्थ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं ;
"दूध, दूध !..." ओ वत्स ! तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं।

दिल्ली

यह कैसी चाँदनी अमा के मलिन तमिस्र गगन में !
कूक रही क्यों नियति व्यंग्य से इस गोधूल-लगन में !
मरघट में तू साज रही दिल्ली कैसे शृङ्गार !
यह बहार का स्वांग अरी, इस उजड़े हुए चमन में !

इस उजाड़ निर्जन खँडहर में,
छिन्न-भिन्न उजड़े इस घर में,
तुझे रूप सजने की सूझी
मेरे सत्यानाश-प्रहर में !

डाल-डाल पर छेड़ रही कोयल मर्सिया-तराना,
और तुझे सूझा इस दम ही उत्सव हाय मनाना;
हम धोते हैं घाव इधर सतलज के शीतल जल से;
उधर तुझे भाता है इन पर नमक हाय छिड़काना !

महल कहाँ बस, हमें सहारा
केवल फूस-फाँस, तृणदल का,
अन्न नहीं, अवलम्ब प्राण को,
गम, आँसू या गङ्गाजल का !
यह विहगों का झुण्ड लक्ष्य है
आजीवन वधिकों के फल का,
मरने पर भी हमें कफ़न है
माता शैय्या के अंचल का !

गुलची निष्ठुर फेंक रहा कलियों को तोड़ अनल में,
कुछ सागर के पार और कुछ रावी-सतलज-जल में;
हम मिटते जा रहे न ज्यों अपना कोई भगवान !
यह अलका-छवि कौन भला देखेगा इस हलचल में !

बिखरी लट, आँसू छलके हैं,
देख, वन्दिनी है बिलखाती,
अश्रु पोंछने हम जाते हैं,
दिल्ली ! आह ! कलम रुक जाती !

अरी, विवश हैं, कहो, करें क्या !
पैरों में जंजीर हाय, हाथों—
में हैं कड़ियाँ कस जातीं।
और कहें क्या ! धरा न धँसती,
हुंकरता न गगन संघाती।

हाय ! वन्दिनी माँ के सम्मुख,
सुत की निष्ठुर बलि चढ़ जाती,
तड़प-तड़प हम कहो करें क्या !
'बहै न हाथ, दहै रिस छाती,
अन्तर ही अन्तर घुलते हैं,
'भा कुठार कुण्ठित रिपु-घाती'।

अपनी गर्दन रेत-रेत असि की तीखी धारों पर,
राजहंस बलिदान चढ़ाते माँ की हुंकारों पर।
पगली ! देख जरा कैसी मर-मिटने की तैयारी !
जादू चलेगा न धुन के पक्के इन बनजारों पर।

तू वैभव-मद में इठलाती,
परकीया-सी सैन चलाती,
री विलास की दासी ! किसको
इन आँखों पर है ललचाती !

हमने देखा यहीं पाण्डु—वीरों का कीर्ति-प्रसार,
वैभव का सुख-स्वप्न, कला का महा स्वप्न-अभिसार,
यहीं कभी अपनी रानी थी, तू ऐसे मत भूल,
अकबर, शाहजहाँ ने जिसका किया स्वयं शृङ्गार।

तू न ऐंठ मदमाती दिल्ली !
मत फिर यों इतराती दिल्ली !
अविदित नहीं हमें तेरी
कितनी कठोर है छाती दिल्ली !

हाय ! छिनी भूखों की रोटी
छिना नग्न का अर्द्ध वसन है,
मजदूरों के कौर छिने हैं
जिनपर उनका लगा दसन है।
छिनी सजी-साजी वह दिल्ली
अरी ! बहादुरशाह 'जफर' की,
और छिनी गद्दी लखनऊ की
वाजिदअली शाह, 'अख्तर' की।
छिना मुकुट प्यारे 'सिराज' का,
छिना अरे, आलोक नयन का,
नीड़ छिना बुलबुल फिरती है,
वन-वन लिये चंचु में तिनका।
आहें उठीं दीन कृषकों की,
मजदूरों की तड़प पुकारें,
अरी ! गरीबों के लोहू पर
खड़ी हुई तेरी दीवारें।

अङ्कित है कृषकों के दृग में तेरी निठुर निशानी,
दुखियों की कुटिया रो रो कहती तेरी मनमानी।
औ' तेरा दृग-मद यह क्या है ? क्या न खून बेकस का ?
बोल, बोल क्यों लजा रही, ओ कृषक-मेघ की रानी ?

वैभव की दीवानी दिल्ली !
कृषक मेघ की रानी दिल्ली !
अनाचार, अपमान व्यंग्य की
चुभती हुई कहानी दिल्ली !
अपने ही पति की समाधि पर
कुलटे तू छवि में इतराती !
परदेसी सँग गलबाँही दे
मन में है फूली न समाती !

दो दिन ही के बाल-डांस में
नाच हुई बेपानी दिल्ली !
कैसी यह निर्लज्ज नग्नता,
यह कैसी नादानी दिल्ली !

अरी हया कर, है जईफ यह खड़ा कुतुब मीनार,
इबरत की माँ जामा भी है यहीं अरी ! हुशियार !
इन्हें देखकर भी तो दिल्ली ! आँखें हाय फिरा ले,
गौरव के, गुरु रो न पड़ें, हा घूँघट जरा गिरा ले !

अरी हया कर, हाय अभागी !
मत फिर लज्जा को ठुकराती;
चीख न पड़े कब्र में अपनी,
फट न जाय अकबर की छाती।

हूक न उठे जहाँगिर दिल में
कूक न उठे कब्र मदमाती !
गौरव के गुरु रो न पड़ें, हा,
दिल्ली घूँघट क्यों न गिराती !

बाबर है, औरंग यहीं है
मदिरा औ' कुलटा का द्रोही,
बक्सर पर मत भूल, यहीं है
विजयी शेरशाह निर्मोही।

अरी ! सँभल, यह कब्र न फटकर कहीं बना दे द्वार !
निकल न पड़े क्रोध में लेकर शेरशाह तलवार !
समझायेगा कौन उसे फिर अरी सँभल नादान !
इस घूँघट पर आज कहीं मच जाय न फिर संहार !

जरा गिरा ले घूँघट अपना,
और याद कर वह सुख सपना,
नूरजहाँ की प्रेम-व्यथा में
दीवाने सलीम का तपना;

गुम्बद पर प्रेमिका कपोती
के पीछे कपोत का उड़ना,
जीवन की आनन्द-घड़ी में
जन्नत की परियों का जुड़ना।

जरा याद कर, यहीं नहाती—
थी मेरी मुमताज अतर में,
तुझ-सी तो सुन्दरी खड़ी—
रहती थी पैमाना ले कर में।

सुख, सौरभ, आनन्द बिछे थे
गली, कूच, वन, बीथि, नगर में,
कहती जिसे इन्द्रपुर तू वह—
तो था प्राप्य यहाँ घर-घर में।

आज आँख तेरी बिजली से कौंध-कौंध जाती है!
हमें याद उस स्नेह-दीप की बार-बार आती है!

खिलें फूल, पर, मोह न सकती
हमें अपरिचित छटा निराली,
इन आँखों में घूम रही अब
भी मुरझे गुलाब की लाली।

उठा कसक दिल में लहराता है यमुना का पानी,
पलकें जोग रहीं बीते वैभव की एक निशानी,
दिल्ली! तेरे रूप-रंग पर कैसे हृदय फँसेगा,
बाट जोहती खँडहर में हम कंगालों की रानी।

गगन का चाँद

रात यों कहने लगा मुझसे गगन का चाँद,
आदमी भी क्या अनोखा जीव होता है!
उलझनें अपनी बनाकर आप ही फँसता,
और फिर बेचैन हो जगता, न सोता है।

जानता है तू कि मैं कितना पुराना हूँ ?
मैं चुका हूँ देख मनु को जनमते-मरते;
और लाखों बार तुझ-से पागलों को भी
चाँदनी में बैठ स्वप्नों पर सही करते।

आदमी का स्वप्न ? है वह बुलबुला जल का;
आज उठता और कल फिर फूट जाता है;
किन्तु, फिर भी धन्य; ठहरा आदमी ही तो ?
बुलबुलों से खेलता, कविता बनाता है।

मैं न बोला, किन्तु, मेरी रागिनी बोली,
देख फिर से, चाँद ! मुझको जानता है तू ?
स्वप्न मेरे बुलबुले हैं ? है यही पानी ?
आग को भी क्या नहीं पहचानता है तू ?

मैं न वह जो स्वप्न पर केवल सही करते,
आग में उसको गला लोहा बनाती हूँ,
और उस पर नींव रखती हूँ नये घर की,
इस तरह दीवार फौलादी उठाती हूँ।

मनु नहीं, मनु-पुत्र है यह सामने, जिसकी
कल्पना की जीभ में भी धार होती है,
बाण ही होते विचारों के नहीं केवल,
स्वप्न के भी हाथ में तलवार होती है।

स्वर्ग के सम्राट को जाकर खबर कर दे,
"रोज ही आकाश चढ़ते जा रहे हैं वे,
रोकिये, जैसे बने इन स्वप्नवालों को,
स्वर्ग की ही ओर बढ़ते आ रहे हैं वे।"

व्याल-विजय

झूमे जहर चरण के नीचे, मैं उमंग में गाऊँ,
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(१)

यह बाँसुरी बजी माया के मुकुलित आकुंचन में,
यह बाँसुरी बजी अविनाशी के संवेश गहन में।
अस्तित्वों के अनस्तित्व में महा शान्ति के तल में,
यह बाँसुरी बजी शून्यासन की समाधि निश्चल में।
कंपहीन तेरे समुद्र में जीवन-लहर उठाऊँ,
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(२)

अक्षयवट पर बजी बाँसुरी, गगन मगन लहराया,
दल पर विधि को लिये जलधि में नाभिकमल उग आया।
जनमी नव चेतना, सिहरने लगे तत्व चल-दल से,
स्वर काले अवलम्ब भूमि निकली प्लावन के जल से।
अपने आर्द्र वसन की वसुधा को फिर याद दिलाऊँ,
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(३)

फूली सृष्टि नाद-बन्धन पर, अब तक फूल रही है,
बंसी के स्वर के धागे में धरती झूल रही है।
आदि छोर पर जो स्वर फूँका, पहुँचा अन्त तलक है,
तार-तार में गूँज गीत की, कण-कण बीच झलक है।
आलापों पर उठा जगत को भर भर पैंग झुलाऊँ।
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(४)

जगमग ओस-बिन्दु गुँथ जाते साँसों के तारों में,
गीत बदल जाते अनजाने मोती के हारों में।
जब-जब उठता नाद, मेघ मंडलाकार घिरते हैं,
आस पास बंसी के गीले इन्द्रधनुष तिरते हैं।
बाँधूँ मेघ कहाँ बंसी पर ? सुरधनु कहाँ सजाऊँ ?
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(५)

इस बंसी के मधुर नाद पर माया डोल चुकी है,
पटावरण कर दूर भेद अन्तर का खोल चुकी है।
झूम चुकी है प्रकृति, चाँदनी में, मादक गानों पर,
नचा चुका हूँ महा नर्तकी को इसकी तानों पर।
विषवर्षी पर अमृतवर्षिणी का जादू अजमाऊँ!
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(६)

उड़े नाद के जो कण ऊपर, वे बन गये सितारे,
जो नीचे रह गये, कहीं हैं फूल, कहीं अंगारे।
भींगे अधर कभी बंसी के शीतल गंगाजल से,
कभी प्राण तक झुलस उठे हैं इसके हालाहल से।
शीतलता पीकर प्रदाह से कैसे हृदय चुराऊँ!
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(७)

यह बाँसुरी बजी, मधु के सोते फूटे मधुवन में,
यह बाँसुरी बजी, हरियाली दौड़ गई कानन में।
यह बाँसुरी बजी, प्रत्यागत हुए विहंग गगन से,
यह बाँसुरी बजी, सटकर विधु चलने लगा भुवन से।
अमृत-सरोवर में धो-धो तेरा भी जहर बहाऊँ!
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(८)

यह बाँसुरी बजी, पनघट पर कालिन्दी के तट में,
यह बाँसुरी बजी मुर्दों के आसन पर मरघट में।
बजी निशा के बीच आलुलायित केशों के तम में,
बजी सूर्य के साथ यही बाँसुरी रक्त-कर्दम में।
कालियदह में मिले हुए विष को पीयूष बनाऊँ,
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ।

(९)

फूँक, फूँक विष लपट, उगल, जितना हो जहर हृदय में ,
यह बंसी निर्गरल बजेगी सदा शान्ति की लय में ।
पहचाने किस तरह भला तू निज विष का मतवाला ,
मैं हूँ साँपों की पीठों पर कुसुम लादने वाला !
विषदह से चल निकल, फूल से तेरा अंग सजाऊँ ,
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ ।

(१०)

ओ शंका के व्याल ! देख मत मेरे श्याम वदन को ,
चक्षुःश्रवा श्रवण कर बंसी के भीतर के स्वन को ।
जिसने दिया तुझे विष उसने मुझको गान दिया है ,
ईर्ष्या तुझे उसीने मुझको भी अभिमान दिया है ।
इस आशिष के लिए भाग्य पर क्यों न अधिक इतराऊँ !
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ ।

(११)

विषधारी ! मत डोल, कि मेरा आसन बहुत कड़ा है ,
कृष्ण आज लघुता में भी साँपों से बहुत बड़ा है ।
आया हूँ बाँसुरी बीच उद्धार लिये जन गण का ,
फण पर तेरे खड़ा हुआ हूँ भार लिये त्रिभुवन का ।
बढ़ा, बढ़ा नासिका, रन्ध्र में मुक्ति-सूत्र पहनाऊँ ,
तान, तान फण व्याल, कि तुझ पर मैं बाँसुरी बजाऊँ ।

रसवती भू के मनुज का श्रेय !

धर्म का दीपक, दया का दीप ,
कब जलेगा, कब जलेगा, विश्व में भगवान !
कब सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त—
हो, सरस होंगे जली-सूखी रसा के प्राण !
है बहुत बरसी धरित्री पर अमृत की धार ,
पर, नहीं अब तक सुशीतल हो सका संसार ।

भोग-लिप्सा आज भी लहरा रही उद्दाम,
बह रही असहाय नर की भावना निष्काम;
भीष्म हों अथवा युधिष्ठिर, या कि हों भगवान,
बुद्ध हों कि अशोक, गाँधी हों कि ईसु महान;
सिर झुका सबको, सभीको श्रेष्ठ निज से मान,
मात्र वाचिक ही उन्हें देता हुआ सम्मान,
दग्ध कर पर को, स्वयं भी भोगता दुख-दाह,
जा रहा मानव चला अब भी पुरानी राह।
अपहरण शोषण वही, कुत्सित वही अभियान,
खोजना चढ़ दूसरों के भस्म पर उत्थान;
शील से सुलझा न सकना आपसी व्यवहार,
दौड़ना रह-रह उठा उन्माद की तलवार।
द्रोह से अब भी वही अनुराग,
प्राण में अब भी वही फुंकार भरता नाग।
पूर्वयुग-सा आज का जीवन नहीं लाचार,
आ चुकी है दूर द्वापर से बहुत संसार;
यह समय विज्ञान का, सब भाँति पूर्ण, समर्थ;
खुल गये हैं गूढ़ संसृति के अमित गुरु अर्थ।
चीरता तम को, सँभाले बुद्धि की पतवार,
आ गया है ज्योति की नवभूमि में संसार।
आज की दुनिया विचित्र, नवीन;
प्रकृति पर सर्वत्र है विजयी पुरुष आसीन।
हैं बँधे नर के करों में वारि, विद्युत, भाप,
हुक्म पर चढ़ता-उतरता है पवन का ताप।
है नहीं बाकी कहीं व्यवधान,
लाँघ सकता नर सरित्, गिरि, सिन्धु, एक समान।
शीश पर आदेश कर अवधार्य,
प्रकृति के सब तत्व करते हैं मनुज के कार्य;

मानते हैं हुक्म मानव का महा वरुणेश,
और करता शब्दगुण अम्बर वहन सन्देश।
नव्य नर की मुष्टि में विकराल,
हैं सिमटते जा रहे प्रत्येक क्षण दिक्काल।

यह प्रगति निस्सीम! नर का यह अपूर्व विकास!
चरण-तल भूगोल! मुट्ठी में निखिल आकाश!
किन्तु है बढ़ता गया मस्तिष्क ही निःशेष,
छूट कर पीछे गया है रह हृदय का देश।
नर मनाता नित्य नूतन बुद्धि का त्योहार,
प्राण में करते दुखी हो देवता चीत्कार।
चाहिए उनको न केवल ज्ञान,
देवता हैं मांगते कुछ स्नेह, कुछ बलिदान;
मोम-सी कोई मुलायम चीज
ताप पाकर जो उठे मन में पसीज-पसीज;
प्राण के झुलसे विपिन में फूल कुछ सुकुमार;
ज्ञान के मरु मे सुकोमल भावना की धार;
चाँदनी की रागिनी, कुछ भोर की मुस्कान;
नींद में भूली हुई बहती नदी का गान;
रंग में घुलता हुआ खिलती-कली का राज;
पत्तियों पर गूँजती कुछ ओस की आवाज;
आँसुओं में दर्द की गलती हुई तस्वीर,
फूल की, रस में बसी-भींगी हुई, जंजीर।
धूम, कोलाहल, थकावट, धूल के उस पार,
शीत जल से पूर्ण कोई मन्दगामी धार;
वृक्ष के नीचे जहाँ मन को मिले विश्राम,
आदमी काटे जहाँ कुछ छुट्टियाँ, कुछ शाम;
कर्म-संकुल लोक-जीवन से समय कुछ छीन,
हो जहाँ पर बैठ नर कुछ पल स्वयं में लीन—

फूल-सा एकान्त में उर खोलने के हेतु ;
शाम को दिन की कमाई तोलने के हेतु।
ले चुकी सुख-भाग समुचित से अधिक है देह ;
देवता हैं माँगते मन के लिए लघु गेह।
हाय रे मानव, नियति का दास !
हाय रे मनुपुत्र, अपना आप ही उपहास !
प्रकृति की प्रच्छन्नता को जीत,
सिन्धु से आकाश तक सबको किये भयभीत ;
सृष्टि को निज बुद्धि से करता हुआ परिमेय,
चीरता परमाणु की सत्ता असीम, अजेय,
बुद्धि के पवमान में उड़ता हुआ असहाय,
जा रहा तू किस दिशा की ओर को निरुपाय ?
लक्ष्य क्या ? उद्देश्य क्या ? क्या अर्थ ?
यह नहीं यदि ज्ञात तो विज्ञान का श्रम व्यर्थ।
सुन रहा आकाश चढ़ ग्रह-तारकों का नाद ;
एक छोटी बात ही पड़ती न तुझको याद।
एक छोटी, एक सीधी बात,
विश्व में छाई हुई है वासना की रात।
वासना की यामिनी, जिसके तिमिर से हार,
हो रहा नर भ्रान्त अपना आप ही आहार ;
बुद्धि में नभ की सुरभि, तन में रुधिर की कीच,
यह वचन से देवता, पर, कर्म से पशु नीच।
यह मनुज,
जिसका गगन में जा रहा है यान ;
काँपते जिसके करों को देख कर परमाणु।
खोलकर अपना हृदय गिरि सिन्धु, भू, आकाश
हैं सुना जिसको चुके निज गुह्यतम इतिहास।
खुल गये परदे, रहा अब क्या यहाँ अज्ञेय ?

'किन्तु, नर को चाहिए नित विघ्न कुछ दुर्जेय ;
सोचने को और करने को नया संघर्ष,
नव्य जय का क्षेत्र, पाने को नया उत्कर्ष ।
पर, धरा सुपरीक्षिता, विश्लिष्ट, स्वाद-विहीन,
यह पढ़ी पोथी न दे सकती प्रवेग नवीन ;
एक लघु हस्तामलक यह भूमि-मण्डल गोल,
मानवों ने पढ़ लिये सब पृष्ठ जिसके खोल ।
किन्तु, नर-प्रज्ञा सदा गतिशालिनी, उद्दाम,
ले नहीं सकती कहीं रुक एक पल विश्राम ।
यह परीक्षित भूमि, यह पोथी पठित, प्राचीन
सोचने को दे उसे अब बात कौन नवीन ?
यह लघुग्रह भूमिमण्डल, व्योम यह संकीर्ण,
चाहिए नर को नया कुछ और जग विस्तीर्ण ।
घुट रही नर-बुद्धि की है साँस ;
चाहती वह कुछ बड़ा जग, कुछ बड़ा आकाश ।
यह मनुज, जिसके लिए लघु हो रहा भूगोल,
अपर-ग्रह-जय की तृषा जिसमें उठी है बोल ।
यह मनुज विज्ञान में निष्णात,
जो करेगा स्यात्, मङ्गल और विधु से बात ।
यह मनुज, ब्रह्माण्ड का सबसे सुरम्य प्रकाश,
कुछ छिपा सकते न जिससे भूमि या आकाश ।
यह मनुज, जिसकी शिखा उद्दाम,
कर रहे जिसको चराचर भक्तियुक्त प्रणाम ।
यह मनुज, जो सृष्टि का शृङ्गार ।
ज्ञान का, विज्ञान का, आलोक का आगार ।
पर, सको सुन तो सुनो, मंगल-जगत के लोग !
तुम्हें छूने को रहा जो जीव कर उद्योग—
वह अभी पशु है; निरा पशु, हिंस्र, रक्त-पिपासु,

बुद्धि उसकी 'दानवी' है स्थूल की जिज्ञासु ।
कड़कता उसमें किसी का जब कभी अभिमान,
फूँकने लगते सभी, हो मत्त, मृत्यु-विषाण ।
यह मनुज ज्ञानी, शृगालों, कुक्कुरों से हीन—
हो, किया करता अनेकों क्रूर कर्म मलीन ।
देह ही लड़ती नहीं हैं, जूझते मन प्राण,
साथ होते ध्वंस में इसके कला-विज्ञान ।
इस मनुज के हाथ में विज्ञान के भी फूल,
वज्र होकर छूटते शुभ धर्म अपना भूल ।
यह मनुज, जो ज्ञान का आगार !
यह मनुज, जो सृष्टि का शृंगार !
नाम सुन भूलो नहीं, सोचो-विचारो कृत्य ।
यह मनुज, संहार-सेवी, वासना का भृत्य ।
छद्म इसकी कल्पना, पाषण्ड इसका ज्ञान,
यह मनुष्य, मनुष्यता का घोरतम अपमान ।
'व्योम से पाताल तक सब कुछ इसे है ज्ञेय',
पर, न यह परिचय मनुज का, यह न उसका श्रेय ।
श्रेय उसका, बुद्धि पर चैतन्य उर की जीत;
श्रेय मानव की असीमित मानवों से प्रीति;
एक नर से दूसरे के बीच का व्यवधान
तोड़ दे जो, बस वही ज्ञानी, वही विद्वान,
और मानव भी वही ।

जो जीव बुद्धि-अधीर

तोड़ता अणु ही, न इस व्यवधान का प्राचीर;
वह नहीं मानव; मनुज से उच्च, लघु या भिन्न ।
चित्र-प्राणी है किसी अज्ञात ग्रह का छिन्न ।
स्यात्, मङ्गल या शनिश्चर लोक का अवदान,
अजनबी करता सदा अपने ग्रहों का ध्यान ।

रसवती भू के मनुज का श्रेय,
यह नहीं विज्ञान, विद्या-बुद्धि यह आग्नेह;
विश्व-दाहक, मृत्यु-वाहक, सृष्टि का संताप,
भ्रान्त पथ पर अन्ध बढ़ते ज्ञान का अभिशाप।
भ्रमित प्रज्ञा का कुतुक यह इन्द्रजाल विचित्र,
श्रेय मानव के न, आविष्कार ये अपवित्र।
सावधान मनुष्य, यदि विज्ञान है तलवार,
तो इसे दे फेंक, तज कर मोह, स्मृति के पार।
हो चुका है सिद्ध, है तू शिशु अभी अज्ञान;
फूल-काँटों की तुझे कुछ भी नहीं पहचान।
खेल सकता तू नहीं ले हाथ में तलवार,
काट लेगा अङ्ग, तीखी है बड़ी यह धार।
रसवती भू के मनुज का श्रेय,
यह नहीं विज्ञान कटु, आग्नेय।
श्रेय उसका, प्राण में बहती प्रणय की वायु,
मानवों के हेतु अर्पित मानवों की आयु।
श्रेय उसका आँसुओं की धार,
श्रेय उसका, भग्न वीणा की अधीर पुकार।
दिव्य भावों के जगत में जागरण का गान,
मानवों का श्रेय, आत्मा का किरण-अभियान।
यजन, अर्पण, आत्मसुख का त्याग,
श्रेय मानव का, तपस्या की दहकती आग।
बुद्धि-मन्थन से विनिर्गत श्रेय वह नवनीत—
जो करे नर के हृदय को स्निग्ध, सौम्य, पुनीत।
श्रेय वह विज्ञान का वरदान,
हो सुलभ सबको सहज जिसका रुचिर अवदान।
श्रेय वह नर-बुद्धि का शिवरूप आविष्कार,
ढो सके जिससे प्रकृति सबके सुखों का भार।

मनुज के श्रम के अपव्यय की प्रथा रुक जाय,
सुख-समृद्धि-विधान में नर के, प्रकृति झुक जाय।
श्रेय होगा मनुज का समता-विधायक ज्ञान,
स्नेह-सिञ्चित-न्याय पर नव विश्व का निर्माण।
एक नर में अन्य का निःशंक, दृढ़ विश्वास,
धर्मदीप्त मनुष्य का उज्ज्वल नया इतिहास—
समर, शोषण, ह्रास की विरुदावली से हीन,
पृष्ठ जिसका एक भी होगा न दग्ध, मलीन।
मनुज का इतिहास जो होगा सुधामय कोष,
छलकता होगा सभी नर का जहाँ सन्तोष।
युद्ध की ज्वर-भीति से हो मुक्त,
जब कि होगी सत्य ही वसुधा सुधा से युक्त।
श्रेय होगा सुष्ठु विकसित मनुज का वह काल,
जब नहीं होगी धरा नर के रुधिर से लाल।
श्रेय होगा धर्म का आलोक वह निर्बन्ध,
मनुज जोड़ेगा मनुज से जब उचित सम्बन्ध।
साम्य की वह रश्मि स्निग्ध, उदार,
कब खिलेगी, कब खिलेगी विश्व में भगवान!
कब सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त—
हो, सरस होंगे जली-सूखी रसा के प्राण!

———

हरवंशराय 'बच्चन'

पगध्वनि

(१)

पहचानी वह पगध्वनि मेरी,
वह पगध्वनि मेरी पहचानी!

नन्दन वन में उगनेवाली
मेंहदी जिन तलवों की लाली
बनकर भू पर आई, आली!

मैं उन तलवों से चिर परिचित,
मैं उन तलवों का चिर ज्ञानी!
वह पगध्वनि मेरी पहचानी!

(२)

ऊषा ले अपनी अरुणाई,
ले कर-किरणों की चतुराई,
जिनमें जावक रचने आई,

मैं उन चरणों का चिर प्रेमी,
मैं उन चरणों का चिर ध्यानी।
वह पगध्वनि मेरी पहचानी!

(३)

उन मृदु चरणों का चुम्बन कर
ऊसर भी हो उठता उर्वर,
तृण-कलि-कुसुमों से जाता भर

मरुथल मधुवन बन लहराते,
पाषाण पिघल होते पानी!
वह पगध्वनि मेरी पहचानी!

(४)

उन चरणों की मंजुल उँगली
पर नख-नक्षत्रों की अवली,
जीवन के पथ की ज्योति भली,
जिसका अवलंबन कर जग ने
सुख-सुषमा की नगरी जानी।
वह पगध्वनि मेरी पहचानी।

(५)

उन पद-पद्मों के प्रभ रजकण
का अंजित कर मंत्रित अंजन
खुलते कवि के चिर अंध नयन!
तम से आकर उर से मिलती
स्वप्नों की दुनिया की रानी।
वह पगध्वनि मेरी पहचानी!

(६)

उन सुन्दर चरणों का अर्चन
करते आँसू से सिंधु-नयन!
पद-रेखा में उच्छ्वास पवन
देखा करता अंकित अपनी
सौभाग्य सुरेखा कल्याणी।
वह पगध्वनि मेरी पहचानी!

उन चल चरणों की कल छम-छम
से ही था निकला नाद प्रथम,
गति से, मादक तालों का क्रम,
संगीत, जिसे सारे जग ने
अपने सुख की भाषा मानी।
वह पगध्वनि मेरी पहचानी!

(८)

हो शान्त, जगत के कोलाहल !
रुक जा, री जीवन की हलचल !
मैं दूर पड़ा सुन लूँ दो पल,
सन्देश नया जो लाई है,
यह चाल किसीकी मस्तानी !
वह पगध्वनि मेरी पहचानी !

(९)

किसके तमपूर्ण प्रहर भागे ?
किसके चिर सोये दिन जागे ?
सुख-स्वर्ग हुआ किसके आगे ?
होगी किसके कंपित कर से
इन शुभ चरणों की अगवानी ?
वह पगध्वनि मेरी पहचानी !

(१०)

बढ़ता जाता घुँघरू का रव,
क्या यह भी हो सकता सम्भव ?
यह जीवन का अनुभव अभिनव !
पदचाप शीघ्र, पद-राग तीव्र !
स्वागत को उठ, रे कवि मानी !
वह पगध्वनि मेरी पहचानी !

(११)

ध्वनि पास चली मेरे आती,
सब अंग शिथिल, पुलकित छाती,
लो, गिरतीं पलकें मदमाती,
पग को परिरम्भण करने की,
पर, इन युग बाहों ने ठानी !
वह पगध्वनि मेरी पहचानी !

(१२)

रव गूँजा भू पर, अम्बर में,
सर में, सरिता में, सागर में,
प्रत्येक श्वास में, प्रति स्वर में,
किस-किसका आश्रय ले फैलें,
मेरे हाथों की हैरानी !
वह पगध्वनि मेरी पहचानी !

(१३)

ये ढूँढ रहे ध्वनि का उद्गम,
मन्जीर-मुखर-युत पद निर्मम,
है ठौर सभी जिनकी ध्वनि सम,
इनको पाने का यत्न वृथा,
श्रम करना केवल नादानी ।
वह पगध्वनि मेरी पहचानी !

(१४)

ये कर नभ-जल-थल में भटके,
आकर मेरे उर पर अटके,
जो पग द्वय थे अन्दर घट के,
ये ढूँढ़ रहे उनको बाहर
ये युग कर मेरे अज्ञानी !
वह पगध्वनि मेरी पहचानी !

(१५)

उर के ही मधुर अभाव चरण
बन करते स्मृति-पट पर नर्तन,
मुखरित होता रहता बन-बन
मैं ही इन चरणों में नूपुर,
नूपुर-ध्वनि मेरी ही वाणी !
वह पगध्वनि मेरी पहचानी !

इस पार—उस पार

(१)

इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो ,
उस पार न जाने क्या होगा !

यह चाँद उदित होकर नभ में
कुछ ताप मिटाता जीवन का ,
लहरा-लहरा यह शाखाएँ
कुछ शोक भुला देतीं मन का ,
कल मुर्झानेवाली कलियाँ
हँसकर कहतीं हैं मग्न रहो !
बुलबुल तरु की फुनगी पर से
सन्देश सुनाती यौवन का ,
तुम देकर मदिरा के प्याले
मेरा मन बहला देती हो ,
उस पार मुझे बहलाने का
उपचार न जाने क्या होगा !
इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो ,
उस पार न जाने क्या होगा !

(२)

जग में रस की नदियाँ बहतीं ,
रसना दो बूँदें पाती है ,
जीवन की, झिलमिल-सी झाँकी
नयनों के आगे आती है ,
स्वर-तालमयी वीणा बजती ,
मिलती है बस झंकार मुझे ,
मेरे सुमनों की गन्ध कहीं
यह वायु उड़ा ले जाती है !

ऐसा सुनता, उस पार, प्रिये,
ये साधन भी छिन जायेंगे;
तब मानव की चेतनता का
आधार न जाने क्या होगा!
इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो,
उस पार न जाने क्या होगा!

(३)

प्याला है, पर पी पायेंगे,
है ज्ञात नहीं इतना हमको,
इस पार नियति ने भेजा है
असमर्थ बना कितना हमको!
कहनेवाले, पर, कहते हैं,
हम कर्मों में स्वाधीन सदा,
करनेवालों की परवशता
है ज्ञात किसे, जितनी हमको?
कह तो सकते हैं, कहकर ही
कुछ दिल हल्का कर लेते हैं;
उस पार अभागे मानव का
अधिकार न जाने क्या होगा!
इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो,
उस पार न जाने क्या होगा!

(४)

कुछ भी न किया था जब उसका,
उसने पथ में काँटे बोये,
वे भार दिये धर कन्धों पर,
जो रो-रो कर हमने ढोये,
महलों के सपनों के भीतर
जर्जर खँडहर का सत्य भरा!

उर में ऐसी हलचल भर दी,
दो रात न हम सुख से सोये!
अब तो हम अपने जीवन भर
उस क्रूर-कठिन को कोस चुके,
उस पार नियति का मानव से
व्यवहार न जाने क्या होगा!
इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो,
उस पार न जाने क्या होगा!

(५)

संसृति के जीवन में, सुभगे!
ऐसी भी घड़ियाँ आयेंगी,
जब दिनकर की तमहर किरणें
तम के अन्दर छिप जायेंगी,
जब निज प्रियतम का शव रजनी
तम की चादर से ढक देगी,
तब रवि-शशि-पोषित यह पृथिवी
कितने दिन खैर मनायेगी!
जब इस लम्बे-चौड़े जग का
अस्तित्व न रहने पायेगा,
तब तेरा-मेरा नन्हा-सा
संसार न जाने क्या होगा!
इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो,
उस पार न जाने क्या होगा!

(६)

ऐसा चिर पतझड़ आयेगा,
कोयल न कुहुक फिर पायेगी,
बुलबुल न अँधेरे में गा-गा
जीवन की ज्योति जगायेगी,

अगणित मृदु-नव पल्लव के स्वर
'मर-मर' न सुने फिर जायेंगे,
अलि-अवली कलि-दल पर गुञ्जन
करने के हेतु न आयेगी;
जब इतनी रसमय ध्वनियों का
अवसान, प्रिये, हो जायेगा,
तब शुष्क हमारे कण्ठों का
उद्गार न जाने क्या होगा!
इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो,
उस पार न जाने क्या होगा!

(७)

सुन काल प्रबल का गुरु गर्जन
निर्झरिणी भूलेगी नर्तन,
निर्झर भूलेगा निज 'टल-मल',
सरिता, अपना 'कल-कल' गायन,
वह गायक-नायक सिन्धु कहीं
चुप हो छिप जाना चाहेगा!
मुहँ खोल खड़े रह जायेंगे
गंधर्व, अप्सरा, किन्नरगण!
संगीत सजीव हुआ जिनमें,
जब मौन वही हो जायेंगे,
तब, प्राण, तुम्हारी तन्त्री का
जड़ तार न जाने क्या होगा!
इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो,
उस पार न जाने क्या होगा!

(८)

उतरे इन आँखों के आगे
जो हार चमेली ने पहने,
वह छीन रहा, देखो, माली
सुकुमार लताओं के गहने,

दो दिन में खींची जायेगी
ऊषा की साड़ी सिंदूरी,
पट इन्द्रधनुष का सतरंगा
पायेगा कितने दिन रहने!
जब मूर्तिमती सत्ताओं की
शोभा-सुषमा लुट जायेगी,
तब कवि के कल्पित स्वप्नों का
शृंगार न जाने क्या होगा!
इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो,
उस पार न जाने क्या होगा!

(९)

दृग देख जहाँ तक पाते हैं,
तम का सागर लहराता है,
फिर भी उस पार खड़ा कोई
हम सबको खींच बुलाता है!
मैं आज चला, तुम आओगी
कल, परसों, सब सङ्गी-साथी;
दुनिया रोती-धोती रहती,
जिसको जाना है, जाता है।
मेरा तो होता मन डगमग
तट पर के ही हलकोरों से!
जब मैं एकाकी पहुँचूँगा
मँझधार, न जाने क्या होगा!
इस पार, प्रिये, मधु है, तुम हो,
उस पार न जाने क्या होगा!

कहते हैं तारे गाते हैं!

कहते हैं तारे गाते हैं!
सन्नाटा वसुधा पर छाया,
नभ में हमने कान लगाया,

फिर भी अगणित कंठों का यह राग नहीं हम सुन पाते हैं।
कहते हैं तारे गाते हैं!
स्वर्ग सुना करता यह गाना,
पृथ्वी ने तो बस यह जाना,
अगणित ओस-कणों में तारों के नीरव आँसू आते हैं।
कहते हैं तारे गाते हैं!
ऊपर देव तले मानवगण,
नभ में दोनों गायन-रोदन,
राग सदा ऊपर को उठता, आँसू नीचे झर जाते हैं।
कहते हैं तारे गाते हैं!

चाँद-सितारो, मिलकर गाओ!

चाँद-सितारो, मिलकर गाओ!
आज अधर से अधर मिले हैं,
आज बाँह से बाँह मिली,
आज हृदय से हृदय मिले हैं,
मन से मन की चाह मिली;
चाँद-सितारो मिलकर गाओ!
चाँद-सितारे मिलकर बोले,
कितनी बार गगन के नीचे
प्रणय-मिलन व्यापार हुआ है,
कितनी बार धरा पर प्रेयसि
प्रियतम का अभिसार हुआ है!
चाँद-सितारे मिलकर बोले!

× × × ×

चाँद सितारो, मिलकर रोओ!

चाँद-सितारो, मिलकर रोओ!
आज अधर से अधर अलग है,
आज बाँह से बाँह अलग,
आज हृदय से हृदय अलग है,
मन से मन की चाह अलग;

चाँद-सितारो मिलकर रोओ!
चाँद-सितारे मिलकर बोले,
कितनी बार गगन के नीचे
अटल प्रणय के बन्धन टूटे,
कितनी बार धरा के ऊपर
प्रेयसि-प्रियतम के प्रण टूटे!
चाँद-सितारे मिलकर बोले।

तुम तूफान समझ पाओगे?

तुम तूफान समझ पाओगे!
गीले-बादल, पीले रजकण,
सूखे पत्ते, रूखे तृण घन
लेकर चलता करता 'हरहर'—इसका गान समझ पाओगे!
तुम तूफान समझ पाओगे!
गंध-भरा यह मन्द पवन था,
लहराता इससे मधुवन था,
सहसा इसका टूट गया जो स्वप्न महान, समझ पाओगे!
तुम तूफान समझ पाओगे!
तोड़-मरोड़ विटप-लतिकाएँ,
नोच-खसोट कुसुम-कलिकाएँ
जाता है अज्ञात दिशा को! हटो विहगम, उड़ जाओगे!
तुम तूफान समझ पाओगे!

तब रोक न पाया मैं आँसू।

तब रोक न पाया मैं आँसू!
जिसके पीछे पागल होकर
मैं दौड़ा अपने जीवन-भर,
जब मृगजल में परिवर्तित हो मुझपर मेरा अरमान हँसा!
तब रोक न पाया मैं आँसू!

जिसमें अपने प्राणों को भर
कर देना चाहा अजर-अमर,
जब विस्मृति के पीछे छिपकर मुझपर वह मेरा गान हँसा!
तब रोक न पाया मैं आँसू!

मेरे पूजन-आराधन को,
मेरे सम्पूर्ण समर्पण को,
जब मेरी कमजोरी कहकर मेरा पूजित पाषाण हँसा!
तब रोक न पाया मैं आँसू!

अग्नि पथ! अग्नि पथ! अग्नि पथ!

अग्नि पथ! अग्नि पथ! अग्नि पथ!
वृक्ष हों भले खड़े,
हों घने, हों बड़े,
एक पत्र-छाँह भी माँग मत, माँग मत, माँग मत!
अग्नि पथ! अग्नि पथ! अग्नि पथ!

तू न थकेगा कभी!
तू न थमेगा कभी!
तू न मुड़ेगा कभी!—कर शपथ, कर शपथ, कर शपथ!
अग्नि पथ! अग्नि पथ! अग्नि पथ!

यह महान दृश्य है—
चल रहा मनुष्य है
अश्रु-स्वेद-रक्त से लथपथ, लथपथ, लथपथ!
अग्नि पथ! अग्नि पथ! अग्नि पथ!

जो बीत गई

(१)

जो बीत गई सो बात गई!

जीवन में एक सितारा था,
माना, वह बेहद प्यारा था,
वह डूब गया तो डूब गया;
अम्बर के आनन को देखो,

कितने इसके तारे टूटे,
कितने इसके प्यारे छूटे,
जो छूट गये फिर कहाँ मिले;
पर बोलो टूटे तारों पर
कब अम्बर शोक मनाता है!
जो बीत गई सो बात गई!

(२)

जीवन में वह था एक कुसुम,
थे उसपर नित्य निछावर तुम,
वह सूख गया तो सूख गया;
मधुवन की छाती को देखो,
सूखीं कितनी इसकी कलियाँ,
मुर्झाईं कितनी वल्लरियाँ,
जो मुर्झाईं फिर कहाँ खिलीं;
पर बोलो सूखे फूलों पर
कब मधुवन शोर मचाता है!
जो बीत गई सो बात गई!

(३)

जीवन में मधु का प्याला था,
तुमने तन-मन दे डाला था,
वह टूट गया तो टूट गया;
मदिरालय का आँगन देखो,
कितने प्याले हिल जाते हैं,
गिर मिट्टी में मिल जाते हैं,
जो गिरते हैं कब उठते हैं;
पर बोलो टूटे प्यालों पर
कब मदिरालय पछताता है!
जो बीत गई सो बात गई!

(४)

मृदु मिट्टी के हैं बने हुए,
मधुघट फूटा ही करते हैं,
लघु जीवन लेकर आये हैं,
प्याले टूटा ही करते हैं,
फिर भी मदिरालय के अन्दर
मधु के घट हैं, मधुप्याले हैं,
जो मादकता के मारे हैं,
वे मधु लूटा ही करते हैं;
वह कच्चा पीनेवाला है
जिसकी ममता घट-प्यालों पर,
जो सच्चे मधु से जला हुआ
कब रोता है, चिल्लाता है!
जो बीत गई सो बात गई!

प्राणसन्ध्या झुक गई

प्राण सन्ध्या झुक गई गिरि, ग्राम, तरु पर,
उठ रहा है क्षितिज के ऊपर सिंदूरी चाँद,
मेरा प्यार पहली बार लो तुम!

(१)

सूर्य जब ढलने लगा था कह गया था,
मानवो, खुश हो कि दिन अब जा रहा है,
जा रही हैं खेद, श्रम की क्रूर घड़ियाँ,
औ' समय सुन्दर, सुहाना आ रहा है,
छा गई है शान्ति खेतों में, वनों में
पर प्रकृति के वक्ष की धड़कन बना-सा,
दूर, अनजानी जगह पर एक पंछी
मन्द लेकिन मस्त स्वर से गा रहा है,

औ' धरा की पीन पलकों पर विनिद्रित
एक सपने-सा मिलन का क्षण हमारा,
स्नेह के कन्धे प्रतीक्षा कर रहे हैं;
झुक न जाओ और देखो उस तरफ भी—
प्राण, सन्ध्या झुक गई गिरि, ग्राम, तरु पर,
उठ रहा है क्षितिज के ऊपर सिंदूरी चाँद,
मेरा प्यार पहली बार लो तुम।

(२)

इस समय हिलती नहीं है एक डाली,
इस समय हिलता नहीं है एक पत्ता,
यदि प्रणय जागा न होता इस निशा में
सुप्त होती विश्व की सम्पूर्ण सत्ता,
वह मरण की नींद होती जड़-भयंकर
और उसका टूटना होता असम्भव,
प्यार से संसार सोकर जागता है,
इसलिए है प्यार की जग में महत्ता,
हम किसी के हाथ में साधन बने हैं
सृष्टि की कुछ माँग पूरी हो रही है,
हम नहीं अपराध कोई कर रहे हैं,
मत लजाओ और देखो उस तरफ भी—
प्राण, रजनी भिंच गई नभ के भुजों में,
थम गया है शीश पर निरुपम रुपहरा चाँद,
मेरा प्यार बारम्बार लो तुम।
प्राण, सन्ध्या झुक गई गिरि, ग्राम, तरु पर,
उठ रहा है क्षितिज के ऊपर सिंदूरी चाँद,
मेरा प्यार पहली बार लो तुम।

(३)

पूर्व से पच्छिम तलक फैले गगन के
मन-फलक पर अनगिनत अपने करों से

चाँद सारी रात लिखने में लगा था
'प्रेम' जिसके सिर्फ ढाई अक्षरों से
हो अलंकृत आज कुछ नभ दूसरा ही
लग रहा है, और लो जग-जग विहग दल
पढ़ इसे, जैसे नया यह मंत्र कोई,
हर्ष करते व्यक्त पुलकित पर, स्वरों से ;
किन्तु तृष-तृष ओस छन-छन कह रही है,
आगई बेला विदा के आँसुओं की,
यह विचित्र विडम्बना पर कौन चारा,
हो न कातर और देखो उस तरफ भी—
प्राण राका उड़ गई प्रातः पवन में,
ढल रहा है क्षितिज के नीचे शिथिल-तन चाँद,
मेरा प्यार अंतिम बार लो तुम।
प्राण, सन्ध्या झुक गई गिरि, ग्राम, तरु पर,
उठ रहा है क्षितिज के ऊपर सिंदूरी चाँद,
मेरा प्यार पहली बार लो तुम।

तुम गा दो

(१)

तुम गा दो, मेरा गान अमर हो जाये!
मेरे वर्ण - वर्ण विशृंखल,
चरण - चरण भरमाये,
गूँज - गूँजकर मिटनेवाले
मैंने गीत बनाये;
कूक हो गई हूक गगन की
कोकिल के कण्ठों पर,
तुम गा दो, मेरा गान अमर हो जाये!

(२)

जब - जब जग ने कर फैलाये,
मैंने कोष लुटाया,

रंक हुआ मैं निज निधि खोकर
जगती ने क्या पाया !
भेंट न जिसमें मैं कुछ खोऊँ
पर तुम सब कुछ पाओ,
तुम ले लो, मेरा दान अमर हो जाये !
तुम गा दो, मेरा गान अमर हो जाये !

(३)

सुन्दर और असुन्दर जग में
मैंने क्या न सराहा,
इतनी ममतामय दुनिया में
मैं केवल अनचाहा;
देखूँ अब किसकी रुकती है
आ मुझपर अभिलाषा,
तुम रख लो, मेरा मान अमर हो जाये !
तुम गा दो, मेरा गान अमर हो जाये !

(४)

दुख से जीवन बीता फिर भी
शेष अभी कुछ रहता,
जीवन की अन्तिम घड़ियों में
भी तुमसे यह कहता,
सुख की एक साँस पर होता
है अमरत्व निछावर,
तुम छू दो, मेरा प्राण अमर हो जाये !
तुम गा दो, मेरा गान अमर हो जाये !

सोहनलाल द्विवेदी

गीत

यह दुराव अब चल न सकेगा।
चल न सकेगा यह संकोचन,
खुलते भावों का संगोपन;
पहचानी मुसकान तुम्हारी
भ्रकुटि-धनुष अब छल न सकेगा।
पाकर चन्द्रवदन की छाया,
शीतल बने प्राण औ' काया;
भव-आतप के अगम पन्थ में
कोई भी दुख खल न सकेगा।

अलि ! रचो छंद !

अलि ! रचो छन्द !
मधु के मधुऋतु के सौरभ के,
उल्लास भरे अवनी नभ के,
जड़जीवन का हिम पिघल चले
हो स्वर्णभरा प्रतिचरण मन्द !
अलि ! रचो छन्द !

अमराई में अभिनव पल्लव,
फुलवाई में मधुमय कलरव,
नीरव पिक का स्वर गूँज उठे
सुमनों में भर आये मरन्द।
अलि ! रचो छन्द !
वन वन में नव-नव पत्र खिलें
तरु से लतिकायें हिलें मिलें।
बह चले मुक्त जीवन प्रवाह
हो शिथिल कड़ी के बन्द-बन्द।
अलि ! रचो छन्द !

ओ हठीले जाग !
ओ हठीले जाग !
आज पलकों से निराली
अलस निद्रा त्याग !
अब नहीं वे दिन सुनहले,
औ' रजत की रात,
अब न मधु ऋतु, बह रही
पतझड़-भरी-सी वात;
आज धूसर ध्वंस में
बजता असीम विहाग !
ओ हठीले जाग !

बुझ गये हैं विभव के
वे भव्य भवन प्रदीप,
जल रहे हैं आज गृह में
व्यथा के शत-दीप !
छुट गया है भाल से
वह पूर्व अरुण सुहाग !
ओ हठीले जाग !

आज प्राची में खिलीं
किरणें मदिर रमणीय,
ला रहीं संदेश नव,
बेला बनी कमनीय,
आज नव निर्माण का
छिड़ने लगा है राग !
ओ हठीले जाग !

युगावतार गांधी

चल पड़े जिधर दो डग, मग में
चल पड़े कोटि पग उसी ओर,
पड़ गई जिधर भी एक दृष्टि
गड़ गये कोटि दृग उसी ओर;

जिसके शिर पर निज धरा हाथ
उसके सिर-रक्षक कोटि हाथ,
जिस पर निज मस्तक झुका दिया
झुक गये उसी पर कोटि माथ।

हे कोटिचरण, हे कोटिबाहु!
हे कोटिरूप, हे कोटिनाम!
तुम एकमूर्ति, प्रतिमूर्ति, कोटि
हे कोटिमूर्ति, तुमको प्रणाम!

युग बढ़ा तुम्हारी हँसी देख
युग हटा तुम्हारी भृकुटि देख,
तुम अचल मेखला बन भू की
खींचते काल पर अमिट रेख।

तुम बोल उठे, युग बोल उठा
तुम मौन बने, युग मौन बना,
कुछ कर्म तुम्हारे संचित कर
युगकर्म जगा, युगधर्म तना;

युग-परिवर्त्तक, युग-संस्थापक
युग-संचालक, हे युगाधार!
युग-निर्माता, युग-मूर्ति! तुम्हें
युग-युग तक युग का नमस्कार!

तुम युगयुग की रूढ़ियाँ तोड़
रचते रहते नित नई सृष्टि,
उठती नवजीवन की नींवें
ले नवचेतन की दिव्य-दृष्टि।

धर्माडंबर के खँडहर पर
कर पद-प्रहार, कर धराध्वस्त
मानवता का पावन मन्दिर,
निर्माण कर रहे सृजनव्यस्त!

बढ़ते ही जाते दिग्विजयी !
गढ़ते तुम अपना रामराज,
आत्माहुति के मणिमाणिक से
मढ़ते जननी का स्वर्णताज !

तुम कालचक्र के रक्त सने
दशनों को कर से पकड़ सुदृढ़,
मानव को दानव के मुँह से
ला रहे खींच बाहर बढ़ बढ़ !

पिसती कराहती जगती के
प्राणों में भरते अभय दान,
अधमरे देखते हैं तुमको,
किसने आकर यह किया त्राण ?

दृढ़ चरण, सुदृढ़ करसंपुट से
तुम कालचक्र की चाल रोक,
नित महाकाल की छाती पर
लिखते करुणा के पुण्य श्लोक !

कँपता असत्य, कँपती मिथ्या,
बर्बरता कँपती है थरथर !
कँपते सिंहासन, राजमुकुट
कँपते, खिसके आते भू पर !

हैं अस्त्र - शस्त्र कुंठित लुंठित,
सेनायें करती गृह - प्रयाण !
रणभेरी तेरी बजती है,
उड़ता है तेरा ध्वज निशान !

हे युग-द्रष्टा, हे युग-स्रष्टा,
पढ़ते कैसा यह मोक्ष-मन्त्र ?
इस राजतन्त्र के खँडहर में
उगता अभिनव भारत स्वतन्त्र !

सोहनलाल द्विवेदी

वासवदत्ता

आज से बहुत दिन पहले की कहता हूँ बात
जब कि
स्वर्णयुग का खिला था मधुर प्रभात
भारत के प्राची में ;
देश धन-धान्य से पूर्ण था ,
थे न हम परतन्त्र किसी बन्धन में ,
आये थे मुगल भी न इस देश में
अपनी थी संस्कृति अछूत, पूत पावन-विचारों से
अपना था दिवस, और, अपनी थी सभी बात ।

उसी समय ,
गौतम के गौरव का, वैभव का ,
गूँजा था विशद गान ;
गृह-गृह आमन्त्रण-निमन्त्रण तथागत का था ,
होता वह धन्य
पहुँच जाते थे देव जहाँ !
यों ही, प्रतिस्पर्धा चला करती थी दिन-रात ,
किसके गृह होंगे यह अतिथि आज !
गौतम थे ,
तरुण-अरुण-करुण श्री से वरुण-सम
कान्तिमान, तेजमान ;
कितनी ही सुन्दरियाँ, देख देख दिव्य रूप
होतीं बलिहार श्रीचरणों में तथागत के ।

एक दिवस ,
निर्जन में
मधुऋतु की सन्ध्या में
जब कि
खिल उठी थी फुल्ल मालती, लताएँ चारु ,

गंध-अंध मधुप थे दौड़ रहे चारों ओर
सुषमा की प्रतिमा,
एक तरुणी दिवांगना-सी
विधि की अनूप रचना-सी
सुन्दरी प्रणय अभिलाषा-सी,
मादक मदिरा-सी
मोहक इन्द्रधनुष-सी
आनत हो चरणों में पाणिपल्लव कर संपुटित,
आँखों में जादू-सी फेरती,
उन्नत कुचकलशी को अंचल से ढकती-सी
लज्जा से छुई मुई बनती सिकुड़ती-सी
बोली वीणा-वाणी में
'अतिथि देव !
यौवन यह अर्पित पद-पद्म में है,
इसको स्वीकार करो,
यह न तिरस्कार करो,
यौवन यह, रूप यह, जिसे प्राप्त करने को
यती यत्न करते, तपी तपते पंचाग्नि नित्य,
बड़े-बड़े चक्रवर्ती मुकुट विसर्जित कर
चाहते अधर का दान, चाहते भृकुटि का दान !
तप्त उर शीतल करो गाढ़ परिरम्भण दे।'
गौतम यह देखकर,
माया सब लेखकर,
चकित-से विस्मित-से भ्रमित-से, अवाक्-से,
लगे देखने सभी लीला वासवदत्ता की,
रूप की,
यौवन की,
यौवन के आग्रह की,

प्राणों के कम्पन की ,
सिहरन की ।
शान्त हो बोले साधु
'देवी, क्या कहती हो !
सावधान होके जरा सोचो तो
कहती क्या !
किससे फिर !
आज मैं अतिथि नहीं बनूँगा इस गृह मे ।'
इतना कह
शान्त चित्त चले गये आर्यपुत्र
क्लान्तचित्त, भ्रान्तदेह, श्रान्त बुद्धि लिये, पर, बैठी रही
वासवदत्ता मलीन ,
फूट-फूट रोती रही अपने दुर्भाग्य पर ,
विनय पर, अनुनय पर, आग्रह अनुरोध पर ,
अपने दुर्बोध पर ।
जलते उर-मरुथल में एक था सहारा किन्तु ,
गौतम थे कह गये
'आऊँगा देवि ! फिर ,
होगी जब कभी तुम्हें
मेरी छोह बाट में ।'
होती अधीर पीर उर में समेटे सब
नयनों में नीर, वासवदत्ता भी शान्त हुई ।
बीते दिवस मास ,
बीते पक्ष, वर्ष ,
बीते युग कितने !
आज वह तरुणी नवीन
वृद्ध है हो चली ,
उसका शरीर आज जर्जर है, दुर्बल है ,

कोई नहीं पूछता कहाँ रहती है वह !
आज धूलि धूसरित कलिका पड़ी है छिन्न !
भिन्न हैं सभी अभिन्न !
खिन्न चित्त को है नहीं पूछता कहीं भी कोई !
उड़ गये मधुप वे, जो कलिका में मधु देख
केसर औ कुंकुम देख
रूपलुब्ध होकर प्रबुद्ध बने
आते इस ओर खिंचे ;
तोड़कर सम्बन्ध जाति का, कुल का, समाज का ,
आज नहीं कोई कहीं आता है
दिखाई देता ।
उड़ गये, वैभव-विभव माणिक-मणि
छाया-से माया-से !
आज वासवदत्ता पड़ी है अनाथ !
साथ नहीं कोई ;
उसका शरीर दुर्गन्धित है
अङ्ग-अङ्ग सड़ रहा है आज
पीप पड़ गई है ,
व्याधि उपजी है ऐसी कि, आते नहीं वैद्य भी ,
आँखें धँसी, ऊर्ध्वश्वास ,
मूर्च्छित-सी पड़ी है वह !
इतने ही में द्वार में धक्का लगा जोर से ,
आया त्यों ही झोंका एक मलयानल का भी
आया कुछ होश वासवदत्ता के चित्त में
बोली वासवदत्ता ,
'कौन ?'
'मैं हूँ तथागत !
आज आया हूँ अतिथि बन ।'

आरसीप्रसाद सिंह

फिर घिर आये मेघ

फिर घिर आये मेघ तुम्हारी याद लिये।
तड़प उठी फिर बिजली एक विषाद लिये।

यह घटा तुम्हारे बालों - सी छाई है।
यह हवा तुम्हारे श्वासों - सी आई है।
छलका यह किसके यौवन का मधु-प्याला ?
इतनी मस्ती जो उठा यहाँ लाई है।

मैं बैठा हूँ जीवन में उन्माद लिये।
ये घिर आये मेघ तुम्हारी याद लिये।

इस बदली के दिन में चुप के तुम आईं।
सपने में भी, बोलो तो, क्यों शरमाईं।
बूँदें जो दो—चार पड़ीं चू नभ से,
लो, देखो, तत्क्षण ये आँखें भर आईं।

ये गगन-गगन में कम्पन और निनाद लिये।
फिर घिर आये मेघ तुम्हारी याद लिये।

दुनिया में बरसात, यहाँ घर जलता।
मेरे दिल को कोई निर्मोह मसलता।
बेहोश बना जो छीन रहीं स्मृति अपनी,
इतना भी मेरा सुख तुमको क्या खलता ?

मैं कहाँ तुम्हें ढूँढूँगा अपवाद लिये ?
ये घिर आये मेघ तुम्हारी याद लिये।

मुरझे प्राणों का पुष्प खिला हैं जाते।
प्यासी दुनिया को अमृत पिला हैं जाते।
मैं भूल न जाऊँ निष्ठुरता तव जिससे,
प्रति वर्ष मेघ ये याद दिला हैं जाते।

तुम दूर हँसी अपना चिर-आह्लाद लिये।
ये रोते हैं मेघ तुम्हारी याद लिये।

पुष्प सोचता

'पुष्प सोचता, होता मुझको
यदि सुवर्ण का सुन्दर तन !
मुझमे यदि सुगन्ध भी होती,
और सोचता यह कंचन !

केकी को चिन्ता है, उसको
मिला नहीं क्यों कोमल स्वर !
और सोचता कोकिल, मैं क्यों
हुआ न केकी-सा सुन्दर !

सागर क्षुब्ध, हाय क्यों इतना
खारा है यह मेरा जल !
सरिताएँ उद्विग्न, हुई क्यों
हम न पयोनिधि-सी निस्तल !

केवल है सन्तोष पङ्क को,
जो करता उत्पन्न कमल;
यों, इस मरण-शील पृथिवी में
किसका जीवन पूर्ण-सफल !

लघुता की इच्छा

(१)

"तुम्हें चाहिये क्या हे सागर !'
'प्रभो, मुझे लघुतम कर दो;
इस अपार महिमा को मेरे
एक बूँद जल में, भर दो !

एक बूँद जल, जिसको पा कर
इतना बड़ा हुआ हूँ मैं;
एक बूँद जल जिसको लेकर
जग में खड़ा हुआ हूँ मैं !

निष्फल यह जल-राशि, किसी की
जिससे कभी न प्यास मिटी,

जीवित ही जैसे पृथ्वी पर
मृत-सा पड़ा हुआ हूँ मैं !
किसी तृषार्त्त कण्ठ में पहुँचूँ
एक बूँद बन कर—वर दो ;
जीवन सफल बने यह मेरा ,
प्रभो, मुझे लघुतम कर दो !'

(२)

'तुम्हें चाहिये क्या हे कानन ?'
'देव, मुझे मधुकण कर दो ;
मेरे मानस का सारा रस
एक फूल में ही भर दो !
एक फूल, जिसका सौरभ ले
उर में आज चला हूँ मैं।
एक फूल, जिसके कारण
शूलों पर हाय, पला हूँ मैं !
यह अशेष वन-राजि विफल ;
जिससे न किसी का हुआ भला ;
हो-हो हरा ग्रीष्म-पावस में
सौ-सौ बार जला हूँ मैं !
किसी देवता की पूजा में
कभी निवेदित हो—वर दो ;
मुक्ति-लाभ कर पाये जीवन ;
देव, मुझे, मधुकण कर दो।'

(३)

'तुम्हें चाहिये क्या हे अम्बर ?'
'नाथ, मुझे सीमित कर दो ;
इस अशेष संसृति को मेरे
एक क्षुद्र घट में भर दो !

एक क्षुद्र घट, जिसे गँवा कर
चिर-दिग्भ्रान्त बना हूँ मैं;
एक क्षुद्र घट, समा न जिसमें
निर्जर-प्रान्त बना हूँ मैं!
अन्तरिक्ष वह व्यर्थ, विश्व के
लिये जहाँ पर स्थान नहीं;
महा-शून्य संसार-चक्र में
पिस कर भ्रान्त बना हूँ मैं!
किसी मार्ग के खोये धन को
अन्तर में रख लूँ—वर दो;
काम कभी आ सकूँ किसीके;
नाथ, मुझे सीमित कर दो!'

——

नरेन्द्र शर्मा

आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे

आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे !
आज से दो प्रेम-योगी अब वियोगी ही रहेंगे !
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे !

सत्य हो यदि, कल्प की भी कल्पना कर धीर बाँधूँ,
किन्तु कैसे व्यर्थ की आशा लिये यह योग साधूँ !
जानता हूँ अब न हम तुम मिल सकेंगे !
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे !

आयगा मधुमास फिर भी, आयगी श्यामल घटा घिर,
आँख भर कर देख लो अब, मैं न आऊँगा कभी फिर !
प्राण तन से बिछुड़ कर कैसे मिलेंगे !
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे !

अब न रोना, व्यर्थ होगा हर घड़ी आँसू बहाना,
आज से अपने वियोगी हृदय को हँसना सिखाना,
अब न हँसने के लिए हम तुम मिलेंगे !
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे !

आज से हम तुम गिनेंगे एक ही नभ के सितारे,
दूर होंगे पर सदा को ज्यों नदी के दो किनारे,
सिन्धु-तट पर भी न जो दो मिल सकेंगे !
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे !

तट नदी के, भग्न उर के दो विभागों के सदृश हैं,
चीर जिनको विश्व की गति बह रही है, वे विवश हैं,
एक अथ-इति पर न पथ में मिल सकेंगे !
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे !

यदि मुझे उस पार के भी मिलन का विश्वास होता ,
सत्य कहता हूँ, न मैं असहाय या निरुपाय होता ,
किन्तु क्या अब स्वप्न मे भी मिल सकेंगे ?
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?

आज तक किसका हुआ सच स्वप्न जिसने स्वप्न देखा ?
कल्पना के मृदुल कर से मिटी किसकी भाग्य-रेखा ?
अब कहाँ सम्भव कि हम फिर मिल सकेंगे !
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?

आह, अन्तिम रात वह, बैठी रहीं तुम पास मेरे ,
शीश कन्धे पर धरे घन-कुन्तलों से गात घेरे ,
क्षीण स्वर मे कहा था, 'अब कब मिलेंगे ?'
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?

'कब मिलेंगे ?' पूछता मैं विश्व से जब विरह-कातर ,
'कब मिलेगे ?' गूँजते प्रतिध्वनि-निनादित व्योम-सागर ,
'कब मिलेंगे ?' प्रश्न, उत्तर 'कब मिलेंगे ?'
आज के बिछुड़े न जाने कब मिलेंगे ?'

मेरी याद

अब तो तुम्हें और भी मेरी याद न आती होगी !
हरे-भरे होंगे वन-उपवन
बीत चुके हैं दिन पतझर के ,
कहाँ याद आते होंगे अब
मेरे अश्रु-हास पल भर के ;
आज तुम्हारे स्वर में स्वर भर कोयल गाती होगी !
कटहल, बेल, नीम महके हैं
खिली कामिनी फूलों वाली ,
रँगी खड़ी सेंमल, पलाश औ'
अमलतास की डाली-डाली ;
सोने की गुलमोर लोचनों में छाजाती होगी !

गंध रूप-रँग की यह दुनिया
जो अग-जग फल-फूल रही है,
झूल झकोरों में माघव के
सब पिछले दुख भूल गई है;
आज लगे बैसाख नई अँबिया गदराती होगी!
'कौन देश से आवेंगे पिय,!'
हँस-हँस कहती होंगी सखियाँ
घेर तुम्हें आँगन में बैठी
आमी चोर उछाल बिजलियाँ;
तुम्हें खीझ, फिर कभी हँसी बरबस आजाती होगी!

तुम्हें याद है क्या उस दिन की

तुम्हें याद है क्या उस दिन की
नये कोट के बटन-होल में
हँस कर, प्रिये, लगा दी थी जब
वह गुलाब की लाल कली!
फिर कुछ शरमा कर, साहस कर,
बोली थी तुम, 'इसको यों ही
खेल समझ कर फेंक न देना,
है यह प्रेम-भेंट पहली!'
कुसुम-कली वह कब की सूखी,
फटा ट्वीड का नया कोट भी,
किंतु बसी है सुरभि हृदय में
जो उस कलिका से निकली!

रूप-शिखा

तुम दुबली-पतली दीपक की लौ-सी सुन्दर!
मैं अन्धकार,
मैं दुर्निवार,
मैं तुम्हें समेटे हूँ सौ-सौ बाँहों में, मेरी ज्योति प्रखर

आपुलक गात मैं मलयवात ,
मैं चिर - मिलनातुर जन्मजात ,
तुम लज्जाधीर शरीर-प्राण
थर-थर कम्पित ज्यों स्वर्ण-पात ,
कँपती छायावत् रात काँपते तम-प्रकाश आलिङ्गन भर !

आँखों से ओझल ज्योति-पात्र ;
तुम गलित स्वर्ण की क्षीण धार ;
स्वर्गिक विभूति उतरीं भू पर ,
साकार हुई छवि निराकार ,
तुम स्वर्गङ्गा, मैं गङ्गाधर, उतरो प्रियतर सिर आँखों पर !

नलकी में झलका अङ्गारक ,
बूँदों में गुरु-उशना तारक ,
शीतल शशि-ज्वाला की लपटों-से
वसन, दमकती द्युति चम्पक ,
तुम रत्न-दीप की रूप-शिखा, तन स्वर्ण-प्रभा, कुसुमित अम्बर !

पंचमी आज

हिल रही नीम की डाल मंदगति, कहती रे—
बह रही लजीली सीरी धीरी पुरवय्या !
पंचमी आज, है आसमान में चपल प्राण चन्दा ,
जैसे जा रही दूर चाँदी की लघु चमचम नय्या' !

तुम मुझसे कितनी दूर आज, आ रहा ध्यान—
मिलने को उड़ उड़ जाने की कह रहे प्राण !
जा रहा लिये मधुगंध नीम की गंधवाह ,
पर भूल गया मुझसा ही वह भी कठिन राह !

आया अग जग ऋतुराज आज, तुम दूर आज !
हीरे बिखराती रात आज, तुम दूर आज !
हो दूर आज, तुम मुझसे कितनी दूर आज !
फीके लगते सब साज आज, तुम दूर आज !

हिल रही नीम की डाल मंदगति, कहती रे—
बह रही लजीली सीरी धीरी पुरवय्या !
पंचमी आज, है आसमान में चपलप्राण चन्दा
जैसे जा रही दूर चाँदी की लघु चमचम नय्या !
क्या वहाँ न मन के रोग-शोक, दुख-रोग-शोक ?
है बहुत दूर नक्षत्र-लोक, नक्षत्र-लोक !
क्या वहाँ न सब दिन विरह-मिलन आलिंगन भर
रहते जैसे छाया-प्रकाश या अश्रुहास-से जीवन भर ?
है बहुत दूर नक्षत्र-लोक, नक्षत्र-लोक !
क्या वहाँ सभी जन वीतराग, स्थिरचित, अशोक ?
कैसे जानूँ, कैसे मानूँ मैं नक्षत्रों की छिपी बात,
पर अग जग आज उजागर तारोंभरी रात !
पंचमी आज, है आसमान मे चपलप्राण चन्दा,
जैसे जा रही दूर चाँदी की लघु चमचम नय्या !
हिल रही नीम की डाल मदगति, कहती रे—
बह रही लजीली सीरी धीरी पुरवय्या !

फागुन की आधी रात

है रँभा रही बछड़े से बिछुड़ी एक गाय,
थन भारी हैं, दुखते भी हैं !
आता गजनेरी साँड़ भटकता सड़कों पर, चलता मठार !
क्या वही दर्द उसके भी है ?
जा रही किसी घर के जूठे बरतन मलकर
बदचलन कहारी थकी हुई,
चौका-बासन सैना-बैनी में बिता चुकी यौवन के दिन,
काटनी उसे पर उमर अभी तो पकी हुई !
बज रहे कहीं ढप ढोल झाँझ, पर बहुत दूर
गा रही संग मदमस्त मजूरों की टोली,

कल काम-धाम करना सबको पर नींद कहाँ—
है एक वर्ष में एक बार आती होली !
इस भाँग-स्वांग से दूर, बन्द कमरे में चिन्ता में डूबा
दार्शनिक एकरस एकाकी ,
है सोच रहा यह जीवन क्या, मैं क्या, मेरी यह आत्मा क्या ?
सब कुछ खोजा, उत्तर न मिला, कुछ भी न बचा मथ कर बाकी !
वह दूर और संसार दूर, सब विशृङ्खल, सब छाया-छल ,
हैं बिछुड़ परस्पर सुबक रहीं दोनों निर्धन आत्मा-काया !
रोये शृगाल, बोला उल्लू, हिल गई डाल, चौंका कुत्ता
जो भूँक उठा अब देख स्वयम् अपनी छाया !

ज्येष्ठ का मध्याह्न

ज्यों घेर सकल संसार, कुंडली मार
पड़ा हो अहि विशाल ,
आक्रान्त धरा की छाती पर
गुमसुम बैठा मध्याह्न-काल !
मध्याह्न-काल ज्यों अहि विशाल ,
केन्द्र में सूर्य—
शोभित दिन-मणि से गर्वोन्नत ज्यों भीम भाल !
कर गरल-पान सब विश्व शान्त ,
तृण-तरु न कहीं भय से हिलते—
जीवनीशक्ति, जैसे परास्त हो महामृत्यु से, पड़ी क्लान्त !
अधबुझी चिताओं के मसान के ही समान सर्वत्र शान्ति—
डिगती न तनिक तिल-भर भी जो ज्यों भीषण भूधर दुर्निवार !
जब रण समाप्त ज्यों समरभूमि—
है दूर दूर तक धूलि-धूसरित ऊसर का विस्तृत प्रसार !
जड़-जंगम के सोते जग की निश्चल छाती ,
क्षय के रोगी के आखिर दम घुटते दम-सी सब कहीं हुँमस
व्याकुल विषाद !

जो गिनी हुई या बची-खुची साँसें हैं, हैं वे भी दुर्लभ,
अब जगद्धात्री पयविहीन प्रस्वेदग्रस्त ज्यों मृत्युत्रस्त—
रग रग में विष हो गया व्याप्त!
लो, महानाश के विजय नाद-सी, भस्मभूत सबको करती,
उठती लू ज्यों अहि-फूत्कार!
सामने—डसे मानव-शव-सा नीरव है भव का देह-भार,
नीरव—हत होते आहत के ज्यों तृषित कंठ से निकल न
पाती चीत्कार!
मर रहे प्यास से पक्षी-पशु, पर नहीं रहे अब प्यास बुझाने
को अधीर!
उर वसुन्धरा का फट न सका; भूतल पर से पर लोप
हो गया कहाँ नीर!

पहचान न पाओगे उनको—
अपने प्रेतों-से खड़े हुए हैं रूख सूख ठठरी ऐसे—
भीषण-भुजंग-फुफकार क्षार करती ले गई खींच सब सत जैसे!
धन-धान्य-पूर्ण थी वसुन्धरा,
धमनियों-शिराओं-सी नदियों-सरिताओं को लू सुखा गई
जैसे अजान!

वह गरज-गरज धू-धू करती बहने वाली अहि-फूत्कार—
लू—हर हर कर हरती चलती है विश्व-प्राण!
विषभरी भयावह फूत्कार—
भीषण बेरहम थपेड़ों से सबको पछाड़,
बेबस धरणी की छाती पर चर-अचर सभीको झुलस-
जला नीचे दबोच औ' कूट-कुचल कर माँस-हाड़,
लो, सहसा ठहर गई पल में ज्यों महाशून्य में महानाश
का-सा पहाड़!

क्या जीवन का अवशेष कहीं!—
उपहास क्रूर अधरों पर धर, अपलक आँखों में ज्वाला भर,

अजगर अब देख रहा है भव !
(देखा सगर्व) सामने पड़ा—उन्मूल, धूलि में मिले पुराने बरगद-सा
ज्यों निखिल विश्व के पूर्ण पराभव का वैभव !
(देखा सगर्व) सब ओर रेत-सी सूखी हुई घास देखी,
देखा—तरुओं मे पत्ते भी तो नहीं रहे !
हरियाली, जो नीलम-प्याली से ढुलका दी नभ ने भू पर,
वह नहीं रही,
बीती बहार के फूलों की तब कौन कहे !
देखा सगर्व :-
चुप बैठ न पाया अब जीवन—
मृतप्राय पेड़ की कोटर से, लो, कॉव कॉंव कर उठा काग !—
'जीवन-तरु का चिर-अजर पत्र
उसको न जलाती प्रलय-ज्वाल,
उसको न डुबाते प्रलय-सिन्धु,
फिर भस्म उसे कैसे करती मध्याह्न-काल के विषधर की
विषभरी आग !'—
यों कॉव कॉंव कर उठा काग !
(देखा सगर्व) टूटी-सी एक झोंपड़ी है जिसके समीप
छप्पर छाता चुपचाप एक मरियल चमार !
सूखा शरीर, ऋण-रोग-शोक की कठिन मार से झुकी कमर,
पर गले फूँस के छप्पर को छाता जाता मरियल चमार !
वह भी सँभाल लेगा आतप की विष-वर्षा का कठिन भार !
धीरे धीरे अब बीत चला मध्याह्न-काल !
ढल गई दुपहरी की वेला,
झुक गया सूर्य, झुक गया भाल !
ढल गई दुपहरी की वेला,
चल दिया किसी अज्ञात विवर को अहि कराल !
हो चुका पराक्रम पूर्ण,

हुआ अब दर्प चूर्ण ,
अब बीत चला मध्याह्न-काल ।

साँझ

दूर दूर कनक धूलि खुरों से उठती हुई ,
आती है साँझ कजरी गाय-सी रँभाती हुई ।
बछड़े-सा बिछुड़ा था दिन भर जो ग्राम प्रान्त ,
श्याम धेनु सन्ध्या के आते ही हुआ शान्त ,
हरती है श्रान्ति साँझ, हृदय से लगाती हुई ।
सूरज का बेटा दिन, धरती की सुता रात ,
दुलराती धरती के पुत्रों के थके गात ।
निद्रा की दया बिना कौन जिये भूमिजात ?
आती है साँझ, दीप विस्मृति के जलाती हुई !
विस्मृति में अनुकम्पा, जड़ता में समता है ,
मोह बिना कहाँ यहाँ ज्योति ज्ञान रमता है ?
आती है, जाती है, साँझ यह सिखाती हुई ।
गूँजेगी दूर कहीं कुंजों में मरण वेणु ,
छायेगी गोपथ पर करुणा की कनक रेणु ,
आयेगी जीवन की सन्ध्या जब बनी धेनु
रहस रहस रँभा रँभा मुक्ति गीत गाती हुई !

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

मनुहार

मेरा वश चलता मैं
बन जाता कौमार्य्य तुम्हारा।
होंठों पर निर्माल्य अछूता
बनकर मैं छा जाता;
अंगों के चंपई रेशमी
पर्दों में सो जाता।
आँखों की सुर्मई गुलाबी
चितवन में खो जाता।
मेरा वश चलता मैं
बन जाता सौंदर्य्य तुम्हारा।
जब तुम सिहर लजातीं बनता
मैं कानों की लाली;
शरद-समीरण में बनता
मैं पुलकों की घन-जाली।
मैं न छलकने देता
मुसकानों की गोरी प्याली;
मेरा वश चलता मैं
बन जाता कौमार्य्य तुम्हारा।
अनबींधे मोती की शुचिता
तन में भर भर देता;
खस खस पड़ते शिथिल चीर
को मस्तक पर कर लेता।
मैं गति चंचल मंजीरों को
अधिक न बजने देता;
मेरा वश चलता मैं
बन जाता शृंगार तुम्हारा।

जब मधुसिक्त व्यथा से तुम
नीहारों-सी घुल चलतीं;
नीर-भरी सित बदली-सी जब
मुझसे किलक मचलतीं।
जब अखंड उज्ज्वलता में
तुम घनसारों-सी जलतीं।
मेरा वश चलता मैं
बन जाता निष्कंप तुम्हारा।
बनता रंग तुम्हारा—तुमसे
विलग न होता क्षण भर;
मदिर रसीली गोद तुम्हारी
देता किरणों से भर।
किसी अचीन्हे स्वर में गाता
बन यौवन का निर्झर।
मेरा वश चलता मैं
बन जाता कौमार्य्य तुम्हारा।

चाँदनी

चाँदनी में आज केवल
चाँद की बातें करो।
प्रेम की मधुझील के तट पर
मिले हम आज फिर,
उग रहे आकाश को
भरते हुए तारक शिशिर,
आज ओ मधुवर्षिणी!
आये दृगों में स्वप्न तिर।
चाँदनी में आज केवल
चाँद की बातें करो।

कग रही, कटि की तुम्हारी
किङ्किणी पय घार-सी,
कङ्कणों से उठ रही सित
मन्त्रिता झनकार-सी,
कनक बेसर के नगों की
ज्योति पारावार-सी।
चाँदनी में आज केवल
चाँद की बातें करो।

हैं चमकते सङ्गमरमर
से तुम्हारे अङ्ग खुल,
हों गुँथे ज्यों कुन्तलों में
मोतियाँ, मोती, मुकुल,
है तुम्हारे रूप का
साम्राज्य यह अम्बर विपुल।
चाँदनी में आज केवल
चाँद की बातें करो।

बँध रहा सौन्दर्य चितवन
में तुम्हारी छवि प्रखर,
आज तुम जो भी कहो
सङ्गीत-सा होगा मधुर,
सृष्टि-स्थिर घनसार का
उज्ज्वल चँदोवा तानकर।
चाँदनी में आज केवल
चाँद की बातें करो।

अन्तिम भेंट

अब तक प्रिय! मैं रही तुम्हारी
अब हो गई पराई।

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

सुन ओ जीवन की अँधियारी
औ' प्रकाश के दाता ;
भूला जाता पन्थ मुझे
अब अपना भूला जाता ।
मेरे आँचल में तेरी
साँसों का स्वर भर आता ;
सोच रही मैं जली
आज से या हूँ गयी बुझाई ।

शेष हो गया प्राणों का
सुख स्रोत—हृदय की बातें ;
मधुर जागरण—मादक
निद्रा की वे क्वारी रातें ।
आज शिथिल बाहों के बन्धन
चुम्बन मंत्र न गाते ;
लगता यों प्राणेश ! मुझे
मैं उमड़ी—बरस न पाई ।

मैं पतझड़ के छिन्न बादलों
की दुख भरी प्रभाती ;
जो मधुऋतु का स्वप्न मिटाकर
स्वयं नहीं मिट पाती ।
पर शोलों के इकतारे-सी
कँपती मेरी छाती ;
मैं अपनी आत्मा की अर्थी
लिये चली मुर्झाई ।

अक्षमता की विवश चेतना
मुझसे प्रतिक्षण कहती ;
कैसे कुचले मन से तू
खंडित तृष्णायें सहती ।

कर्मतरी तू कैसे बाडव-
दाह लिये यों बहती ;
जब तेरे जीवन की सरिता
सूखी मरु की नाईं ।
लगता तुम असीम हो—सीमित
मेरी विह्वल बाँहें ;
आ न सकूँगी तुम तक—मेरी
रुद्ध हो गईं राहें ।
अब तुम पिक की स्वर लहरी में
सुनना मेरी चाहें ;
छुटी कपोती के क्रन्दन में
लग्न भ्रष्ट तरुणाई ।
ओ जीवन के साथी ! मैं क्या
देख रही थी सपना ;
हँसती निर्दय नियति रोकती—
कह न किसीको अपना ।
समझा रहा दुःख—जीवन में
एक मंत्र ही जपना ;
रहे भूमि से ऊपर मेरे
दीपक की अरुणाई ।

जब नींद नहीं आती होगी !

क्या तुम भी सुधि से थके प्राण ले मुझ-सी अकुलाती होगी !
जब नींद नहीं आती होगी !

दिन भर के कार्य भार से थक जाता होगा जूही-सा तन ,
श्रम से कुम्हला जाता होगा मृदु कोकावेली-सा आनन ।
लेकर तन मन की श्रान्ति पड़ी होगी जब शैया पर चंचल ,
किस मर्म-वेदना से क्रन्दन करता होगा प्रति रोम विकल !

आँखों के अम्बर से धीरे से ओस ढुलक जाती होगी।
जैसे घर में दीपक न जले ले वैसा अन्धकार तन में,
अमराई में बोले न पिकी ले वैसा सूनापन मन में,
साथी की डूब रही नौका जो खड़ा देखता हो तट पर—
उसकी-सी लिये विवशता तुम रह-रह जलती होगी कातर।
तुम जाग रही होगी पर जैसे दुनिया सो जाती होगी।
हो छलक उठी मरघट में काली रात अवश ज्यों अनजाने,
छाया होगा वैसा ही भयकारी उजड़ापन सिरहाने,
जीवन का सपना टूट गया—छूटा अरमानों का सहचर,
अब शेष नहीं होगी आत्मा की क्षुब्ध रुलाई जीवन भर।
क्या सोच यही तुम चिन्ताकुल अपने से भय खाती होगी?
जब नींद नहीं आती होगी।

शारदी सन्ध्या

देख संगिनि! पीत रुग्णा शारदी सन्ध्या
जो शिथिल लेटी दिवा की मृत्यु-शैया पर
दूर—सरि तट पर कहीं गाई गई लोरी सदृश
निस्तेज फीकी प्राण—वंचित।
गाँव के कोने खड़े उन वेणु कुँजों में
रेंगती आतीं चली नीलांजनी छाया
दौड़ता आता चला बाहर प्रखर गति से अँधेरा
स्फुरित कम्पन है तुम्हारे दीप्त अधरों में,
गीत गाना चाहता हो!
क्या पुराने, थके माँदे इस मरण-पन्थी दिवस को
एक अवसित स्वप्न प्राणों में जगाना चाहती हो?
ढल रहा है दिन तमिस्रा से विजित विच्छिन्न
नैश निद्रा साथ मरता प्रति दिवस नित
तुम न गाओ गीत मरणोन्मुख दिवा के
मत दिखाओ चित्र अन्तिम

पतन-पूरित ज्वर विदीर्णा मरण उत्कंठित विभा के ।
इस अबाधित काल-क्रम में
जो प्रबल, चिर नव, सुनिश्चित, सहज दुर्दम
क्या करोगी शोक कर—अंतिम व्यथा के गीत गा
मेघरन्ध्रों में दफ़न होती अरुणिमा पीतिमा के
सूर्य किरणों की करुण अन्तिम क्रिया के
सान्ध्य गीतों में तुम्हारे उर्वरित हो तरुण आशा
जागती जो अर्ध निशि की प्राण पूरित झलकियों में
है निहित रहती कि जिसमें नवल ऊषा की पिपासा ।
यदि गया है बीत दिन कर्मान्दोलित
बीत जायेगी निशा भी वेदना रंजित—स्वप्नसिंचित
देख संगिनि ! सान्ध्य नभ में फैल कर लेटी
रोगिणी सी क्लान्त और विवर्ण
जर्जरित, कृश यह कुँआरी ऊसरी सन्ध्या !

यह फ़ागुन की रात

यह फागुन की रात और मैं विकल पड़ा मन मारे ।
मेरे गीत बन गये रोदन, हँसी व्यथा का पानी ;
तुमसे बिछुड़ बन गया मैं अपनी ही करुण कहानी ।
मेरे बुझे हृदय पर चौमुख याद तुम्हारी आती ,
मन के मुँदे धुँधलके में जो सिर धुनती, मंडराती ।
तड़प सिसकता है अधजला, अधमरा ज्यों परवाना ;
शेष जिसे अब बुझी शमा पर है केवल मँडराना ,
भरे तुम्हारी प्यास तृषित मन मेरा
है खग का कितना सुनसान बसेरा !
बाहर बरस रही स्वप्नों की शोभा नभ से झर झर ,
जैसे सुषमा के मुकुलों का फूट पड़ा रस भू पर ;
भरा विरह का सिन्धु बीच में ,

चन्द्र-ज्वाल-सी दीप रहीं तुम उस तट।
मेरे प्राणों का केकी तुम्हें पुकारे।
यह फागुन की रात और मैं विकल पड़ा मन मारे।

(२)

गुँथी पड़ी यौवन के शिखरों में वसन्त की माया;
है सुहाग की रात, धरा ने दुलहिन का मन पाया।
डूबी जाती सृष्टि तरंगित कस्तूरी के मद में,
रूप तुम्हारे नवअंगों का बिम्बित सुधा-जलद में।
तुमने भी साजी होगी ऐसी अँधियारी चोली,
मधु-गुंजित होठों ने होगी नवल माधुरी घोली।
चमक रहा मन चम चम चाँदी की बेला-सा,
होगा कवरी में नव-कलियों का मेला-सा।
झरनों के मर्मर-सा आँखों का आकाश तुम्हारा
जाग रहा होगा बस उसमें मेरी सुधि का तारा।
फैल न पाती,
अधर रेख सिमटी-सिमटी-सी रह जाती—
छिपा रही मुख मधु-बयार ओठों के घन में
किस विषाद के मारे!
यह फागुन की रात और मैं विकल पड़ा मन मारे।

(३)

किस पर करदे रात मिलन का सुख-शृंगार निछावर!
उड़-उड़ बहते सौरभ का मन रुके कहाँ शरमाकर!
तुम न दिखो तो किसकी राह निहारे पंथ सजाये;
फूलों की रज-केशर किन चरणों से लिपट लजाये!
यह वसन्त-त्योहार सभीका, केवल एक न मेरा,
ऋतुओं की ऋतु ने भी जब खोया उल्लास न फेरा।
गुंजित पंख मधुप के आज कटे हैं,
कोकिल के स्वर जैसे आज फटे हैं।

किस सुन्दरता से प्रसिक्त हो मधु की आत्मा काँपे !
किन नयनों की कनक-कोर से रति की ज्योत्स्ना झाँके !
मुझे घेर कर अब न बरसते शोभा के घन,
इस तरसे-तरसे से मरु की वीरानी में
शेष नहीं अब एक तृप्तिकण ।
अपनी ही तृष्णा से अब ये प्राण सदा को हारे ।
यह फागुन की रात और मैं विकल पड़ा मन मारे ।

वर्षान्त के बादल

जा रहे वर्षान्त के बादल,
हैं बिछुड़ते वर्ष भर को नील जलनिधि से,
स्निग्ध कज्जलिनी निशा की उर्मियों से,
स्नेह-गीतों की कड़ी-सी राग-रंजित ऊर्मियों से,
गगन की शृंगार-सज्जित अप्सराओं से ।
किस महावन को चले
अब न रुकते—अब न रुकते ये गगनचारी,
नींद आँखों में बसी—गति में शिथिलता,
किस गुफा में लीन होंगे,
सान्ध्य-विहगों-से थके डैने लिये भारी ।
साथ इनके जा रहा अगणित विरहिणी-विरहियों का दाह
हैं किये छूँछे हृदय पर मौन चिह्नित,
दे रही अनिमेष नयनों से हरित वसुधा विदाई,
किस सुदूर निभृत कुटी में पूजिता सुधि की इन्हें फिर याद आई !
भर गई आ रिक्त कानों में,
किस कमल वन में अनिद्रित शारदीया की करुण चञ्चल रुलाई !
जा रहे आलोक-पथ से मन्दगति
वर्षान्त के बादल ।
हैं सलिल-प्लावित नदी नद ताल पोखर,

वेग-विह्वल झर रहे गिरि स्रोत-निर्झर,
दे भरे मन से विदा-कर किरण रन्ध्रों से नमन,
देखते अंकुरित, नूतन फुल्ल खेत।
छोड़ उत्सुक बन्धुओं के नेत्रों का प्यार,
छोड़ लघु पौधे व्यथातुर शस्य शालि अपार,
खोह अंजन की कहाँ वहाँ गुरु गहन
आगार वह विश्राम—मुग्ध विराम की;
जा रहे जिसमें चले ये थके वन-पशु से
प्यास अधरों पर लिये किसके मिलन की!
भर जगत में नव्य जीवन,
जा रहे किस प्रिया की सुधि से घिरे,
नयी आकांक्षा भरे वर्षान्त के बादल।

—आह्वान

ओ प्रकाश के पिंड! कारवाँ अन्धकार का बढ़ता
अपनी बाती आप जला कर तुम न मिटो एकाकी
कोटि कोटि मिट्टी के ये कोरे पुतले हैं बाकी
स्नेह भरा है, केवल तुमसे माँग रहे चिनगारी
एक तुम्हारी भरी लपट के ये कब से अधिकारी!
इन्हें जलाओ ये अपनों का आँचल फोड़ उठें तो!
धूल और झंझा का भय क्या नव किरणें फूटें तो!
बनें शिराएँ आज लयवती एक महाधारा-सी
तरु तरु की फुनगी फुनगी पर शिखा-लाल-तारा-सी
एक पलायन हैं वे, जो नीरव जलने के हामी
और अगति को पूज साधना कहते वे प्रतिगामी
किन्तु तुम्हारी लौ युग युग के दलित वर्ग की वाणी!
जिसकी हुंकृति में तनते चिर शोषित शापित प्राणी!!
जीकर ही क्या हुआ न यदि मानव का मूल्य बढ़ाया!
मर कर ही क्या मिला न यदि जन-जागृति ने बल पाया!

किसी अलख प्रियतम की पूजा के उपकरण न बन कर
आज ज्योति में ज्योति मिला तुम बनो क्रांति के सहचर
मूल्य उसी के बुझने का जिससे जन-जन पथ पाते
गृह वृत्ति के जगतो के सम्पाती मिटने आते
वे मन्दिर के दीप उन्हें पूजा का थाल सजाना
किसी देवदासी का अर्चन पत्थर तक पहुँचाना
किन्तु तुम्हें मानव के दुखते दिल में आग लगाना
तेजी से नाशोन्मुख जग का सच्चा रूप दिखाना
नवयुग ये कर्तव्य तुम्हें देकर दोनों अति भारी
महाक्रांति की आज तुम्हारे बल पर किये तयारी
ओ प्रकाश के पिंड ! कारवाँ अन्धकार का बढ़ता !!

——

सुमित्राकुमारी 'सिन्हा'

मेरे भोर, साँझ मत होना।

मेरे भोर, साँझ मत होना।
अभी रेशमी पंखड़ियों पर अंकित हिम के मोती-चुम्बन।
शेफाली के यौवन-धन का अभी न पूरा हुआ समर्पण।
नींद-भरी अलसाई पलकों पर के स्वप्न अभी मत धोना।
मेरे भोर, साँझ मत होना।

छूटे नयन-बाण किरणों के कलियों में गुदगुदी भरी है।
मधु सुगन्ध की लहर समेटे पतली मृदु समीर उतरी है।
पंछी के नन्हें कण्ठों से झरा मुक्त संगीत सलौना।
मेरे भोर, साँझ मत होना।

सुरधनु के सातों रँग चमके, विश्व रँग गया शत-रागों से।
जीवन की हलचल ने बाँधा अखिल सृष्टि को शत धागों से।
फूलों के मरकत वसनों पर राशि राशि बिखरा है सोना।
मेरे भोर, साँझ मत होना।

भारी भीड़ अभी मन्दिर में पूजा की पावन बेला है।
ठंडे राज मार्ग पर उमड़ा अभी यात्रियों का मेला है।
गूँजा है मधुमय वंशी से अभी विश्व का कोना कोना।
मेरे भोर, साँझ मत होना।

केशर-रेणु गुलाब महावर, ऊषा से कुंकुम भर लाई।
मधु मरन्द पी पुलक पुलक कर मैं प्रिय की गा रही बधाई।
इन उमंग के मधुर क्षणों में जो कुछ पाया उसे न खोना।
मेरे भोर साँझ मत होना।

हिल्लोलित वल्लरियों-सी नत झूम-झूम मैं बलि जाऊँगी।
प्रिय स्वागत में गीतों के यह बन्दनवार सजा लाऊँगी।
प्रात-अधर से हास फूटता, सन्ध्या की पलकों से रोना।
मेरे भोर, साँझ मत होना।

मुझे नहीं विश्राम

मुझे नहीं विश्राम, आज गति मेरी है अविराम।
गाढ़ी साँझ सिन्धु के तट से हो जाती है पार,
उठती रात कराह, अँधेरे से हो एकाकार,
टकराती हैं लहरे तट से ले अन्तिम उन्माद,
किन्तु न जाने कौन किया करता मुझसे सम्वाद।
किसके प्रेरक आह्वानों से पूर्ण हुये निशि-याम,
मुझे नहीं विश्राम, आज गति मेरी है अविराम।

ऊषा का उल्लास, साँझ का अलस मदिर अभिसार,
पन्छी के कण्ठों से निकली गीतों की मधु-धार,
किरणों की आभा में सुरभित हँसता मधु-ऋतु भोर,
और सरित की कूल-विचुम्बित उठती मन्जु हिलोर,
खींच न पाती है मेरे क्षण आज हुये निष्काम।
मुझे नहीं विश्राम, आज गति मेरी है अविराम।

चित्र पूर्ण है, भूल गई हूँ रेखा का इतिहास,
स्वयं रागिनी बन कर खोया स्वर का आज विकास,
डूब चुका है ध्येय ध्यान में, पथ में मञ्जिल-द्वार,
सपनों में अस्तित्व लुटा सो गई नींद भी हार।
मूर्त्त कल्पना में पाया है मैंने जग अभिराम,
मुझे नहीं विश्राम, आज गति मेरी है अविराम।

विद्यावती 'कोकिल'

उनको क्या वे दिवस सुहाने ?

उनको क्या वे दिवस सुहाने !
मधुर प्रतीक्षा क्षण हो उनको
जिनके आँसू पर प्रिय आयें,
जिनकी स्मृति को गिरा मिली हो
वे अपने सुख दुःख सुनायें
पर जिनकी वाचा हो गूँगी सुख जिनके हो अन पहिचाने !
उनको क्या वे दिवस सुहाने !
जिनके अन्तस् हों पर्वत सम
जो न चाहने पर मिल पायें,
उपल-उदासी में मुसकायें
जिन पर नित सम ऋतुएँ आयें।
दो पर्वत यदि मिले कभी तो कहाँ भेंट कर हृदय जुड़ाने !
उनको क्या वे दिवस सुहाने !
वे जो हैं दो नक्षत्रों से
एक अण्ड के दो अण्डज से,
रवि शशि से फिरते हैं तम में
ज्योति पिण्ड के दो पिण्डज से।
पास पास एक ही गगन में सदा सदा को हैं बिलगाने !
उनको क्या वे दिवस सुहाने !
सिन्धु-मना कोई माता के
इङ्गित पर ज्यों चलते आये,
जिसने बालक-मन के पर्वत—
स्रोत मुहूर्त बिना दुलराये।
सब शुभ घड़िया अन पहिचानी सब सन्तोष अभी अनजाने !
उनको क्या वे दिवस सुहाने !

केदारनाथ मिश्र

अब सुधि श्वास बनी

अब सुधि श्वास बनी
मैंने मन के भीतर देखा
सूनी एक पड़ी थी रेखा
वह पगली अपने पतझर में चिर मधुमास बनी।
अब सुधि श्वास बनी।

आशा और निराशा कैसी
विरह-मिलन की भाषा कैसी
हिय की धड़कन शेष दिनों का दृढ़ विश्वास बनी।
अब सुधि श्वास बनी।

कल तक मैं था भूला परिचय
पल-भर में ही आज असंशय
मेरी सृष्टि तुम्हारी आँखों का आकाश बनी।
अब सुधि श्वास बनी।

एक किरण-कण उतरा बनकर धरती की मुसकान

एक किरण-कण उतरा बनकर धरती की मुस्कान,
एक किरण-कण स्वर हैं कितने,
उतने स्वप्न कि तारे जितने,
नभ न बटोर सके प्राणों में इतने मृदु-मधु गान।
पाँचों तत्व एक में जागे,
झुका एक वह अपने आगे,
दीखा पत्थर और किसीको लगा कि है भगवान।

आना - जाना गीत न कोई,
नहीं भविष्य, अतीत न कोई,
एक एक ही रहा काल की धारा में अनजान।
शत सतरङ्ग किरणों की गीता,
मेरी साँसें परम पुनीता,
निरावरण मैं आया, अब जाता हूँ, लो पहचान!'
एक किरण-कण उतरा बनकर धरती की मुस्कान

—

गोपालसिंह नैपाली

भारतमाता

जय हे भारतमाता !
जंजीरों की झनन-झनन सुन नवयुग दौड़ा आता,
प्राची के झिलमिल आँगन से मुक्ति-दिवस मुसकाता।
जय हे भारतमाता !

१

गंगा लेकर चली अर्घ्य-जल, यमुना लेकर फूल,
सागर लेने चला उमड़कर जननी की पद-धूलि।
दीप लिये गंडकी पधारी, पद्मा गाती वन्दन,
भारतमाता के मन्दिर में आज जननि-पद-पूजन।
जननि खड़ी आरती ले रही, लिये खुले घन केश,
क्षमा माँगती भूमि शिवा की, बुन्देलों का देश।
स्वर भर्राया है कृष्णा का, उमड़ा अश्रु नयन में,
इतना बड़ा देश पृथ्वी पर पड़ा आज बंधन में।
जननी पत्थर बनी निहारे दासी का पद-पूजन,
चुरा ले गई नींद दृगों से जंजीरों की झनझन।
दबी हुई आवाज उठ रही, क्रन्दन बढ़ता जाता,
नव-भारत के शान्ति-गगन में अंधड़ उठता आता।
जय हे भारतमाता !

इस स्वर्गीय देश की शोभा हमको रुला रही है,
नर प्रताप की भूमि सामने हमको बुला रही है।
गौरीशंकर-से गिरिवर के आज नयन में पानी,
लोट रही भू पर विन्ध्या की बन्धन-बँधी जवानी।
आज रामगिरि कालिदास का आँसू से मुँह धोता,
कवि तुलसी की पञ्चवटी में बंधु भरत है रोता।
नील नीलगिरि, श्याम श्याम-व्रज, गोदावरी सिहरती,
कुचले हुए फूल पर जननी चलती मस्तक धरती।

भारत के दक्षिण में देखो, लहराता है सागर,
और आज इस पुण्य देश की रीती रस की गागर।
यमुना-तट के तरु तमाल में कब से पतझड़ आई,
देश-दहन की अग्नि प्रबल है, कुसुम-कली मुरझाई।
उठते हुए सूर्य को क्षण-क्षण भारत देख रहा है,
स्वर्ण-किरण पर अपने तन के चिथड़े फेंक रहा है।
आता है दिनमान, तिमिर की धज्जी आज उड़ाता,
पड़े-पड़े कारा में वन्दी भारत नयन जुड़ाता,
जय हे भारत माता!

३

सागर जननी की दो बाँहों पर मणिबन्ध बना है,
आँगन पर रवि-शशि-तारों का विमल वितान तना है।
हिमकिरीट डाले मस्तक पर प्रहरी है कैलास,
नीचे समतल पर, तरु-मरु पर कोटि-कोटि का वास।
दुनिया में जिस राष्ट्र-वृक्ष को गङ्गा का जल सींचे,
धूलि-धूसरित जिसके पद पर सागर नीर उलीचे।
जो जलते मरु के आतप में वर्ष-वर्ष तपता हो,
हाथों में हथकड़ी पहन जो मुक्ति-नाम जपता हो।
उसका भाग्य लिये हाथों में तरुण ताकते मौका,
हिला न पाया उनको अबतक युगारम्भ का झोंका।
जाग रहे जनपद, वन्दी का बन्धन खुलता जाता,
जय हे भारत माता!

दीपक जलता रहा रात-भर

तन का दिया, प्राण की बाती,
दीपक जलता रहा रात-भर,

१

दुख की घनी बनी अँधियारी,
सुख के टिमटिम दूर सितारे।
उठती रही पीर की बदली,
मन के पंछी उड़-उड़ हारे,

बची रही प्रिय की आँखों से
मेरी कुटिया एक किनारे।
मिलता रहा स्नेह-रस थोड़ा,
दीपक जलता रहा रात-भर,

२

दुनिया देखी भी अन-देखी,
नगर न जाना, डगर न जानी।
रंग न देखा, रूप न देखा,
केवल बोली ही पहचानी,
कोई भी तो साथ नहीं था,
साथी था आँखों का पानी।
सूनी डगर, सितारे टिमटिम,
पंथी चलता रहा रात-भर।

३

अगणित तारों के प्रकाश में
मैं अपने पथ पर चलता था,
मैंने देखा, गगन-गली में
चाँद सितारों को छलता था।
आँधी में, तूफानों में भी
प्राण-दीप मेरा जलता था,
कोई छली खेल में मेरी
दशा बदलता रहा रात-भर।

४

मेरे प्राण मिलन के भूखे,
ये आँखें दर्शन की प्यासी,
चलती रहीं घटाएँ काली,
अम्बर में प्रिय की छाया-सी।
श्याम गगन से नयन जुड़ाये
जगा रहा अन्तर का वासी,

काले मेघों के टुकड़ों से
चाँद निकलता रहा रात-भर।

५

छिपने नहीं दिया फूलों को
फूलों के उड़ते सुवास ने,
रहने नहीं दिया अन-जाना
शशि को शशि के मन्द हास ने।
भरमाया जीवन को दर-दर
जीवन की ही मधुर आस ने,
मुझको मेरी आँखों का ही
सपना छलता रहा रात-भर

६

होती रही रात-भर चुपके
आँख मिचौनी शशि-बादल में,
लुकते-छिपते रहे सितारे
अम्बर के उड़ते आँचल में।
बनती-मिटती रहीं लहरियाँ
जीवन की यमुना के जल में,
मेरे मधुर मिलन का क्षण भी
पल-पल टलता रहा रात-भर।

७

सूरज को प्राची में उठकर
पश्चिम ओर चला जाना है;
रजनी को हर रोज रात-भर
तारक-दीप जला जाना है।
फूलों को धूलों में मिलकर
जग का दिल बहला जाना है,
एक फूँक के लिए, प्राण का
दीप मचलता रहा रात-भर।

आज तुम चलीं

[नृत्य की ताल पर]

आज तुम चलीं

आज तुम चलीं बहार-सी खिली हुई,
किशोरि, रूप की कली बयार से हिली हुई,
आज तुम चलीं ।

१

यह कठोर धूप
और जल न जाय रूप,
गल न जाय, ढल न जाय
फूल-सा स्वरूप,
और तुम चलीं बहार-सी खिली हुई,
किशोरि, रूप की कली बयार से हिली हुई,
आज तुम चलीं ।

२

है सुदूर राह
चल रही जमीन पर अमन्द मेघ-छाँह,
उठ रही समक्ष श्वेत-श्याम मेघ-माल,
उड़ रहा विमान-सा अपार अभ्र-जाल,
मिट चली निदाघ की विदग्ध अग्नि-ज्वाल,
वायु की झकोर
है कि प्रेम की हिलोर,
उड़ रहा बयार में महीन वस्त्र-छोर,
सावनी बहार में किशोरि, साँवली,
आज तुम चलीं सिंगार से सजी हुई,
किसी दिलेर के दुलार में मँजी हुई,
आज तुम चलीं ।

३

बाट जोहतीं वहाँ सखी - सहेलियाँ,
संगिनी अधीर आज की नवेलियाँ,
और वह पिता उदार स्नेह का धनी,
तुम जहाँ किशोरि, रूप - गर्विता बनीं,
राह में बिछा रहे नवीन प्रेम - फूल,
स्वप्न देखते कि उड़ रही कहीं दुकूल,
और तुम हँसी कि जगमगा उठी गली,
आज तुम चलीं बहार - सी खिली हुई,
किशोरि, रूप की कली बयार से हिली हुई,
आज तुम चलीं!

४

रो रही, पुकारता खड़ा मकान,
तुम कहाँ चलीं कि आज दंग है जहान,
मन अधीर, चरण धीर,
झुके नयन, रुके नीर,
अधिक हर्ष, तनिक पीर,
फड़फड़ा रहा बयार में महीन चीर,
आज रूप का सिंगार,
आज स्नेह से दुलार,
आज प्रेम - पुष्प - हार,
कक्ष - कक्ष द्वार - द्वार,
बत्तियाँ जलीं!
आज तुम चलीं बहार - सी खिली हुई,
किशोरि, रूप की कली बयार से हिली हुई,
आज तुम चलीं!

दो प्राण मिले
दो मेघ मिले, बोले-डोले
बरसाकर दो-दो फूल चले!

१

भौंरों को देख उड़े भौंरे,
कलियों को देख हँसी कलियाँ,
कुञ्जों को देख निकुञ्ज हिले,
गलियों को देख बसीं गलियाँ।
गुदगुदा मधुप को, फूलों को,
किरणों ने कहा, जवानी लो,
झोंकों से बिछुड़े झोंके को
झरनों ने कहा, रवानी लो।
दो फूल मिले, खेले-झेले,
वन की डाली पर झूल चले।

२

इस जीवन के चौराहे पर
दो हृदय मिले भोले-भोले,
ऊँची नजरों चुपचाप रहे
नीची नजरों दोनों बोले।
दुनिया ने मुँह बिचका-बिचका
कोसा आजाद जवानी को,
दुनिया ने नयनों को देखा
देखा न नयन के पानी को।
दो प्राण मिले, झूमे-घूमे
दुनिया की दुनिया भूल चले।

३

तरुवर की ऊँची डाली पर
दो पंछी बैठे अनजाने।
दोनों का हृदय उछाल चले
जीवन के दर्द-भरे गाने,
मधुरस तो भौंरे पिये चले
मधु-गन्ध लिये चल दिया पवन।

पतझड़ आई, ले गई उड़ा
वन-वन के सूखे पत्र-सुमन।
दो पंछी मिले चमन मे, पर
चोंचों में लेकर शूल चले।

४

नदियों मे नदियाँ घुली-मिलीं
फिर दूर सिन्धु की ओर चलीं,
धारों में लेकर ज्वार चलीं
ज्वारों में लेकर भोर चलीं।
अचरज से देख जवानी यह
दुनिया तीरों पर खड़ी रही;
चलनेवाले चल दिये और
दुनिया बेचारी पड़ी रही,
दो ज्वार मिले मझधारों में
हिलमिल सागर के कूल चले।

५

हम अमर जवानी लिये चले
दुनिया ने माँगा केवल तन,
हम दिल की दौलत लुटा चले
दुनिया ने माँगा केवल धन।
तन की रक्षा को गढ़े नियम
बन गई नियम दुनिया ज्ञानी,
धन की रक्षा में बेचारी
बह गई स्वयम् बनकर पानी।
धूलों में खेले हम जवान
फिर उड़ा-उड़ाकर धूल चले।

जानकीवल्लभ शास्त्री

मेरी शिथिल मन्द गति ही क्यों

मेरी शिथिल, मन्द गति ही क्यों,
गिरि, वन, सिन्धु-पार भी देखो।

पीले पत्रों में वसन्त के लाल प्रवालों का दल सोता,
काले जड़ पाषाणों में रहता उज्ज्वल जीवन का सोता,
आँखों का खारा जल ही क्यों,
उर का मधुर प्यार भी देखो।

बरसाकर अपना सारा रस निःस्व हो गई नीरद-माला,
वन-वन रँग-रुचि मधु-सौरभ भर कलियों ने खुद को खो डाला,
ऊपर सूनी डाली ही क्यों,
नीचे हरसिंगार भी देखो।

नभ के शून्य नयन भर आयें, तो अवनी का ताप भला रे,
शीतल हो जो हृदय किसीका, तो कोई ले मुझे जला रे,
सोने का तपना ही क्यों,
तुम अपना कण्ठ-हार भी देखो।

विराट-सङ्गीत

प्यास तुम्हारी कण्ठ-कण्ठ मे,
रूप तुम्हारा नयन-नयन मे।
प्राण-पतंग प्रथम-मद-माते
मँडलाते कामना-अनल पर,
ऊर्ध्व श्वास से लपट उठाते,
बुझ जाते विश्वास अटल कर,
मान-भरा बलि-दान व्यर्थ है,
उच्च लक्ष्य का पंथ धँसा-सा;

यही सत्य जागरित दिवा का,
यही स्वप्न नित नैश शयन में।
प्यास तुम्हारी कण्ठ-कण्ठ में,
रूप तुम्हारा नयन-नयन में।
अभिव्यक्ति जीवन है जिसकी,
मरण उसी सत्ता की सिकुड़न,
पावस जिसका श्याम वर्ण है,
शरद उसीका उज्ज्वल दर्पण,
जाने कैसे दृष्टि उलझती,
स्पष्ट सृष्टि के ताने-बाने;
चित्रपटी की रेख देख पड़ती—
विचित्र वरतन्तु-वयन में।
प्यास तुम्हारी कण्ठ-कण्ठ में,
रूप तुम्हारा नयन-नयन में।
व्याप्त किये द्यावा-पृथिवी को
देव, तुम्हारा सुन्दर मन्दिर;
जिसके वातायन से छन-छन
छनती पवन-तरंगें झिर-झिर,
सूर्य्य-चन्द्र छिपते अतन्द्र हैं
ज्योतिर्मय अखण्ड-दीपक-से,
पूजा-अर्चा की चिर-चर्चा
कुञ्ज-कुञ्ज के कुसुम-चयन में।
प्यास तुम्हारी कण्ठ-कण्ठ में,
रूप तुम्हारा नयन-नयन में।

—

उपेन्द्रनाथ अश्क

दीप जलेगा

अंधकार बढ़ता आता है !
घोर गहनतम अंधकार,
निर्ममता का निस्सीम ज्वार,
बढ़ता आता घन-अंधकार !

सरक रहा है,
भूधर से काले अजगर-सा,
अंध-गुफा ऐसा मुहँ फाड़े
धीरे धीरे,
पल पल,
क्षण क्षण,
मुझे लीलने !
बीहड़वन में, मृगशावक ज्यों,
देख अकेला !
नख अपने चुपचाप छिपाये,
पाँव दबाये,
धीरे धीरे,
पल पल,
क्षण क्षण,
सरक रहा हो
हिंस्र बघेला !
या विस्तीर्ण-मरुस्थल में ज्यों,
संध्या-वेला !

सरक सरक चुपचाप निगलने
श्रान्त पथिक को ,
क्लान्त पथिक को ,
बढ़ता है दिशि दिशि से घिर कर
अमा-निशा के तम का रेला !
दुःसह, दुर्वह, दुर्निवार !
बढ़ता आता घन अन्धकार !
बढ़ते आते अन्धकार को देख प्राण तुम
चुप चुप मुझको देख रही हो !
देख रही हो—
सभी ओर से
जैसे घिरकर ,
शत्रोरभिमुख
हो जाता है घायल मृगवर !
मैं भी सम्मुख
हो बैठा हूँ
महाकाल के
इस कंकाल देह को लेकर !
देख रही हो—
दाँत पीसकर ,
शक्ति-शेष से ,
तलछट तक मैं
अन्तर के घट का स्नेहासव
पिला रहा हूँ ,
इस दीपक को
अन्धकार से जूझ रहा जो !
देख रही हो—
मिट मिट कर जीने की मेरी प्रबल-साध को !

देख रही हो
प्रति पल गहरे होते आते तम-अगाध को !
औ' करुणार्द्र तुम्हारी आँखें
अन्त सोचकर ,
पीड़ा से भर ,
घिरी घटा-सी
उमड़ पड़ी हैं !
सखि, अपने ये आँसू पोंछो !
युग युग पहले के समाज में
बिकने वाली
नहीं प्राण तुम
क्रीता-दासी !
एक पुरुष के मर जाने पर ,
सहज भाव से ,
अनदेखे अथवा अनजाने
अन्य पुरुष की
सेवा में रत
हो जाती जो !
नहीं सती तुम पूर्वकाल की
संगी के देहावसान पर ,
परिभ्रष्टावस्था को पहुँचे
स्नेह-भाव से होकर बेवस ,
शव उसका गोदी में लेकर ,
ज्वलित चिता पर
सो जाती जो !
नहीं प्राण, तुम बन्दिनि अबला !
क्रूर रीति की
सकुल, सम्वृत जंजीरों में

जकड़ी अबला !
बाट पुरुष ही के आश्रय की प्रति क्षण तकती
औ' बिन उसके
पथ ही पथ में
खो जाती जो !
तुम हो सुभगे,
मेरी सहचारि, मेरी मंत्रिणि,
मेरे-कर्म-क्षेत्र की संगिनि
पग से पग,
कन्धे से कन्धा,
सदा मिलाकर चलने वाली !
तुमसे तो यह आशा है यदि,
कर्म-क्षेत्र के धर्म-क्षेत्र में
आये भाग्य वीर-गति मेरे,
तो तुम मेरे गिरते कर से
ध्वजा छीनकर,
आँसू पीकर,
ओंठ भींचकर,
कदम बढ़ाती सैन्य-पंक्ति के
पग से पग,
कन्धे से कन्धा,
सतत मिलाती
बढ़ती जाओ !
सखि, अपने ये आँसू पोंछो !
धन्यवाद दो
अपना जीवन
मैंने,
बड़ी दीनता से तुम अपनी नित्य हिलाकर,

सोल्लास कर स्वामी के जूतों का चुम्बन,
किया न यापन !
जमा रहा मैं
ज्ञान-दीप ले।
चाहे लेकर,
अपना दल बल,
आये बादल
अन्ध-ज्ञान के बार बार !
बढ़ता आता घन-अन्धकार !
सरक रहा है,
भू-घर से काले अजगर-सा,
अन्ध-गुफा ऐसा मुहँ फाड़े,
मुझे लीलने !
किन्तु नहीं है मेरे मन में भय का दंशन
किन्तु नहीं है मेरे तन में कम्पन सिहरन !
वही पुराना मेरे स्वर का
गर्जन तर्जन !
वही पुराना
मेरी वाणी का पैनापन !
वही पुराना
मेरे दीपक का उजला घन !
नहीं प्राण,
मैं मौन न हूँगा !
स्वर मेरा,
गर्जन मेघों का,
कड़क तड़ित् की,
लय उन्मत्त चढ़े सागर की
भर,

गायेगा !
जब तक अन्तिम श्वास शरीर में ,
अपनी वाणी
समरांगण तक पहुँचायेगा !
औ' यदि बढ़ता हाथ काल का
आकर मेरा गला मरोड़े !
कर मेरी वीणा क्षत-विक्षत ,
सतत मुखर तारों को तोड़े !
महाकाल के ,
महागर्त में ,
चिर सोने वालों से मेरा
नाता जोड़े !
तो चाहे अग जग पर छानेवाला
मेरा स्वर मिट जाये ,
किन्तु प्राण ज्यों ,
—कृष्ण पक्ष के
मसि-सागर को
चीर, उदित हो ,
छाती चन्द्र-किरण है नभ पर ;
—कोटि शिलाओं के नीचे से
दबी युगों से ,
फूट निकलती है ज्वाला ज्यों
दबी न रहकर ;
—भू का वक्ष तोड़कर अविचल
फूट निकलता
कल कल
निर्झर !
संगिनि, मेरे स्वर की दुर्धर

गूँज उठेगी !
महाकाल के
अन्धकार की
महाशिला को
भेद, उठेगी !
औ' अग जग पर छा जायेगी'!'
मेरे स्वर की अप्रतिहतता,
दुर्निवारता,
समरांगण तक पहुँचायेगी !
सखि, अपने ये आँसू पोंछो !
उसकी दुर्दमता में तुम भी
अपने स्वर की
गूँज मिलाना !
यह दीपक, जो मैंने बाला,
तुम भी इसमें
अपने स्वर का
स्नेह जलाना !
समर-भूमि में
रत जो साथी,
अपने दुर्दम स्वर से उनको
मेरे स्वर की
याद दिलाना !
औ' जब समय तुम्हारा आये,
अन्धकार दिशि दिशि से घिर कर, पल में
तुम्हें लीलना चाहे,
इस बालक को,
विस्मित, उत्सुक औ' उन्मन-सा
पास तुम्हारे

मौन खड़ा जो ,
दीपक देकर ,
अन्धकार से लड़ने के सब भेद बताना !
समरांगण की राह दिखाना !

दीप जलेगा !
समरांगण के दीप जलेंगे !
अन्धकार से सतत लड़ेंगे !

——

नगेन्द्र

प्रेयसि ! ये आलोचक कहते......

प्रेयसि ! ये आलोचक कहते, मेरी कविता निस्पन्द हुई !

अब भी तो मेरे नयनों का नित ऊषा अभिनन्दन करती ।
हाथों में कुंकुम थाल लिये सन्ध्या हँस हँस वन्दन करती ।
अब भी इन सोई पलकों पर चुम्बन धर जाती मलय-वात ,
मरकत के शत शत दीप जला नीराजन करती मदिर रात ।
रवि की ये लजवंती किरणें अब भी किञ्जल्क बिखेर रहीं ,
सोने के अगणित जाल बिछा मेरे प्राणों को घेर रहीं ।
सित-वसना चन्दा की रानी चितवन से बरसा सुधा-धार ,
चाँदी की तरल अँगुलियों से झंकृत कर जाती तार-तार ।

अब भी तारों की रहस-कथा, तुमही कहदो, क्या बन्द हुई !
प्रेयसि ! ये आलोचक कहते मेरी कविता निस्पन्द हुई ।

झलमल मोती के हार, शरद की फेनोज्ज्वल रातें आतीं ।
होठों पर मेघ-मल्हार लिये मदमाती बरसातें आतीं ।
अब भी वसन्त का प्रथम परस वसुधा को पुलका-कुल करता ,
शतरंगी मदिरा ढाल, विकच अंगों में यौवन-रस भरता ।
भीने रसाल की बौरों से उलझी पिक की काकली मधुर ,
कानों में मधु घोलती, झनकते मुग्ध चेतना के नूपुर ।
फूलों के तन में हास, हास में सुरभि-रेख अवशेष अभी ,
नव रूप और रस, गंध, स्पर्श की मन में चाह अशेष अभी ।

इस विश्व-प्रिया की मादक छवि अब भी क्या किञ्चित मंद हुई,
प्रेयसि ! ये आलोचक कहते मेरी कविता निस्पन्द हुई ।

और नारी ! इस संसृति-मंथन का वह सार अमृत-विष-मदिरा-मय ,
जिसके इंगित पर खेल रहे नर के जीवन के सर्ग-प्रलय ।

वे अङ्ग वर्तुलाकार खुले-अधखुले मदिर-सुख के सरोज,
लज्जा के बन्धन तोड़ उभरता वक्ष, निमंत्रण-मय उरोज।
भादों से काले केश, लहरता ज्यों सरिता पर अन्धकार,
वह अतल नयन-वंकिमा देखती जो प्राणों के आर-पार!
कोरों में स्मिति की रेख! मधुर वे बिम्बाधर चुम्बन-चर्चित!
नारी-तन! मानव-चित्र-गीत-कविता द्वारा शत विधि अर्चित।

बढ़ रहा रूप का ज्वार, इधर यौवन की प्यास अमन्द हुई!
प्रेयसि! ये आलोचक कहते मेरी कविता निस्पंद हुई!

जीवन सुखमय, पर पाल रहा सुख को उसका विपरीत भाव!
जितना ऊँचा उसका वैभव, उतना ही गहरा है अभाव!
संक्षिप्त हृदय की परिधि किन्तु विस्तीर्ण अभावों की माया,
कञ्चन-काया पर चढ़ी मृत्यु की अन्धी क्रूर-मलिन छाया!
क्षण-दीप्त मिलन की ज्वाल, वासना का अनन्त पर धूम दाह,
परिमित जीवन का पात्र, उधर इच्छाओं का बाड़व अथाह!
कटु अर्थ-जन्य क्षुद्रता, स्वजन का कपट, इष्ट का अनाचार,
उद्धत घमण्ड की ठकोर से कुचला मणिधर-सा अहंकार!

कविता के मौलिक स्रोत, कहाँ इनकी शाश्वत गति बन्द हुई!
प्रेयसि! ये आलोचक कहते मेरी 'कविता' निस्पंद हुई!

और फिर, इन सबको मणि-मौलि प्राणप्रिय! तुम शत जन्मों का प्रसाद,
मेरे जीवन पर झुकी देवता का जैसे आशीर्वाद!
तुमने जग की विषाक्त कटुता को बना दिया मधु, अमृत, सोम,
सित गङ्गाजल-सा स्नेह तुम्हारा प्लावित करता रोम रोम!
तुम अक्षय-मङ्गल-मूर्ति तपस्विनि! क्षुब्ध चेतना को विराम,
पाकर तव निस्पृह आत्मदान मेरी लघुता है पूर्ण-काम!
मैं भोग रहा कटु-तिक्त प्राण में पाल रहा शुभ-मधुर भाव,
सुख देता रस माधुर्य, तीव्रता दान कर रहा है अभाव!

उर का प्रति स्पंदन भाव बना; प्रत्येक श्वास-गति छन्द हुई!
प्रेयसि! ये आलोचक कहते मेरी कविता निस्पंद हुई!!

आज का कवि

है शिशिर-निशा का मध्य प्रहर—
निस्तब्ध, शीत-विजड़ित मलीन !
अम्बर की मैली कन्था में सो गया धूल से भरा हुआ
श्रम-क्लान्त जगत का कोलाहल !
सो रही राजधानी अचेत, प्रौढ़ा-सी लेकर
युग-युग से अपना सयत्न-रक्षित यौवन—
कितनी चिन्ताएँ लिप्साएँ सुख-दुःख छिपाये अन्तर में।
सोये हैं थक कर राजमार्ग निष्ठुर पद-घातों से विह्वल,
बस अभी अभी सोये हैं मिल—जैसे मदपायी हों सोये
धुँए के उगल-उगल बादल।
सोईं ये दुर्धर प्राचीरें अपना अस्थिर इतिहास लिये,
सो गये नगर के भद्र-भवन चिरचंचल हास-विलास लिये।

× × × ×

मैं देख रहा हूँ लाल किला
दिल्ली का चिर-चेतन प्रहरी—
उसकी आँखों में नींद कहाँ ?
उसने देखा चित्रित वैभव।
जब नीलम के अवगुण्ठन में झिलमिल तारों से लदी रात
मांसल पौरुष पर मुग्ध लुटा जाती थी सपने शिथिल गात।
नीचे रेशमी शिलाओं पर यौवन की मादकता, बिछली
मद से विह्वल, मधु में लिपटी, सौरभ से अन्धी, सुरास्नात !
उन नाजभरी सुन्दरियों के चंचल चरणों को चूम-चूम
घुल जाता था मखमल सुख से हँस-हँस पड़ते थे चित्र-फूल !
होठों की लाली से रँग कर
निस्सृत होते श्रृंगार-गीत,
जैसे गुलाब से गंध—
अगरु से धूम !
और मद से उफान !

मेरी आँखों में झूल गये हम्मामों के वे मूक दृश्य !
जल की चल लहरों से उठ कर
जब नंगी परिमल की परियाँ,
सहमी-सी न्हाने वाली को !
हँस कर देती थीं आमन्त्रण !
लो पल में खिसक गया आँचल,
खिसका तरुणी का अधोवसन—
जल चञ्चल हुआ परस पाकर
जगमगा उठा एकान्त भवन !
एकान्त भवन !
जैसे योगी, तम से आवृत समाधि तज कर—
हो घूर रहा सुन्दरता को आँखों में काम-शिखाएँ भर !
× × × ×
इतने में घर-घर शब्द हुआ,
रजनी का नीरव वक्ष चीर घर्राया नभ में वायुयान !
अन्तर्चेतन में छिपे हुए सब खड़े होगए मूर्तिमान—
मोटे हरफों में लिखे हुए पत्रों में रण के समाचार !
झट टूट गया रेशमी तार !
चेतन के वे रंगीन स्वप्न
पंखों को तोल उड़े नभ में,
रह गया चकित निस्सम्बल मन
फिर विफल हुए सब आवाहन !
असहाय, आह, इस युग का कवि !
वह जूझ नहीं सकता दुख से !
वह भाग नहीं सकता दुख से !
वह भूल नहीं सकता दुख को !

——

रामइकबालसिंह 'राकेश'

दृष्टिकोण

अन्तरङ्ग साहित्य-सृष्टि का
औ' बहिरंग मनोहर,
एकरूप हो रहे अन्ध छाया
का केंचुल तजकर।
मौन हो रहे तार बीन के
अमर बीन के सरगम,
मौन तार अनहद वाणी के
बजते थे जो हरदम।
आज न लगते पवन-हिंडोला
गगन-गुफा के भीतर,
त्रिकुटि-महल में दीप न बाती
अन्धकार भीषणतर।
नील कमल, खंजन, चकोर,
शुक-पिक, दाड़िम, बिम्बाफल,
आज नहीं उपमा बन करते
कला-प्रदर्शन निष्फल।
देख रहा कवि दृश्य जगत् को
जल-सा एक नजर से,
कामधेनु भी प्यास बुझावे
नहीं व्याघ्र भी तरसे।
देख रहा कवि दीप-दृष्टि से
रूप-जगत् को बिम्बित,
रंक-नृपति दोनों के गृह को
एकभाव से दीपित।

रामइकबाल सिंह 'राकेश'

वाणी का शृङ्गार हो रहा
वस्तु-सत्य का अङ्कन ,
चित्र-भूमि का पृष्ठ : क्षोभ
शोषण का जीवित दर्शन ।
जीवन के पथरीलेपन पर
हरियावल लहराना ,
जीवन की हल्दीघाटी में
बलि को न्योत बुलाना ।

हिमालय-अभियान

गरुड़ की-सी भूख लेकर सिन्धु का गति-ज्वार ,
प्यास उदित अगस्त्य की ले दीर्घ अमित अपार ।
बने नचिकेता मनुज-दल चले यम के द्वार ,
ज्ञान की विस्तीर्णता का देखने संसार ।
एक ओर अजेय पर्वतराज का विस्तार ,
लहलहाती शून्य ऊँची बर्फ की दीवार ।
किन्तु, इधर त्रिशंकु-सी निर्बल पुरुष की साध ,
देवलोक सदेह जाने का प्रयास अबाध ।
हर कदम पर आपदा गतिरुद्धता आघात ,
हर कदम पर मुखर झंकृत विकट झंझावात ।
हरहराती गुफा - दरियाँ रीढदार दरार ,
बर्फ के टुकड़े नुकीले कीलदार पठार ।
खड्ड नीचे और सिर पर टूटती चट्टान ,
कटकटाता दौड़ पड़ता निगलने तूफान ।
हर कदम पर मृत्यु की धूमिल धधकती आँच ,
हर कदम पर प्राण की कुरबनियों की जाँच ।
ईंट से कुरबानियों की शान की मीनार ,
खड़ी करने को चले नर मृत्यु को फटकार ।

विकट प्रतिद्वन्द्वी हिमालय शक्ति का भण्डार,
गुणातीत अगम्यता का सन्तरी खूंख्वार।
मौन गौरव-दीप्त मुद्रा उठा बारम्बार,
क्षीणकाय अशक्त मानव को रहा ललकार।
शिलाखण्डों की चुनौती अनवरत हुंकार,
लोमहर्षक मर्म-विस्फाटक प्रखर चीत्कार।
हर कदम पर प्रकृति का परिवेश दिव्याकार,
हर कदम पर नयन-मोहन सृष्टि का शृंगार।
खड़ा गर्वोन्नत लिये शिर एवरेस्ट विशाल,
हिमाच्छादित गगनचुम्बी चोटियाँ विकराल।

बढ चले हर्विन मलेरी विजन पाटी लाँघ,
डगमगाते अडिग मग में दुर्ग दुर्गम लाँघ।
जोङ् तिङ्क्यि-जोङ् शी-गर् जोङ् कालिम्पोङ्,
भोङ् छू को पार करते और खम्-पा जोङ्।[1]
छोड़ पीछे झील उपवन झाड़ियाँ सुनसान,
वेल कुवलय लता-पल्लव धवल दुग्ध-समान।
झाड़ शुकपा के सलोने विविधरंगी फूल,
उठे ऊपर झुके नीचे हरितपर्ण दुकूल।
चीड़ का वह प्रमद कानन देवदारु ललाम,
सरों के सुकुमार पत्ते, भोज-द्रुम अभिराम।
उड़े बाजों की चमत्कृत दृष्टि से अविराम,
चढ़े असि की धार पर तज फर्श के आराम।
चमकती चपला कड़कती उगलती अंगार,
गगन-वन में जहाँ करती स्वर-धनुष टंकार।

---

१. जोङ् (किला); खम्-पा जोङ् (खम्—पूर्वी तिब्बत, खम्-पा—पूर्वी तिब्बत के बाशिन्दे; खमवालों का किला हुआ खम्पाजोङ्); शी-गर् जोङ् भोङ् छू नदी की घाटी को पार करते हुए एवरेस्ट-शिखर की ओर बढ़ना होता है।

कहीं खाकी चौथड़ों की खिंची घन में रेख,
जलद अथ घ बनी कादम्बिनी[1] काली देख।
कहीं सुन्दर और परतीले उनीले मेघ,
कहीं नन्हें हिमकणों से बने कुन्तल मेघ।
कम घने भी अति घने भी लाल - पीले मेघ,
शीघ्र ही संयुक्त होते विलग होते मेघ।
कभी बर्फीले शिखर से उफन उठती भाप,
वायुमण्डल पर चढ़ाती सघनता के चाप।
कभी जल-सीकर हिमानी वेग से एकत्र,
गगन में घिर फैल जाते दौड़कर सर्वत्र।
घिरे रहते टपक पड़ते घुमड़ मूसलधार,
परों में या धारियों मे शुभ्र विपुलाकार।
कभी कुञ्जर कुंज मन्थर पवन से सम्पृक्त,
स्वर्ण-मृग-से चौकड़ी भरते उछलते दृप्त।
ठोस नीचे और ऊपर कुण्डलित घन गोल,
शून्यता का नील अञ्चल फरफराता डोल।
कपिल पिंगल केश खोले शिखर शुण्डाकार,
कर रहे दुर्गम्यता का शून्य में प्रस्तार।
रोकते गतिवान होने से अडिग पाषाण,
दरकती पगडण्डियों में कड़कते अरमान।
हो रहा दूभर बढ़ाना एक डग भी और,
नहीं सम्भव अधिक चढ़ना शृंग-ऊपर और।
सूखते मन-प्राण खण्डित फूल-से मुख म्लान,
हृदय के कटिबन्ध ढीले छिन्न साज-कमान।
साँस लेना भी असम्भव घुलटते-से प्राण,
चौंधियाते नेत्र मुख से रक्त का सन्धान।

[1] कादम्बिनी मेघमाला घने जलदों में उत्पन्न होती है। कुन्तल मेघ पाँच मील की ऊँचाई तक देखे जा सकते हैं। इनसे कुछ ही नीचे कुञ्ज, उनीले और परतीले मेघों का स्थान होता है।

नसों के तूणीर से चिनगारियों के तीर,
झनझनाकर छूटते, बजती हवा में मीड़।
बेध सर्पिल सौर - मण्डल दीर्घ वृत्ताकार,
धूमकेतु निहारिकाएँ निखिल वलयाकार।
कुण्डली मारे गगन में दिग्दिगन्त समेट,
बाहुओं में अर्कमण्डल अन्तरिक्ष लपेट।
तोड़ बाधा-बाँध दुर्गम लौह दुर्ग कठोर,
बढ़े चल ओ महामानव, लक्ष्य-पथ की ओर।
ध्येय के निर्माण में हो सफल जीवन-होम,
बनें ढोकें और टेकड़ियाँ पिघलकर मोम।
सिन्धु से भी अधिक गर्वीला तुम्हारा गान,
सूर्य के ऊपर चमकता तुङ्ग तेरा यान।
निखिल व्योम ललाट तेरा और पद पाताल,
सघन कज्जल केश कानन वज्रभुज दिग्पाल।
हास विद्युत् श्वास मारुत शैल देह अखण्ड,
नयन दिनमणि रक्त अम्बुधि दाढ़ मृत्यु प्रचण्ड।
श्रेष्ठ तुझसे नहीं कुछ भी मनुज जग में अन्य,
तुम्हीं वामन से बने हो विश्व-पुरुष वरेण्य।
तू अगम्य अचिन्त्य मानव युगपर्य्यन्त अनन्त,
प्राणकेन्द्र खगेन्द्र से भी वेगमय बलवन्त।
ज्ञान-गङ्गा के भगीरथ अयन-ऋतु के लीक,
शालस्कन्ध-समान उन्नत मुक्तिदण्ड प्रतीक।
यज्ञ-अङ्गों से तुम्हारे यक्ष वरुण सुरेश,
सृजित होते किम्पुरुष गन्धर्व किन्नर शेष।
मेदिनी का पुत्र मंगल दिव्यज्योति अनूप,
ओ अमर मानव, तुम्हारा ही विराट स्वरूप।
पार उतरे सर्ग कितने प्रलय कितने काल,
प्राण के रथ पर तुम्हारे पक्ष कितने साल!

मलय सिंहल चोलमण्डल सिन्धु के उस पार,
मनुज, तेरी सभ्यता का उन्नयन विस्तार।
सूर्य का रथ रोकनेवाला विराट ललाट,
विन्ध्यगिरि की मेखला का भीमकाय कपाट।
शक्ति-क्षमता से तुम्हारी संकुचित कर अंग,
नम्रता से झुक गया था गर्व-शृङ्ग अभंग।
शीर्ण रम्भा-पत्र से कर शिशिर-ऋतु-से दीर्ण,
भीरुता की क्लैव्य-कीलित भावना को जीर्ण।
भंग कर पग-ठोकरों से काल का व्यवधान,
चढ़े चल तू ओ पहाड़ी शाहबाज महान।
गिरि-शिखर पर अंशुमाली का मुकुट छविमान,
दहकता आदर्श का वह क्षितिज गरिमावान।
गड़गड़ाता बढ़ रहा ढक्कन धरा का तोड़,
पवनपंखी ग्लेशियर वह पर्वतों को फोड़।
गति-विरोधी कण्टकों, लघु कंकड़ों को लील,
वज्रदन्ती तीक्ष्णता से पंथ बन र छील।
चल रहे शनि शुक्र वृश्चिक वृहत् उल्कापिण्ड,
सुरँग पुच्छल लुब्ध लुब्धक गोल पृथिवीपिण्ड।
चल रहे पल पहर घण्टा घड़ी निशि दिन मास,
वर्ष युग के यान चलते राशिचक्र प्रकाश।
लुढ़क चलते उपल-शिवशंकर भँवर से दूर,
रगड़-घर्षण से परस्पर दलित होकर चूर।
गहन पैनी धारवाले पत्थरों के तीर,
चोट पहुँचाते कगारों को खुरचते चीर।
सिन्धु, लहरों से निरन्तर कठिन तट के कूल,
काटता विस्तीर्ण करता अचल जीवन-मूल।
किन्तु, मानव ठहर जाये उच्च गौरव-स्तूप,
खोल कैचुल का चढ़ाये बना अजगर-रूप!

बढ़ चले इर्विन मलेरी बर्फ का घन छेद,
मन्त्र-प्रेरित ब्रह्म-शर-से दुर्ग दुर्गम भेद।
कर रहा इंगित जिधर कर्त्तव्य का ध्रुव छोर,
थाम सीने में कलेजे को बढ़े उस ओर।
विस्फुल्लिङ्गित साध का लेकर महागाण्डीव,
भेदने निकले हिमालय लक्ष्य का उद्ग्रीव।
चल पड़े पर से उड़ाने मशक अण्डकटाह,
था कि जैसे चले रवि की गृद्ध लेने थाह,
झुलस अनथक पंख होंगे क्षार,
खाक में मिल कर रहेंगे जीत हो या हार!
साधना के ज्वाल में विकराल,
कनक से कुन्दन बनेंगे लाल।
चल पड़े वंशी बजाते काँच,
नाथने गिरि-वासुकी को बाँध।
खिलखिला उठता हिमालय शिव-पिनाक-समान,
घुमकता घन छेद उसका गर्व-गंजन गान।
हर कदम पर चीरता हिम-दन्त अंग-प्रत्यङ्ग,
हर कदम पर गूँजता प्रति घ का सारङ्ग।
रुक्षता का शिलीभूत कगार,
हर कदम पर राशि-राशि तुषार,
थहरता उर-तन्तुओं का तार,
हर कदम पर विघ्न-क्लेश अपार।
परुषता का वक्र-भृकुटि-कुठार,
लौह पंजों में लिये संहार।
कुटिल दाढ़ों में चपेट दरार,
लपकता प्रतिक्षण निगलने को निखिल संसार।
गरुण की-सी भूख लेकर सिन्धु का गति-ज्वार,
प्यास उदित अगस्त्य की ले दीर्घ अमित अपार।

बने नचिकेता मनुज-दल चले यम के द्वार,
ज्ञान की विस्तीर्णता का देखने संसार।
चल पड़े इर्विन मलेरी बर्फ का घन छेद,
मन्त्र-प्रेरित ब्रह्म शर-से दुर्ग दुर्गम भेद।
चल पड़े वंशी बजाते काँध,
नाथने गिरि - वासुकी को बाँध।

साध कैसी? घन-सुमन को सूँघने की साध?
लघु पतङ्गों की शिखा से जूझने की साध?
साध? बनकर तेल जो बलि-दीप के जल जाय?
मेघ-वन में भी गुलाबी फूल-सी खिल जाय?
स्वप्न कैसा? जो न फोड़े मुष्टि से कैलाश?
स्वप्न कैसा? जो न भुज में बाँध ले आकाश?
ललक? जो ले मोमबाती से पिघलती पीर?
स्वयं जलकर विश्व को दे ज्योति तम को चीर?
लगन? जिसमें धधकते हों जेठ के गुब्बार?
लगन? जिसमें डहकते हों प्राण के अङ्गार?
सनकता छूटे सनन गाण्डीव के उच्छ्वास,
लगन? जिसमें बहे लंका के पवन उनचास।

काल कालिय नाग की कर शीर्ण विष-जंजीर,
सो गये चिर नींद में वे अमृतप्राशी वीर।
पी गये जो धूम विष का श्याम,
उन अमर बलिपंथियों को कोटि-कोटि प्रणाम।
जो न अन्तिम क्षणों में भी हुए विचलित नेक,
सफलता हो या विफलता पर न छोड़ी टेक।
सिर झुका, ले स्तुति सुमन के हार,
वन्दना उन पुरुष-सिंहों की करे संसार।
ध्वस्त उनके अस्थि-कण को स्नेह से संतृप्त,
अमृत-बूँदों में बरसकर मेघ कर दे सिक्त।

क्षिप्रपंखी हवा, तू बलि के अमर वे बोल,
सनसनाती रह सुनाती युग-युगों तक डोल।
समय के इतिहास पर भी कालिमा छा जाय,
पर मधुर बलिदान की यह अमिट लिपि रह जाय! १

---

१ एवरेस्ट हिमालय की सबसे ऊँची चोटी है। पहले-पहल १९२१ ई० में कर्नल हावर्ड बरी ने इसपर चढ़ने का प्रयत्न किया था, पर सफल न हो सके। १९२२ में ब्रिगेडियर-जनरल ब्रूस के नेतृत्व में एक नवीन आरोही-दल संगठित किया गया। पर इस दल का लेफ्टिनेण्ट नार्टन भी २८१२६ फुट की ऊँचाई से अधिक नहीं पहुँच सका। इसके बाद मलेरी और इर्विन एवरेस्ट की ओर चले; पर ये दोनों भी सदा के लिए बर्फ की कब्रों में ही सो गये। १९३३ और '३८ में रूटलेज और डब्लू० एच० टिलमैन के नेतृत्व में एवरेस्ट पर चढ़ने की और चेष्टाएँ की गईं; किन्तु दुर्भाग्यवश इन्हें भी सफलता नहीं मिली। ऊपर की कविता ज्ञान और रहस्य की खोज में हँसते-हँसते मृत्यु का आलिंगन करनेवाली इन्हीं हुतात्माओं की स्मृति में लिखी गयी है।

नर्मदाप्रसाद खरे

गीत तुम्हारे गाती हूँ मैं

गीत तुम्हारे गाती हूँ मैं।
मौन प्रतीक्षा, सजल नयन ले सान्ध्य-प्रदीप जलाती हूँ मैं।
एक दिवस अनजाने ही तुम
इन प्राणों से खेल गये हो,
युग युग की प्यासी आँखों में
छवि का सिन्धु उड़ेल गये हो।
आँखें जहाँ ठहर जाती हैं, एक तुम्हें ही पाती हूँ मैं।
एक झलक में चिर-परिचित-सी
छाया उर पर छोड़ गये हो,
छाया पथ में कुसुम खिला तुम
जीवन की गति मोड़ गये हो।
पथ के शेष चरण-चिह्नों को चूम-चूम खिल जाती हूँ मैं।
माधव की मधु-माया दो पल,
इस डाली पर झूल गई है,
नन्दन की फुलवारी भी तो
इस मरुथल पर फूल गई है,
मत पूछो, इस शून्य-सदन में कैसे दिवस बिताती हूँ मैं।
रवि-रथ पर सन्ध्या-अञ्चल में
छिपते-से तुम चले गये हो,
विरह मिलन की युग-पलकों में
दिपते से तुम चले गये हो।
नीरवता को चीर क्षितिज पर पग-ध्वनियाँ सुन आती हूँ मैं।
गीत तुम्हारे गाती हूँ मैं।

अम्बर की बातें क्या जानूँ

मैंने धरती के गीत सुने, अम्बर की बातें क्या जानूँ !

धरती ने पहले बोल सुने, धरती पर पहला स्वर फूटा,
धरती ने जीवन-दान दिया, धरती पर जीवन सुख लूटा,
धरती माता के अञ्चल में ममतामय स्नेह-दुलार मिला,
धरती ने आँसू झेले हैं, धरती पर पहला प्यार खिला,
धरती ने स्वर्ण बिखेरा है, नभ की सौगातें क्या जानूँ !

फूलों ने हँस मोहकता दी, कलियों ने मृदु मुसकानें दीं,
मंजरियों ने मादकता दी, कोकिल ने मधुमय तानें दीं,
बल्लरियों ने गलबाहीं दे प्राणों को नव संगीत दिया,
काँटों ने कठिन परीक्षा ले जीवन का प्रेरक गीत दिया,
सोने के दिन कब देख सका, चाँदी की रातें क्या जानूँ !

सूरज धरती की छाती पर, सम्पूर्ण तेज अजमाता है,
नभ अपने वज्र-प्रहारों से धरती के प्राण कँपाता है,
ज्वालामुखियों-भूकम्पों ने धरती पर प्रलय मचाया है,
मानव ने मानव के वध से धरती पर खून बहाया है,
लपटों-शोलों से खेला हूँ, शीतल बरसातें क्या जानूँ !

ढह गये महल, गड़ गये मुकुट, धरती अब भी मुसकाती है,
चाँद-सितारे मौन खड़े, यह धरती अब भी गाती है,
धरती पर कितने चरण चले, कितनों ने रोया-गाया है,
धरती की नीरव भाषा को पर कौन भला पढ़ पाया है,
मैंने तो भू के अङ्क पढ़े, नभ-लिपि की घातें क्या जानूँ !

हंसकुमार तिवारी

स्मरण

तेरी बड़ी याद आती है !

कजरारे घन-नयन पसारे
इन्द्रधनुष की भौंह सँवारे
रुनझुन रिमझिम की पग-पायल
पी-पी प्राण-पपीहा टेरे

विद्युत् विकल कटाक्ष शून्य-सागर में जब लहरें भर लाती
तेरे नलिन-विलोचन की मुक्ता की झड़ी याद आती है !

एक बूँद जीवन का याचक
कब से प्यासा मरता चातक
जी भर रहा बरसता बादल
होती रही सजलता दाहक

दल मे दाग लिये इस दुख का शरच्चन्द्र नभ में जब आता
तेरे कनक भाल पर कज्जल-बिंदी जड़ी याद आती है !

राधा के प्रिय मनमोहन-सा
हँसता शशि का सम्मोहन आ
शेफाली-सा चू चू पड़ता
सपनों का वैभव लोचन का

विकच कुमुद-नयनों में रजनी शबनम के मोती रख देती
तेरे मुख-मयंक की छूटी मृदु फुलझड़ी याद आती है !

किसी अतनु से सहसा छूकर
प्रकृति प्रिया का यौवन सत्वर
बरबस फूलों में खिल आता
चिर गोपन अन्तरतम बाहर

मँजराये आमों पर कोयल की जब जलन गीत बन जाती
तेरे अरुण पलाश-अधर की टूटी कड़ी याद आती है !

ले बलिदान शलभ का अनगिन
जलती शिखा दीप की अमलिन
इसी अकथ पीड़ा में तप-तप
बन जाती जब विभावरी दिन

कोमल कमल-हृदय फट जाता, कनक किरण-कन्यायें हँसतीं
मेरी विवश व्यथा, तेरी हँसती छवि खड़ी याद आती है !

दिन का ध्यान रात का सपना
जीने का दो संबल अपना
तेरी विरह-व्यथा में तिल-तिल
इस जीवन-कंचन का तपना

श्वासों के पहरुए बिठाकर प्राणों में जगती है धड़कन
सुधि से दूर रह सकूँ ऐसी एक न घड़ी याद आती है !

विभूति

मेरे स्वप्न तुम्हारी रचना का अविदित विस्तार !
अधरों का अरुणिम उदयाचल, उस पर सजल नयन कालिंदी
जैसे उन्मीलित शतदल पर पारे-सी शबनम की बिंदी
कोटि कोटि किरणों के कर से उन आँसू को पोंछ थके तुम
मेरे गीत उसी हत करुणा का जीवित शृंगार !
जन्म-मृत्यु दो विन्दु बीच खींची तुमने जीवन की रेखा
पाप-पुण्य के दो अङ्कों में आजीवन संचय का लेखा
विपुल विश्व-वैभव को बाँधे आदि अन्त पर शून्य खड़े तुम
मेरा प्रेम तुम्हारे प्राणों का अमृत आधार !
बिछी चाँदनी, चुरा ले गई चुपके-चुपके प्राण कली का
परिछाईं-सा पीछे-पीछे पवन पंख पर गान अली का
अगणित तारक नयन बिछाये युग-युग अपलक देख रहे तुम
मेरे दीप तुम्हारी ज्वाला का कंपित अभिसार !
रुक-रुक जाती साँस, न छूटे मुझसे प्रिय निश्वास अचानक
झुक-झुक जाती आँख, न टूटे सपनों का विश्वास अचानक
यह वियोग-आशंका जग की, एक यही रोदन युग युग का
मेरा मरण तुम्हारी भूलों का निश्चित प्रतिकार !

सर्वदानन्द वर्मा

ओ कलंक के बिन्दु

ओ कलंक के बिन्दु
भाल पर युग युग से मेरे तू स्थिर है
ज्यों सुहाग के दुर्ग शिखिर पर नित नित रक्त पताका-सा
सिन्दूर कामिनी का फहराता
आज तुम्हें माथे पर धारे
सच कह दूँ, मैं पुलक पुलक उठता हूँ मन मे
मुझे रही कब साध, मिले तू
किन्तु भिखारी के घर आये हों जैसे भगवान
आ गया है जब
कोई दीन दरिद्र अयाचित ही पा जाय कोई अतुल कोष
पा गया तुझे जब
आ, तेरा स्वागत है
तू बन शक्ति, स्फूर्ति, प्रेरणा केन्द्र जीवन की
मुझको प्रगति दिये चल
असफल हूँ कि सफल, क्या जानूँ,
मंजिल दूर, तिमिर मय पथ
मैं पग पग अपने अहंभाव का ज्ञान लिये अभिमान लिये
बढ़ता ही जाऊँ एकाकी
है सीमाहीन यात्रा मेरी
तुझे सूम के सोने-सा ही अंक लगाये
ज्यों अखण्ड तू दीप, रक्त से अपने ही त्यों सतत जलाये
जगती का अभिशाप विवश अञ्चल में बाँधे
वारिद-सा दानी बन नित वरदान लुटाये
मेरा मानव आज नहीं लज्जित अपने पर
पूजाबल से पत्थर को भगवान बनाकर

सर्वदानन्द वर्मा.

मैंने कितने अश्रुपूत निर्माल्य चढ़ाये
तिल तिल कर मिट कर भी मैंने जीवन पर अभिमान किया है
तूफानों में गान किया है
सूने में रो रोकर जग को मुसकानों का दान दिया है
सत्य न हो सपना, तो भी क्या
कौन बना अपना, तो भी क्या
कालकूट कंठस्थ स्वयं कर अमिय सुधारस दान किया है
किन्तु मिला उपहार, मुझे यह सेवाओं का
सतत साधना का, मिटने का
पत्थर की पूजा करने का
नहीं दुःख है, यह तो जग में होता आया
कहीं धूल के हीरे का भी मूल्य आँक पाया है कोई
अमियदान कर फूल रहे थे देव सभी जब
तिक्त हलाहल पीनेवाले थे बस, योगी शंकर ही तो
शुभ्र, श्वेत मस्तक पर जग जन नहीं चाहते तुझे सजाना
नहीं चाहते गौरवमय होना तुझसे जब
आ तू मेरे पास, तिरस्कृत नहीं करूँगा मैं तुझको
जग के प्राणी अज्ञान भरे हैं
भूल गये वह, पूर्णचन्द्र में भी कलंक का स्थान अमर है
भूल गये वह, फूलों के सँग काँटों का अस्तित्व सत्य है एक चिरंतन :
तू मेरा पथ का ध्रुवतारा
ओ कलंक के बिन्दु, अमिट हो
मैं तुझ पर, तू मुझसे गर्वित रहे सदा ही ।

तुम उठो देव !

तुम उठो देव हे
शान्ति, सौख्य, समता प्रसार अनुराग लिये
फिर जागो ज्योति अखण्ड
भरत भू दलित धरा

सर्वदानन्द शर्मा

जय सामगान कण्ठों में भर
पगतल छू, युग युग धन्या-सी
खिल उठे अमन्द सुहाग पिये
ओ पूर्णकाम, ओ मुक्तिधाम, हे कोटिनाम
तुम चिरविराम में लीन राम के विश्वासी
ओ राजघाट चिर समाधिस्थ योगी युग के
हे नीलकण्ठ, जग का विष पीकर बार बार तुम हँसे
बहा दी वसुधा पर श्रीसुधा धार
ओ अग्निदूत, छूटे जग जन मन का विषाद
गा दो फिर ऐसा अमर गान
मुरदों में भी जीवन लहरे, जागे सोया भारत महान
स्वाधीन गान
जन मन में नव उल्लास, नई आशा, नव जीवन का प्रकाश
भर गया पूर्व का सूर्य
ज्योति से जगमग जगमग महाकाश
कामारि, तीसरा नयन खोल तुमने कर डाला भस्म
कलुष जीवन का, उठती महाज्वाल की लपटों में
धू धू जलता शोषन दोहन का महादुर्ग
अविनश्वर, नश्वरता को तुमने गरिमा दी
वह मरण चुनौती देगा जीवन को युग तक
वह कालवरण, हे कोटि चरण ,
आभरण बनेगा कोटि कोटि बलिदानों का, धिदानों का
हे शुद्ध, बुद्ध, ओ नित प्रबुद्ध
अवरुद्ध प्रगति के मुक्तिदूत
हे राष्ट्र विधायक, उन्नायक, गायक स्वर भर कर नित नवीन
तुमने धरती को प्रेम दिया, खिल उठा गगन आनन मलीन
स्वाधीन देश की साँझ
उठे जुगनूँ से दिये सिर उभार

सर्वदानन्द शर्मा :-

हँस रहा ग्राम, हँस रहा नगर
हँस रहा विजय, हँसता घर घर
यह कैसी विवश हँसी, खोकर गृहपति जैसे
स्वागत हो गृह में अतिथि और अभ्यागत का
वैसा ही स्वागत आज देवि स्वातंत्र्य तुम्हारा
अभिनन्दन करते जन जन
वैसे ही खण्डित भारत भू, भारानत, शोकादधि निःसृत
पा तुम्हें देवि, रचती मङ्गल
तुम गये, साथ ही गई देव, वह युगवाणी
तुम सोये, सोई अमर चेतना कल्याणी
गर्वोन्नत प्रहरी अचल हिमांचल खड़ा सजल
हिल गई नींद, हा गया सिन्धु उच्छल, अनुछल
खो गये वरद वह हस्त, ध्वस्त, अपदस्थ धरा
फिर त्रस्त, पोत मुख बार जोहती वसुन्धरा
आओ शिरदानी, निर्माता जन जीवन के
ओ भाग्यविधाता, सत्यं, शिवं, सुन्दरं के ओ घोर व्रती
जन जन का मन फिर एक बार तुमको पाकर हो हरा भरा,
कुछ दूर धरा से क्षितिज जहाँ मिलता प्रतिपल
उल्लसित दिवस का सूर्य डूबने चला, जगा उत्साह नवल
आया स्वर कवि के कानों मे
हे राष्ट्रदेव, फिर एक बार तुम जागो, स्वर्ण विहान करो
यौवन जीवन हो उठे धन्य
फिर से जीवन में राग जगे, अनुराग जगे
भारत के सोये भाग जगें
तुम चिर समाधि मे लीन, भृकुटि संचालन से
अंगुलि निर्देशन से नव नव इतिहास रचो
तुम सृजन करो नव प्राण, प्रजापति ओ महान्
ओ विष्णु, करो पालन अग जग का युग युग तक
शंकर बन भव का कालकूट विष करो पान फिर एक बार !

शिवमंगलसिंह 'सुमन'

अपने कवि से

(१)

इस जीर्ण जगत के पतझर में
अभिशप्त तुम्हारा कवि-जीवन
तुम मध्यवर्ग के पोषित शिशु
अपने सपने ले खड़े रहे
पर वे सपने युग की गति में
क्षण में डगमग हो ढहे बहे
तुम रोये यह अन्याय हुआ
मेरे प्रति दुनियावालों का
देखा भी नहीं कि कितनों ने
तुमसे भीषण आघात सहे
मुख से न आह तक निकल सकी शिकवा न किया अपनों से भी
कातर अन्तर, बोझिल पलकें
ले किया जगत का अभिनन्दन
इस जीर्ण जगत के पतझर मे
अभिशप्त तुम्हारा कवि-जीवन !

(२)

युग बढ़ा, दिये दो डग आगे
काँपी धरणी, सिहरा अम्बर
उगले हिमगिरि ने अंगारे
उन्नत प्रासाद हुए खंडहर
तुम भी वातायन से झाँके
बोले कारी भौतिकता है
अपनी कायरता-वश, कल्पित—
स्वप्नों में लीन हुए सत्वर
हड्डी थी मज्जाहीन हुई था खून रगों में शेष कहाँ !

तुमने निज पदतल की मिट्टी
ली चूम, किया सस्मित वन्दन
इस जीर्ण जगत के पतझर में
अभिशप्त तुम्हारा कवि-जीवन!

(३)

बढ़ गया कारवाँ मंजिल पर
तुम रहे सरायों में अटके
सुधबुध विहीन मदिरालय के
प्यालों को पीते बेखटके
जब होश हुआ तब चिल्लाये
मैं भी तो युग का प्रतिनिधि हूँ
पर टूट चुका था तब तक तो
सम्बन्ध-सूत्र खा कर झटके
फिर क्या था तुमने अपने को, दुनिया को, जीवन को कोसा
गुंजित कर डाला सूना पथ
निज निर्बल स्वर में भर क्रन्दन
इस जीर्ण जगत के पतझर में
अभिशप्त तुम्हारा कवि-जीवन!

(४)

इस ओर असंख्य अभागों की
टोली थी दल बल साज रही
उस ओर स्वार्थ सत्ताधारी
सबलों पर भीषण गाज ढही
पर तुम अपने अभिसारों में
गिनते थे तारों की पलकें
चुल्लू-भर पानी में मरते
थी लोक लाज भी शेष नहीं
आश्चर्य्य, तुम्हारे सरस कर्ण सुन पाये हाहाकार नहीं

हो गये बधिर जब बलिदानी
निकला पथ से करता झनझन
इस जीर्ण जगत के पतझर में
अभिशप्त तुम्हारा कवि-जीवन !

(५)

सोचो नवयुग अरुणोदय में
सन्ध्या रागिनी किसे रुचती
थोथी कल्पना तुम्हारी यह
क्या सत्य कसौटी पर कसती
यह क्षितिज पार के स्वर्णस्वप्न
यह कला अछूती उपचेतन
कैसे जग को अपना सकती
कैसे उसके मन को जँचती
था यहाँ प्रलय का आवाहन था निर्माणों का पुण्य प्रहर
तुम बीते युग की करुण कथा
गाते थे बन बन चिर-उन्मन
इस जीर्ण जगत के पतझर में
अभिशप्त तुम्हारा कवि-जीवन !

(६)

ऊपर पूँजीवादी समाज
नीचे शोषित जनता का स्वर
तुम आँखें ऊपर कर चलते
मिट्टी जाती है खिसक इधर
इस तरह प्रतिक्रिया और क्रान्ति
दोनों के बीच त्रिशंकु बने
तुम बना-मिटाया करते हो
अपनी आशाओं के खँडहर
अपने ही अन्तर का जाला बुन बुन कर चारों ओर, विवश

अपनी ही असफलताओं से
भर भर जग जीवन का आँगन
इस जीर्ण जगत के पतझर में
अभिशप्त तुम्हारा कवि-जीवन !

आभार

(१)

जिस जिससे पथ पर स्नेह मिला
उस उस राही को धन्यवाद !
जीवन अस्थिर अनजाने ही
हो जाता पथ पर मेल कहीं
सीमित पग-डग, लम्बी मञ्जिल
तय कर लेना कुछ खेल नहीं
दाएँ बाएँ सुख दुख चलते
सम्मुख चलता पथ का प्रमाद
जिस जिससे पथ पर स्नेह मिला
उस उस राही को धन्यवाद !

(२)

पर अवलम्बित काया
जब चलते चलते चूर हुई
दो स्नेह-शब्द मिल गये, मिली
नव स्फूर्ति थकावट दूर हुई
पथ के पहचाने छूट गये
पर साथ साथ चल रही याद
जिस जिससे पथ पर स्नेह मिला
उस उस राही को धन्यवाद !

(३)

जो साथ न मेरा दे पाये
उनसे कब सूनी हुई डगर
मैं भी न चलूँ यदि तो भी क्या
राही मर लेकिन राह अमर

इस पथ पर वे ही चलते हैं
जो चलने का पा गये स्वाद
जिस जिससे पथ पर स्नेह मिला
उस उस राही को धन्यवाद!

(४)

कैसे चल पाता यदि न मिला
होता मुझको आकुल - अन्तर
कैसे चल पाता यदि मिलते
चिर-तृप्त अमरता-पूर्ण प्रहर
आभारी हूँ मैं उन सबका
दे गये व्यथा का जो प्रसाद
जिस जिससे पथ पर स्नेह मिला
उस उस राही को धन्यवाद!

कितनी बार तुम्हें देखा

कितनी बार तुम्हें देखा पर आँखें नहीं भरीं!
सीमित उर में चिर-असीम सौन्दर्य्य समा न सका,
बीन - मुग्ध - बेसुध कुरंग मन रोके नहीं रुका,
यों तो कई बार पी पी कर जी भर गया, छका,
एक बूँद थी किन्तु कि जिसकी तृष्णा नहीं मरी,
कितनी बार तुम्हें देखा पर आँखें नहीं भरीं!
कई बार दुर्बल मन पिछली कथा भूल बैठा,
हार पुरानी विजय समझ कर इतराया ऐंठा,
अन्दर ही अन्दर था लेकिन एक चोर पैठा,
एक झलक में झुलसी मधु-स्मृति फिर हो गई हरी,
कितनी बार तुम्हें देखा पर आँखें नहीं भरीं!
शब्द, रूप, रस, गन्ध तुम्हारी कण कण में बिखरी,
मिलन साँझ की लाज सुनहरी ऊषा बन निखरी,
हाय गूँथने के ही क्रम में कलिका खिली, झरी,

भर भर हारी, किन्तु रह गई रीती ही गगरी,
कितनी बार तुम्हें देखा पर आँखें नहीं भरीं।

शरद्-सी तुम कर रही होगी कहीं शृंगार

काँस - सी मेरी व्यथा बिखरी चतुर्दिक,
बाढ़ - सा उमड़ा हृदयगत प्यार,
मेघ भादों के झमाझम झर रहे जो —
शरद-सी तुम कर रही होगी कहीं शृंगार।
लुट रहा है
छुट रहा है
रुद्ध - क्षुब्ध प्रवाह
जीवन-मुक्त अंतर्दाह;
सुलगता आकाश, धरती पुलकमाना
आज हरियाली गई पथ भूल।
इत उमंगों का भला कोई ठिकाना,
खो गई सरि, खो गये दो कूल।
तप्त अन्तर में घुमड़ती तरलता म्रियमाण
गल गये पाषाण
वर्ष भर की वेदना सिमटी
कि लहराया अतल उन्मुक्त पारावार।
नील नभ से स्निग्ध - निर्मल केश
गूँथे जा रहे होंगे सँवार - सँवार,
पिस रही मेंहदी, महावर रच रहा,
तारिकावलि चन्द्रिका की हो रही होगी सहेज-सँभार।
मैं प्रतीक्षा-रत
धो रहा पथ
हंसमाल मुक्त बन्दनवार,
शस्य-चामर-चारु, श्लथ-शेफालिका का हार।
आ रही होगी उड़ाती नील अञ्चल—

लोल लहरों का प्रशान्त प्रसार
देखने को नयन - खंजन विकल - चञ्चल ,
वक्ष की धड़कन उभार - उतार ।
जपा-कुसुमों में तुम्हारा आगमन-आभास ,
सागर से बुझी कब प्यास !
व्यर्थ चिंता, व्यर्थ क्रन्दन, अब रहस्य रहा न गोपन ,
रूप-परिवर्तन तुम्हारे अमर यौवन का सतत आधार ।
एक इंगित के लिए ठहरे कुमुद-वन ,
खिँच रहे हैं रजत-स्वर्णिम रश्मियों के तार ;
स्निग्ध शतदल के सुवासित स्तरों में
हो रहे स्वच्छंद भ्रमरों के लिए तैयार कारागार !
आज तन-मन में लगी है होड़ ,
देखता अनिमेष पथ का मोड़—
दूर की प्रत्येक ध्वनि, प्रत्येक आहट ,
एक छलना, अचकचाहट
पूछती फिर फिर विफल मनुहार ;
कब पावेंगे थान !
कर रहे स्वीकार पाटल कंटकों के स्नेह का आभार ,
फूटने को कोरकों-से गान !
कब ढलेगी दूधिया मुसकान गंगातीर
जब घर घर बनेगी खीर
मन अथिर उद्भ्रांत ,
चाहता एकान्त
एक क्षण के लिए चाहे
भेंट जिससे कर सकूँ मैं उपालम्भों का पुलक-उपहार !
युग सारथि गाँधी
है अमरकृती दृढ़व्रती ,
शांति-समता के मुक्त उसास विकल !

दांभिक पशुता के खँडहर में
तुम जीवन-ज्योति-मशाल लिये
चल रहे युगों की सीमा पर धर चरण अटल।
पद-निक्षेपों का भार-वहन
किसमें क्षमता सामर्थ्य-शेष,
(दुर्गम वन, पर्वत प्रान्त गहन)
गति का संयम, मन का साधन
रवि चन्द्र निरखते निर्निमेष।
तुम अप्रतिहत चल रहे
विघ्न-बाधाओं को कर चूर-चूर
अविकार कर्म का लिये
प्राप्ति फल आशा से सर्वथा दूर।
मौलिक अभियान तुम्हारा यह युग के कर्मठ!
डगमग डगमग अति कोल-कमठ
नप गये तुम्हारे तीन डगों में नभ-जल-थल
नयनों मे आत्म-प्रकाश प्रबल
जल गया निशा का अहंकार
तम तार-तार।
पलकें खोली,
खुल गये प्रभा के स्वर्ण-कमल
हिल गये अधर
मच गई दानवों में हलचल
डोली सत्ता, सिंहासन थर-थर भू-लुंठित
चरणों पर स्वर्ण-किरीट-मुकुट।
तुम वीतराग,
दे दिया अपर को महायज्ञ का महाभाग
सपनों को सत्य बनाने में सोते-जगते सब समय व्यस्त
रह गये स्वयंहित रिक्तहस्त।

हे नीलकण्ठ,

पी गये गरल,

हिंसा, ईर्ष्या, छल, दंभ, अन्ध दानवता के

दूधिया हँसी

धो रही पाप मानवता के।

जन-जन कण-कण की व्यथा-कथा से

पल-पल मर्माहत जर्जर

छलनी हो गया हाय अन्तर,

ऊमस-दावा-लू-लपटों से, झुलसे प्राणी जब-जब तरसे

हे करुणाघन, तुम कहाँ नहीं कब कब बरसे!

कलियाँ चटकीं, किसलय मरमर

ऊसर उर्वर

नव जीवन लाली, शान्ति सुधामय हरियाली

बरसी भू पर।

युग की विभीषिका से तापित

मन की जड़ता से संतापित

रूखा-सूखा जन-अन्तर पट,

तुम अक्षयवट,

शीतल-छाया में सँजो रहे

मानव-महिमा का शुक्ति-मुक्तिमय मंगल-घट।

आजानु-बाहु,

कितने विकलांग अपंगों के अवलंब बने

कह वचन सुधा सुख-स्नेह-सने

छिगुनी पकड़े चल रहा डगमगाता युग-पथ

दो डग में सिमट गये इति-अथ,

बर्बरता के कुत्सित पाशविक प्रहारों में

घनघोर महाभारत की चीख-पुकारों में

सारथी,

तुम्हारी ही लगाम का अनुशासन
उच्छृंखल चपल तुरंगों को
शासित कर सकने में समर्थ,
देखा न सुना ऐसा अनर्थ
पायेगा गति निश्चय ही अर्जुन-सर्जन-रथ।
तुम पोंछ रहे भयभीत कपोलों के आँसू
दे रहे धरा विधुरा को निर्भय अभय दान
हिंसा की गहन तमिस्रा में
बुझते दीपक की बाती को
फिर जिला गये देकर अन्तस का स्नेहदान।
नंगे फकीर,
नग्नता निरीहों की ढक दी
ले ढाई गज का धवल चीर
कितनी द्रौपदियों की लज्जा
ली भरी सभा में बचा वीर,
दुर्मुख दुःशासन नत, अधीर।
दिशि-दिशि में आह-कराह-हाय
आसुरी अनाचारों से फिर जर्जर, विषण्ण युगधर्मकाय,
नर में नरत्व का नहीं भाव,
नासूर बन गया स्वार्थ, घृणा, कुत्सा, हिंसा का घृणित घाव,
मनु की सन्तानों के आगे
श्रद्धा माता छटपटा रही,
आहत अन्तर के टुकड़ों को
लोहू से लथपथ आँचल में
फिर बीन-बीन कर जुटा रही।
पुरखों की संचित ममता पर
ओले बरसे, गिर गई गाज
केवल तुम माता के सपूत
दे रहे दूध का मूल्य आज।

अपनत्व प्रेम का लगा दिया मरहम
क्षत - विक्षत अंगों पर
राका के सपने बिछा दिये
सागर की क्षुब्ध तरंगों पर।
चिर दग्ध, उपेक्षित जीवन में
शतदल का विजना हाथ लिये
मधु-मलय-वात बन तुम डोले,
हिंसक पशुओं के घावों को—
नवनीत अहिंसा की उँगली से
सहलाया हौले हौले।
गौतम की शान्त अभय मुद्रा
मीठी मुसकानों में भर - भर
मृत को जीवित, दुर्धर्ष शत्रु को
मित्र बना डाला सत्वर।
गर्वोन्नत अम्बर झुका दिया
भीता धरती के चरणों पर,
वाणी में वंशी सम्मोहन
किल गया कालिया नाग
झूमता ऐरावत
युग-कर-वन्दन में वशीकरण।
श्रम-शील भगीरथ,
आज न होता तपःपूत तुम-सा
खो जाता जग अपनी जड़ता के संभ्रम-सा,
मनु संतान सगर-सुत-सी
सिकता मे हो जाती विलीन
जर्जर पददलिता दीन हीन।
सारी संसृति बनती मसान
घर-घर उलूक कौवे शृगाल
जनपथ भयावने बियावान

चट-चट-चट चिता सुलगती
गिरते कंकालों पर गिद्ध-श्वान
खप्पर भर योगिनी
अन्तड़ियाँ पहने, करतीं रक्तपान।
तुम थे, जो स्वर्ग उतार सके पृथ्वी पर
जन-गङ्गा-प्रवाह,
तुम थे, जो मथ-मथ सिंधु,
सुधा दे गये, पी गये
विष-बड़वानल जलन-दाह।
मेरे दधीच,
तुम बार बार अस्थियाँ लुटाने को आतुर
ऐश्वर्य-मान-पद मोह छोड़
जन-जन के लिए विधुर कातर
हिल्लोलित क्षुभित महासागर में आशा के कमनीय सेतु,
तुम क्रुद्ध गरुड़ की तृप्ति हेतु
जीमूत वाहिनी आत्मदान
नागों का भी कर रहे त्राण
है निशा-दिवा का एक मान
कोई अपना न पराया
मुक्तात्मा की गरिमा भासमान।
तुम मूर्तिमान विश्वास अमर,
युग की विराट चेतना तुम्हारे श्वास-श्वास में रही सिहर।
ऋत्विज,
कब यज्ञ-विधान तुम्हारा व्यर्थ हुआ!
साधना तुम्हारी कब निष्फल!
तुम जीवन की निर्मल परम्परा के वाहक
गंगा की कल-कल गति अविकल।
तुम अपने में ही पूर्ण, सिद्ध, शाश्वत-सबल।

———

केसरी

कवि-प्रिया

अयि तू अमल कमल-दल-शोभी !
मेरे गीत भ्रमर इस छवि के
युग-युगान्त के लोभी
अयि तू अमल कमल-दल-शोभी !

पल-पल निमिष-निमिष पुकारती
तू मुझको मृग नैनी
और गीत बनती जाती
मेरी पुलकित बेचैनी ।

प्रथम-प्रथम शैशव के मधु सपनों में
तुझको देखा
तब से प्रति प्रभात में देखी
तेरी चितवन-रेखा ।

युग से देख रहा न किन्तु
आँखों की प्यास टली है
जब देखो तो अनाघात तू
केवल एक कली है ।

मेरे प्राण भ्रमर अवनी
अम्बर में डोल चुके हैं
कितने मधु गन्धी मुखड़ों की
घूँघट खोल चुके हैं ।

मर मरन्द वह कहाँ कि
जिससे व्यथा बन्द हो जाये
और जिसे पीते जीवन की
कथा छन्द हो जाये ।

परम धाम विश्राम
प्राण-पिक की पुष्पित अमराई
तू मेरे जीवन-निदाघ पर
घटा उमड़ क्यों आई !

शब्द सुन्दरी गायित्री तू
सोम-प्रिया रसवन्ती
तू नटवर की वेणु-विकम्पित
रागिन 'जै जै वन्ती !'

युगपत सूर्य्य चन्द्र नखतों की
शत-शत ज्योति धारा
तू विराट की सतत वाहिनी
करुणा तारा हारा !

तू चिर सुन्दर की विलासिनी
काम रूपिणी माया
शुभे ! मर्त्य-मरु में रंजन तू
नन्दन वन की छाया !

स्नेह-सरी अयि अमृत-निर्झरी
धन्य हुआ मैं जीकर
मेरे क्षण हो रहे सनातन
पीकर तेरे शीकर !

जब तक रहे प्रकाश नयन में, केवल तुझे निहारूँ,
जब तक रहे कंठ-में वाणी केवल तुझे पुकारूँ,
अन्त प्रलय की गोधूली में, गा-गा जब थक जाऊँ,
तेरी छवि के अन्धकार—अञ्चल में छिप सो जाऊँ !

सुधीन्द्र

दान का प्रतिदान तुमको दे रहा हूँ !

दान का प्रतिदान तुमको दे रहा हूँ !

फूँक से तुमने दिये हैं
वेणु के सब रन्ध्र ये भर,
मृदुलता उसको मिली
कोमल तुम्हारे ओंठ छू कर,

मधुर ममता के परस से
घुल गई उसमें मधुरिमा,
आज मुखरित हो उठी वह
अँगुलियों का स्पर्श पाकर !

स्वर मुझे तुमने दिया मैं
गान तुमको दे रहा हूँ,

दान का प्रतिदान तुमको दे रहा हूँ !

नयन-पट पर जो दिवस में
चित्र खिंच आते अमंगल,
डालता धो यामिनी में
भर पलक में स्वप्न का जल;

भाव है, फिर भावना भी,
किंतु एक अभाव तुम हो,
खोज में जिसकी निरन्तर
लीन है पुतली अचंचल।

अमर जीवन को मिटा देंगे नहीं शत शत मरण ये !
अमर जीवन को मिटा देंगे नहीं शत शत मरण ये !

कुञ्ज छायामय बने हैं
जबकि पग-पग पर मनोरम ,
लग नहीं सकता निमिष भर
यह विषम पथ दीर्घ-दुर्गम ,

पथ चिरन्तन को छिपा देंगे नहीं लघु-लघु चरण ये !

शूल पर चल फूल की सुधि
छा गई बन तीव्र मन में !
खिल उठी मधुऋतु सुरभि-पद
चूम तन के विरस वन में !

अमृत-सागर सोख पायेंगे नहीं कुछ गरल कण ये !

मिलन-सुख की मधुरिमा से
भर गये हैं विकल सपने ,
धो लिये मधु से स्मरण ने
विष-व्यथा के चिह्न अपने ,

मिलन के युग-युग भुला देंगे नहीं कुछ विरह क्षण ये ।

वीरेन्द्रकुमार जैन

पावस से छाये सागर पर

पावस से छाये सागर पर देखो तो कैसी रस-लीला !
नित अचल क्षितिज-मर्यादा पर रहता गर्वी गम्भीर गगन
जो सदा अनाविल अनासक्त निर्लेप और निष्कम्प अटल,
वह आज सलिल-कन्या की मादन बाहों में सोया-सोया
चिर उन्मुक्ता के इन अबन्ध्य वक्षोज उफानों में खोया;
वह क्षितिज-रेख की मर्यादा, वह मेरु-पुरुष का कटि-बन्धन
लो, हुआ विसर्जित रसवन्ती के एकाकार रसाचल में !
पावस से छाये सागर पर देखो तो कैसी रस-लीला !
देखो तो कैसी तन्मयता इस महामिलन आलिंगन में।
यह भरे हृदय-सी आविल है, फिर भी निस्पन्द अनाविल है
कैसी चिर चंचल सुस्थिरता, यह प्राणों की अविनश्वरता,
कितनी आकुल, कितनी उच्छल, फिर भी कितनी अविकल गभीर,
देखो तो कितनी निश्छलता इस परम प्रणय परिरम्भण में।
इस प्राणोदधि में आरपार लहराती हैं दो-दो काया,
लो, गगन-पुरुष के घनश्याम भुजबन्धन औ' नीलाम्बर में।
किसी ऊर्मिल तनिमा गोरी छहरा जाती है रह-रहकर !
उन दूर-दूर के छोरों में नीलम के अगम अलिन्दों पर
दोलायित ऊर्मि पलंगों पर, उन फेन-कुसुम शैयाओं पर
वह बाण छोड़ते धन्वा-सी तन्वगिनि रह-रह लहराती
तोड़ती भंग वह बाँहों के भँवरों में आग लगाती-सी
अन्तर के नीले शतदल पर माणिक की ज्वाल जलाती-सी
अपनी उद्दाम शिराओं के यौवन-प्रदीप्त नव शोणित से
वह कूल-कल में अरुण प्रवालों के स्वस्तिक रच जाती-सी
वह देश-देश के तीरों में सौभाग्य-वेदियाँ रचती-सी !
पावस से छाये सागर पर देखो तो कैसी रस-लीला !

सूरज का तेजस् आज बना उसके आलिंगन की ऊष्मा
शशि की शीतलता आज बनी उसके मुख की कोमल सुषमा
गुँथ गये आज तारा-मण्डल उसके नूपुर की मणियों में
सारे प्रकाश अपसारित हो ज्योतित उसकी दृग-कणियों में ;
जब नयन मूँद लेती है वह तल्लीन रमण की मूर्छा में
तब मोहमयी मेघावलियाँ कादम्ब-तिमिर बन छा जातीं ,
तब निखिल प्राण के कूलों में आकुल बिछुड़न उफनाती है
चिर दिन की प्यासी पीर प्यार की पागल-सी घहराती है ;
आत्मा का अनहद नाद आज मथ रहा चराचर का अन्तर
जड़-जंगम के है प्राण आज किस अननुभूत रस से कातर !
उन्मत्त झूमती वल्लरियाँ तरुओं से लिपट-लिपट जातीं
हहराती नदियाँ सागर के आलिंगन मे मिलने आतीं
वानीर-वनों में मोर मयूरी पर आँसू बन मिट जाता
मन्दिर-गुम्बद की छाहों में वह श्वेत कपोतों का जोड़ा ,
वह एकाकार अनन्तों में करता मानो शाश्वत क्रीड़ा ;
घर के वातायन पर आकर बाला ठिठकी-सी रह जाती
किन यमुना-तीर कदम्बों से वंशी की स्वर-लहरी आती
किस मन-मोहन की छवि-छाया घिरते मेघों मे छा जाती
वे क्वाँरी आँखें सपनीली किन दूर दिगन्तों में खोतीं !
वे पार क्षितिज के देख उठीं सागर-कन्या की रस-लीला !
पावस से छाये सागर पर देखो तो कैसी रस-लीला !

विश्वम्भर 'मानव'

पछतावा

अब ऐसा जीवन न मिलेगा।

जहाँ बुद्धि में बुद्धि, हृदय में

हृदय हुआ प्रतिबिम्बित,

अश्रु अश्रु सँग बहे

हुई मुसकान हास से चुम्बित,

प्राण प्राण का ऐसा रसमय

आकर्षण न मिलेगा।

रूप और प्रतिभा के जग में

फूल खिलेंगे अब भी,

मेरी चिन्ता करने वाले

बहुत मिलेंगे अब भी,

मन को किन्तु समझने वाला

ऐसा मन न मिलेगा।

मैंने जिसको रोकर पाया

खोया भी रो रो कर,

जीवन-पथ पर फिर पाऊँगा

मैं उसको खो खो कर,

मुहँ देखे की किन्तु प्रीति से

आश्वासन न मिलेगा।

गंगाप्रसाद् पाण्डेय

चिन्तन

नव वसन्त की साँझ सुनहला सुन्दर-सा आकाश !
एक वर्ष के बाद हर्ष फिर
वन्य प्रकृति में छाया,
अलियों ने कलियों का चुम्बन
एक बार फिर पाया,
रोम रोम को पुलकित करता बहता मलय बतास !
निझरे-झरे सुमन तरु लहरे
कोयल मधु स्वर गाती,
रंग बिरंगे फूलों से मिल
तितली फिर इठलाती,
सुख-दुख का परिचित परिवर्तन जीवन का इतिहास !
किन्तु करुण कितनी मानवता
ममता लिये अथाह,
बिछुड़े जुड़े न फिर जीवन में
भरना केवल आह,
क्या मानव के इस जीवन का दुख ही चरम विकास !
स्रष्टा की इस निखिल सृष्टि में
मानव सबसे सुन्दर,
अपनेपन की चेतनता से
आकुल उसका अन्तर,
इसीलिये मैं पुलकित हो होकर भी आज उदास !
नव वसन्त की साँझ सुनहला सुन्दर-सा आकाश !

शान्ति एम० ए०

आराध्य न अब साकार बनो !

प्रतिमा में और पुजारी में, थोड़ा अन्तर अनिवार्य सदा ;
नीरव-नयनों में, अधरों में, थोड़ा अन्तर अनिवार्य सदा ;
कुछ अन्तर तो होता ही है, अभिव्यक्ति और अनुभव में भी ,
फिर सत्य-कल्पना में भी तो, थोड़ा अन्तर अनिवार्य सदा ;
मैं सीमित हूँ, तुमको असीम रखने में ही अभिमान मुझे ,
संसार बसा सकने वाले, बस स्वयं न तुम संसार बनो !
आराध्य न अब साकार बनो !

हो कभी पूर्णता पाई है दुख-सुख-मय जग में मूर्तिमान !
मिट्टी की प्रतिमा मानव का मन्दिर कब कर पाई महान !
भावों के स्वप्निल रंगों से मैं रूप सदा भर लिया करूँ ;
तुमको जो जो करना चाहूँ बस पूज पूज कर लिया करूँ !
अनुमान सत्य से होता है वैसे भी ज्यादा आकर्षक ;
मैं तुम्हें सजाऊँ, बदले में तुम मेरे ही शृंगार बनो !
आराध्य न अब साकार बनो !

वासन्ती कोयल कहती है, "मुझको मेरा मधुवन बन्धन !"
मधुवन की कलियाँ कहती हैं "मुझको मेरा यौवन बन्धन !"
यौवन कहता, "मैं शैशव के कोमल भावों से मुक्त नहीं ,"
भावों ने आकर कहा, "मुझे कविता का आमन्त्रण बन्धन !"
आमन्त्रण की दृढ़ कड़ियों से पद-कमल तुम्हारे कब स्वतन्त्र !
फिर मेरी श्वासों के बन्दी ! मत मेरे कारागार बनो !
आराध्य न अब साकार बनो !

———

रेखा

सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

जब पपीहे ने पुकारा

जब पपीहे ने पुकारा
मुझे दीखा—
दो पँखुरियाँ
झरीं लाल गुलाब की, तकतीं पियासी
पिया-से ऊपर झुके उस फूल को।
ओठ ज्यों ओठों तले।
मुकुर में देखा गया हो दृश्य पानीदार आँखों के।
हँस दिया मन दर्द से—
'ओ मूढ़! तूने अब तलक कुछ
नहीं सीखा।'
जब पपीहे ने पुकारा
मुझे दीखा।

सावन-मेघ

१

घिर गया नभ, उमड़ आये मेघ काले,
भूमि के कम्पित उरोजों पर झुका-सा
विशद, श्वासाहत, चिरातुर
छा गया इन्द्र का नील वक्ष—
वज्र-सा, यदि तड़ित से झुलसा हुआ-सा।
आह, मेरा श्वास है उत्तप्त—
धमनियों में उमड़ आई है लहू की धार—
प्यार है अभिशप्त—
तुम कहाँ हो नारि!

२

मेघ-आकुल गगन को मैं देखता था
बन विरह के लक्षणों की मूर्त्ति—
सूक्ति की फिर नायिकाएँ
शास्त्र-सङ्गत प्रेम क्रीड़ाएँ,
घुमड़ती थीं बादलों में
आर्द्र, कच्ची वासना के धूम-सी।

द्वितीया

मेरे सारे शब्द प्यार के
किसी दूर विगता के जूठे
तुम्हें मनाने हाय कहाँ से
ले आऊँ मैं भाव अनूठे!
तुम देती हो अनुकम्पा से
मैं कृतज्ञ हो ले लेता हूँ—
तुम रूठी—मैं मन मसोसकर
कहता भाग्य हमारे रूठे!
मैं तुमको सम्बोधन कर
मीठी - मीठी बातें करता हूँ
किन्तु हृदय के भीतर किसकी
तीखी चोट सदा सहता हूँ
बातें सच्ची हैं यद्यपि वे
नहीं तुम्हारी हो सकती हैं—
तुमसे झूठ कहूँ कैसे जब
उसके प्रति सच्चा रहता हूँ!
मेरा क्या है दोष कि जिसको
मैंने जी भर प्यार किया था
प्रात किरण ज्यों नव कलिका में
जिसको उर में धार लिया था

सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

मुझ आतुर को छोड़ अकेली
जाने किस पथ चली गई वह—
एक / आग के फेरे करके
जिस पर सब कुछ वार दिया था !
मेरा क्या है दोष कि मैंने
तुमको बाद किसी के जाना !
अपना जब छिन गया पराये
धन का तब गौरव पहचाना !
प्रथम बार का मिलन चिरन्तन
सोचो, कैसे हो सकता है—
जब इस जग के चौराहे पर
लगा हुआ है आना जाना !
होगी यह कामुकता जो मैं
तुमको साथ यहाँ ले आया—
किसी गता के आसन पर जो
बरबस मैंने तुम्हें बिठाया,
किन्तु देखता हूँ, मेरे उर
में अब भी वह रिक्त बना है
निर्बल होकर भी मैं उसकी
स्मृति से अलग कहाँ हो पाया !
तुम न मुझे कोसो, लज्जा से
मस्तक मेरा झुका हुआ है
उर में वह अपराध व्यक्त है
ओठों पर जो रुका हुआ है—
आज तुम्हारे सम्मुख जो
उपहार रूप रखने आया हूँ
वह मेरा मन-फूल दूसरी
वेदी पर चढ़ चुका हुआ है !

फिर भी मैं कैसे आया हूँ
क्योंकर यह तुमको समझाऊँ—
स्वयं किसीका होकर कैसे
मैं तुमको अपना कह पाऊँ !

पर मन्दिर की माँग यही है
वेदी रहे न क्षण भर सूनी

वह यह कब इङ्गित करता है
किसकी प्रतिमा वहाँ बिठाऊँ !

नहीं अङ्ग खोकर लकड़ी पर
हृदय अपाहिज का थमता है
किन्तु उसी पर धीरे-धीरे
पुनः धैर्य उसका जमता है।

उर उसको धारे है, फिर भी
तेरे लिए खुला जाता है—

उतना आतुर प्यार न हो पर
उतनी ही कोमल ममता है।

शायद यह भी धोखा ही हो
तब तुम सच मानोगी इतना
एक तुम्हीं को दे देता हूँ
उससे बच जाता है जितना।

और छोड़कर मुझको वह
निर्मम इतनी अब है संन्यासिनि—

उसको भोग लगाकर भी तो
बच जाता है जाने कितना।

प्यार अनादि स्वयं है, यद्यपि
हममें अभी-अभी आया है
बीच हमारे जाने कितने
मिलन-विग्रहों की छाया है—

मति तो उसके साथ गई, पर
यह विचारकर रह जाता हूँ—
वह भी थी विडम्बना विधि की
यह भी विधना की माया है!
उस अत्यन्तगता की स्मृति को
फिर दो सूखे फूल चढ़ाकर
उस दीपक की अनझिप ज्वाला
आदर से थोड़ा उकसाकर
मैं मानो उसकी अनुमति से
उसकी याद हरी करता हूँ—
उससे कही हुई बातें
फिर-फिर तेरे आगे दुहराकर!

ताजमहल की छाया में

मुझमें यह सामर्थ्य नहीं है मैं कविता कर पाऊँ,
या कूँची से रंगों ही का स्वर्ण-वितान बनाऊँ।
साधन इतने नहीं कि पत्थर के प्रासाद खड़े कर—
तेरा, अपना और प्यार का नाम अमर कर जाऊँ।
पर वह क्या कम कवि है जो कविता में तन्मय होवे
या रंगों की रंगीनी में कटु जग-जीवन खोवे!
हो अत्यन्त निमग्न, एक रस, प्रणय देख औरों का—
औरों के ही चरण-चिह्न पावन आँसू से धोवे!
हम-तुम आज खड़े हैं जो कन्धे से कन्ध मिलाये,
देख रहे हैं, अचिर युगों से अथक पाँव फैलाये
व्याकुल आत्म-निवेदन-सा यह दिव्य कल्पना-पक्षी:
क्यों न हमारा हृदय आज गौरव से उमड़ा आये!
मैं निर्धन हूँ, साधनहीन; न तुम ही हो महारानी
पर साधन क्या! व्यक्ति साधना ही से होता दानी!
जिस क्षण हम यह देख सामने स्मारक अमर प्रणय का
प्लावित हुए, वही क्षण तो है अपनी अमर कहानी!

सच्चिदानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

शिशिर की राका-निशा

वञ्चना है चाँदनी सित
झूठ वह आकाश का निरवधि, गहन विस्तार—
शिशिर की राका-निशा की शान्ति है निस्सार !

दूर वह सब शान्ति, वह सित भव्यता, वह शून्य
के अव लेप का प्रस्तार—
इधर—केवल झलमलाते
चेतहर, दुर्धर कुहासे की हलाहल-स्निग्ध मुट्ठी में
सिहरते-से, पंगु, टुंडे
नग्न, बुच्चे, दईमारे पेड़ !
पास फिर, दो भग्न गुम्बद—
निविड़ता को भेदती चीत्कार-सी मीनार—
बाँस की टूटी हुई टट्टी, लटकती
एक खम्भे से फटी-सी ओढ़नी की चिन्दियाँ दो चार !
निकटतर—धँसती हुई छत, आड़ में निर्वेद
मूत्र-सिंचित मृत्तिका के वृत्त में
तीन टाँगों पर खड़ा, नतग्रीव,
धैर्य-धन गदहा।
निकटतम
रीढ़ बंकिम किये, निश्चल किन्तु लोलुप
खड़ा वन्य बिलार—
पीछे, गोयठों के गन्धमय अम्बार !

गा गया सब राजकवि, फिर राजपथ पर खो गया।
गा गया चारण, शरण फिर शूर की आकर, निरापद सो गया !
गा गया फिर भक्त ढुलमुल चाटुता से वासना को झलमलाकर,
गा गया अन्तिम प्रहर में वेदना-प्रिय, अलस, तन्द्रिल, कल्पना
का लाड़ला
कवि निपट भावावेश से निर्वेद !

किन्तु अब—निस्तब्ध—संस्कृत
लोचनों का भाव-संकुल, व्यञ्जना का भीरु
फटा-सा, अश्लील-सा विस्फार—
झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार—
वञ्चना है चाँदनी सित ,
शिशिर की राका-निशा की शान्ति है निस्सार !

पानी बरसा

ओ पिया, पानी बरसा !
ओ पिया, पानी बरसा !
घास हरी हुलसानी
मानिक के झूमर-सी
झूमी मधु-मालती
झर पड़े जीते पीत अमलतास
चातकी की वेदना बिरानी ।
बादलों का हाशिया है आसपास—
बीच कुंजों की डार, कि
लिखी पाँत काली बिजली की
असाढ़ की निशानी !
ओ पिया, पानी !
मेरा जिया हरसा
ओ पिया, पानी बरसा !
खड़खड़ कर उठे पात
फड़क उठे गात।
देखने को आँखें
घेरने को बाँहें
पुरानी कहानी !
ओठ को ओठ, वक्ष को वक्ष—
ओ पिया, पानी !
मेरा हिया तरसा ।
ओ पिया, पानी बरसा !

नदी के द्वीप

१

हम नदी के द्वीप हैं।
हम नहीं कहते कि हमको छोड़ कर स्रोतस्विनी बह जाय।
वह हमें आकार देती है।
हमारे कोण, गलियाँ, अन्तरीप, उभार, सैकत कूल,
सब गोलाइयाँ उसकी गढ़ी हैं।
माँ है वह। है, इसी से हम बने हैं।

२

किन्तु हम हैं द्वीप।
हम धारा नहीं हैं।
स्थिर समर्पण है हमारा। हम सदा से द्वीप हैं स्रोतस्विनी के।
किन्तु हम बहते नहीं हैं। क्योंकि बहना रेत होना है।
हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं।
पैर उखड़ेंगे। प्लवन होगा। ढहेंगे। सहेंगे। बह जायेंगे।
और फिर हम चूर्ण होकर भी कभी क्या धार बन सकते!
रेत बन कर हम सलिल को तनिक गँदला ही करेंगे।
अनुपयोगी ही बनायेंगे।

३

द्वीप हैं हम।
यह नहीं है शाप। यह अपनी नियति है।
हम नदी के पुत्र हैं। बैठे नदी के क्रोड़ में।
वह वृहद् भूखंड से हमको मिलाती है।
और वह भूखण्ड
अपना पितर है।

४

नदी, तुम बहती चलो।
भूखंड से जो दाय हमको मिला है, मिलता रहा है,

माँजती, संस्कार देती चलो ;
यदि ऐसा कभी हो
तुम्हारे आह्लाद से या दूसरों के किसी स्वैराचार से—
अतिचार से—
तुम बढ़ो, प्लावन तुम्हारा घरघराता उठे—
यह स्रोतस्विनी ही कर्मनाशा कीर्त्तिनाशा घोर
काल-प्रवाहिनी बन जाय
तो हमें स्वीकार है वह भी। उसी में रेत होकर
फिर छनेंगे हम। जमेंगे हम। कहीं फिर पैर टेकेंगे।
कहीं फिर भी खड़ा होगा नये व्यक्तित्व का आकार।
मातः, उसे फिर संस्कार तुम देना।

केदार

ओस बूँद कहती है

ओस-बूँद कहती है; लिख दूँ
नव-गुलाब पर मन की बात।
कवि कहता है : मैं भी लिख दूं
प्रिय शब्दों में मन की बात ॥
ओस-बूँद लिख सकी नहीं कुछ
नव गुलाब हो गया मलीन।
पर कवि ने लिख दिया ओस से
नव गुलाब पर काव्य नवीन ॥

टूटा तारा

नभ की ओर निहार रहा था
सब थे सुप्त विचार
अनायास ही लगा सोचने
यह कह बारम्बार :
है तो बात पुरानी ही पर
क्या कुछ इसका सार
टूट पड़ा करता जो सहसा
तारा नभ के पार !
बचपन की थी बात और थी
अब तो विकसा ज्ञान
जान सकूँ शायद यह क्या है,
कैसा प्रकृति-विधान
इस उधेड़-बुन के चक्कर में
मन था चारों ओर
आकुलता उत्सुकता का था
कुछ भी ओर न छोर ;

इसी समय भूली बातों में
फिर से उठी मरोर,
माँ का कहा याद हो आया
भरकर लोचन-कोर :
कोई जीव सिधारा जग से
गया स्वर्ग की ओर
राम राम का पुण्य नाम लो
टूटा वज्र कठोर !

पूछ ताछ भी किया न माँ से
मानी सच्ची बात,
देखा जब जब टूटा तारा
हुआ तभी तब ज्ञात :
कोई जीव सिधारा जग से
अरे आज की रात !
रोम रोम रोया पीड़ा से
काँपा मेरा गात,
पहुँचा दायाँ हाथ हृदय पर
ज्यों मलने आघात,
बार बार फिर निकला मुख से
राम राम अवदात !

गजानन मुक्तिबोध

दूर तारा

तीव्र-गति
अति दूर तारा ,
वह हमारा
शून्य के विस्तार नीले में चला है ।
और नीचे लोग
उसको देखते हैं, नापते है गति, उदय औ' अस्त का इतिहास ।
किन्तु इतनी दीर्घ दूरी ,
शून्य के उस कुछ न होने से बना जो नील का आकाश ,
वह एक उत्तर
दूरबीनों की सतत आलोचनाओं को ,
नयन-आवर्त के सीमित निदर्शन या कि दर्शन-यत्न को ।
वे नापने वाले लिखें उसके उदय औ' अस्त की गाथा ,
सदा ही ग्रहण का विवरण ।
किन्तु वह तो चला जाता
व्योम का राही ,
भले ही दृष्टि के बाहर रहे—उसका विषय ही बना जाता ।
और जाने क्यों ,
मुझे लगता कि ऐसा ही अकेला नील तारा ,
तीव्र-गति ,
जो शून्य में निस्संग ,
जिसका पथ विराट्—
वह छिपा प्रत्येक उर में ,
प्रति हृदय के कल्मषों के बाद ,
जैसे बादलों के बाद भी है शून्य नीलाकाश ।

उसमें भागता है एक तारा ,
जो कि अपने ही प्रगति-पथ का सहारा ,
जो कि अपना ही स्वयं बन चला चित्र ,
भ्रांति-हीन विराट्-पुत्र ।
इसलिए प्रत्येक मनु के पुत्र पर विश्वास करना चाहता हूँ ।

मेरे अन्तर

मेरे अन्तर, मेरे जीवन के सरस थान ,
तू जब से चला, रहा बेघर .
तन गृह में हो, पर मन बाहर ,
आलोक-तिमिर, सरिता-पर्वत कर रहा पार ।
वह सहज उठा के चला सुदृढ़ तपते जीवन का महा ज्वार ,
उसके द्रुत-गति प्रति पदक्षेप से झंकृत हो उठ रहा गान ,
जो नव्य तेज का भव्य भान ।
घर की स्नेहल-कोमल छाया में रहा महा चञ्चल अधीर ।
वे मृदुल थपकियाँ स्नेह-भरी ,
वे शशि-मुसकानें शुभंकरी ,
सबको पाया, सबको झेला पर स्वयं अकेला बढ़ा धीर ।
जीवन-तम की संगीत-मधुर करता उर-सरि का वन्य नीर ,
ऐसा प्रमत्त जिसका शरीर, उन्मत्त प्राण-मन विगत-पीर ।।
यह नहीं कि वह था तुंग पुरुष
जो स्वयं पूर्ण गत-दुःख-हर्ष
पर ले उसके घन ज्योतिष्कण जो बढ़ा मार्ग पर अति अजान ।
उसके पथ पर पहरा देते ईसा महान् वे स्नेहवान् ।
छाया बनकर फिरते रहते वे शुद्ध बुद्ध संबुद्ध-प्राण ।।
यह नहीं कि करता गया पुण्य ,
उसका अन्तर था सरल वन्य ,
तम में घुसकर चक्कर खाकर वह करता गया अबाध पाप ।
अपनी अक्षमता में लिपटी यह मुक्ति हो गई स्वयं शाप ।

पर उसके मन में बैठा वह जो समझौता कर सका नहीं ,
जो हार गया, यद्यपि अपने से लड़ते-लड़ते थका नहीं
उसने ईश्वर-संहार किया, पर निज ईश्वर पर स्नेह किया ।
स्फुरण के लिए स्वयं को ही नव स्फूर्ति-स्रोत का ध्येय किया
वह आज पुनः ज्योतिष्कण हित
घन पर अविरत करता प्रहार ,
उठते स्फुलिंग
गिरते स्फुलिंग
उन ज्योति-क्षणों में देख लिया
करता वह सत्य महदाकार !
सन्नद्ध हुआ वह ज्वाल-विद्ध करने को सारा तम-प्रसार ,
वह जन है जिसके उच्च-भाल पर
विश्व-भार, औ' अन्तर में
निःसीम प्यार !!

शमशेरबहादुर सिंह

सागर तट

यह समुद्र की पछाड़
तोड़ती है हाड़ तट का
अति कठोर पहाड़ ।

पी गया हूँ दृश्य वर्षा का ;
हर्ष बादल का
हृदय में भरकर हुआ हवा-सा हलका ।...

धुन रही थीं सर
व्यर्थ व्याकुल मत्त लहरें
. वहीं आ आकर
जहाँ था मैं खड़ा
मौन
समय के आघात से पोली, खड़ी दीवारें
जिस तरह घहरें
एक के बाद एक सहसा ।
चाँदनी की उँगलियाँ चंचल
क्रोशिये से बुन रही थीं चपल
फेन झालर, बेला मानो ।...

पंक्तियों में टूटती गिरती
चाँदनी में लोटती लहरें ,
बिजलियों-सी कौंदती लहरें ,
मछलियों-सी बिछल पड़तीं तड़पती लहरें ,
बार बार ,......

स्वप्न में रौंदी हुई-सी विकल सिकता ।
पुतलियों सी मूँद लेती ,
आँख ।......

यह समुन्दर की पछाड़
तोड़ती है हा ड़ तट का
अति कठोर पहाड़ ।

—

गिरिजाकुमार माथुर

कौन थकान हरे जीवन की

कौन थकान हरे जीवन की।
बीत गया संगीत प्यार का,
रूठ गई कविता भी मन की।
वंशी में अब नींद भरी है,
स्वर पर पीत साँझ उतरी है।
बुझती जाती गूँज अखीरी
इस उदास वन-पथ के ऊपर
पतझर की छाया गहरी है,
अब सपनों में शेष रह गई
सुधियाँ उस चन्दन के वन की।
रात हुई पंछी घर आये,
पथ के सारे स्वर सकुचाये,
म्लान दिया - बत्ती की वेला
थके प्रवासी की आँखों में
आँसू आ आकर कुम्हलाये,
कहीं बहुत ही दूर उनींदी
झाँझ बज रही है पूजन की।
कौन थकान हरे जीवन की।

विदा समय

विदा समय क्यों भरे नयन हैं।

अब न उदास करो मुख अपना,
बार बार फिर कब है मिलना।

जिस सपने को सच देखा था,
वह सच आज हो रहा सपना।
याद भुलानी होगी सारी,
भूले भटके याद न करना।
चलते समय उमड आये इन पलकों मे जलते सावन हैं।
कैसे पीकर खाली होगी,
सदा भरी ऑसू की प्याली।
भरी हुई लौटी पूजा विन,
वह सूनी की सूनो थाली।
इन खोई खोई ऑखों में—
जीवन ही खो गया सदा को।
कैसे अलग अलग कर देंगे,
मिला-मिला ऑखों की लाली।
छूट पायँगे अब कैसे जो अब तक छुट न सके बन्धन हैं।
जाने कितना अभी और,
सपना बन जाने को है जीवन।
जाने कितनी न्योछावर को,
कहना होगा अभी धूल कन।
अभी और देनी है कितनी,
अपनी निधियॉ और किसीको।
पर न कभी फिर से पाऊँगा,
उनकी बिदा-समय की चितवन।
मेरे गीत किन्हीं गालों पर रुके हुये दो ऑसू-कन हैं।
बिदा समय क्यों भरे नयन हैं।

इस रङ्गीन साँझ में

इस रङ्गीन सॉझ में तुमने
पहने रेशम-वस्त्र सजीले
केसर की तुम कुसुम-कली-सी

आई सिमटी-सी लिपटी-सी।
भरी गोल गोरी कलाइयों में पहिनी थीं,
नयन-डोर-सी वे महीन रेशमी चूड़ियाँ;
गौर वर्ण की पृष्ठ भूमि पर
चमक रहीं जो,
राग-रँगीली किरणों-जैसी
इस फूली चंपई साँझ में।
चन्दन-बाँह उठाते ही में
खिसल चलीं वे तरल गूँज से,
श्वेत-कमल की धुली पंखुरी पर
ज्यों ओस-बिन्दु की माला।
उदय हो रहा इन्दु सुनहला,
पूर्व-सिन्धु से जैसे ऊपर उठता आता
रस-कलश भरकर संपूर्ण सुधा रजनी की,
आज यही रस-डूबा चाँद बन गई हो तुम,
तन की आभा बनी चाँदनी,
जिसमें घुलकर
जीवन की रजनी को प्रथम मिठास मिलेगी।

बीत चलीं सूनी का सूनी

"बीत चलीं सूनी की सूनी
बुझे दीप-सी रातें काली,
जाने किन महलों में छाये,
सखी वियोगिन के वनवारी।"

किस राधा का हल्दी-सा मुख इस उदास चन्दा में आया,
दूर देश की राह बिछी है थकी हुई दो आँखें काली।
"निज दीपक-सी रोज साँझ में,
पोंछ पोंछ गालों के आँसू,

सूने मन्दिर के दरवाजे
विरहिन मीरा खड़ी तुम्हारी।"
"रात साँवली, महल अकेले, पलकें आँसू से बोझीली,
दीपक की उदास छाया में जीवन-गान हो रहा भारी।

टूट गया वह स्वप्न नशीला,
मिटती चरण-चाप में मिलकर,
चला गया वह गीत दूर पर
छोड़ उनींदा गुंजन खाली।

वसन्त की रात

आज हैं केसर रंग रँगे वन,
रंजित शाम भी फागुन की खिली पीली कली-सी,
केसर के वसनों में छिपा तन,
सोने की छाँह-सा,
बोलती आँखों में
पहिले वसन्त के फूल का रंग है।
गोरे कपोलों पै हौले से आ जाती,
पहिले ही पहिले के,
'रंगीन चुम्बन की-सी ललाई।
आज हैं केसर रंग रँगे—
गृह, द्वार, नगर, वन,
जिनके विभिन्न रँगों में हैं रँग गई,
पूनों की चन्दन चाँदनी।
जीवन में फिर लौटी मिठास है,
गीत की आखिरी मीठी लकीर-सी,
प्यार भी डूबेगा गोरी-सी बाँहों में,
ओठों में, आँखों में,
फूलों मे डूबे ज्यों
फूल की रेशमी-रेशमी छाँहें।

रेडियम की छाया—

सूनी आधी रात।
चाँद-कटोरों की सिकुड़ी कोरों से,
मन्द चाँदनी पीता लम्बी कुहरा,
सिमट लिपट कर।
दूर दूर के छाँह-भरे सुनसान पथों में,
चलने की आहट ओले-सी जमी पड़ी थी,
भूरे पेड़ों का कम्पन भी ठिठुर गया था।
कभी कभी बस,
पतझर का सूखा पत्ता गिरकर उड़ जाता
भरे स्वरों से खरखर करता।
प्रथम मिलन के उस ठंडे कमरे में
छत के वातायन से,
नींद भरी मंदी-सी एक किरन भी,
थक कर लौट लौट जाती थी।
आलस भरे अँधेरे में,
दो काली आँखों-सी चमकीली,
एक रेडियम-घड़ी सुप्त कोने में चलती,
सूनेपन के हलके स्वर-सी।
उन्हीं रेडियम के अंकों की लघु छाया पर,
दो छाँहों का वह चुपचाप मिलन था,
उसी रेडियम की हल्की छाया में,
चुपके का वह रुका हुआ चुम्बन अंकित था
कमरे की सारी छाँहों के हल्के स्वर-सा,
पड़ती थीं जो एक दूसरे में मिल-गुँथकर
सूनी-सी उस आधी रात—

चूड़ी का टुकड़ा

आज अचानक सूनी-सी सन्ध्या में
जब मैं यों ही मैले कपड़े देख रहा था,

किसी काम में जी बहलाने ,
एक सिल्क के कुर्ते की सिलवट मे लिपटा ,
गिरा रेशमी चूड़ी का
छोटा-सा टुकड़ा ,
उन गोरी कलाइयों में जो तुम पहिने थीं ,
रंग-भरी उस मिलन रात में ।
मैं वैसा का वैसा ही
रह गया सोचता
पिछली बातें ।
दूज-कोर से उस टुकड़े पर
तिरने लगीं तुम्हारी सब सज्जित तस्वीरें ,
सेज सुनहली ,
कसे हुये बन्धन में चूड़ी का झर जाना ,
निकल गईं सपने जैसी वे मीठी रातें ,
याद दिलाने रहा
यही छोटा-सा टुकड़ा ।

मशीन का पुर्जा

कुहरा-भरा भोर जाड़ों का ,
शीत हवा में ठंडे सात बजे हैं ,
ठिठुरन से सूरज की गरमी जमी हुई है ,
सारा नगर लिहाफों में सिकुड़ा सोता है ,
पर वह मजबूरी से कँपता उठ आया है ,
दोनों बाँह कसे छाती पर ।
उसकी फाइल-सी भारी आँखों के नीचे ,
रातों जगी-हुई कालस है ,
पीले-से गालों पर है कुछ शेव बढ़ी-सी ,
मसली हुई कमीज के कफ में
बटनों के बदले दो डोरे बँधे हुए हैं ,

रफू किया उसका वह स्वेटर,
तीन सर्दियाँ देख चुका है।
बुझी हुई सिगरेट रात की पीते-पीते
घड़ी देखता जाता है वह,
जिसके एक जगह चलते रहते काँटों-सा,
उसका जीवन जीवनहीन मशीन बन गया।
जाड़ों के दिन की मिठास
अब जरूर हुई है,
रातों का सुख, दिन की चिंता बनकर आया,
सूर्य सुनहला उसका डूब रहा
नित कागज की भीतों में।
कोकोजम में तले पराँठों के ही बल पर
वह दिमाग का बोझा ढोता,
और साथ में
क्षय-सा काला नाग पालता रक्त पिला कर।
काली-चिकनी सड़कों की ऊँची पटरी पर,
बढ़ता जाता वह मशीन-सा,
चाँदी के पहियों पर चलती हुई
मोटरों के स्वर सुनता।
जिनमें सुख से बैठे जाते,
आस पास के ऊँचे, चमकीले
बँगलों में रहने वाले।
पथ के लगे हुए पेड़ों से,
गिरे हुए कुछ फूल पड़े हैं,
जिन्हें कुचलता जाता है वह,
उसके मन में अब कुछ भाव विचार नहीं है
प्यार मिट चुका,
और सभी आदर्शों का बलिदान हुआ है,

गिरजाकुमार माथुर

अन्धी कर दी गई आत्मा की भी आँखें,
उसका भी तो फूल राह में कुचल गया है।
नगर भरा है सुन्दरता से,
ऊँचे ऊँचे चन्दन रँग के महल खड़े हैं।
फैली है काजल-सी चिकनी चौड़ी सड़कें
दूर दूर तक,
बीच-बीच में मोती के गुच्छों से
गोरे पार्क बने हैं।
मखमल-से हैं हरी घास के लान मुलायम,
और शाम के मीठे बिजली के प्रकाश में,
सेंट्रल विस्टा के रंजित फव्वारों नीचे,
सुन्दर बँगलों के नव-दम्पति टहला करते।
लेकिन उसकी आँखों में तसवीर न कोई,
केवल मिनट मिनट पर बढ़ती
कागज की मोटी-रूखी दीवार खड़ी है
चट्टानों से ज्यादा दुर्गम।
दिन भर थककर दफ्तर ही में सूरज डूबा,
अल्मारियों दराजों मे खोया उजयाला,
गोधूली हो गई धूल से ढकी फाइलों के पन्नों पर,
कब्रों सा सुनसान समाया।
भूत बना उसका मन बाहर घूम रहा है,
उन मोटे लानों के ऊपर,
अपनी रुग्णा पत्नी की सूनी आँखों में।
उजले अँगरेजी महलों से
मृदुल पियानो के स्वर आते,
और उसे चौंका देतीं रंगीन दिनों की सारी यादें,
जंजीरों से जबरन छुट्टी ले आता वह,
हार मानकर कागज के उस श्वेत प्रेत से।

बाहर महलों पर मिठास है फैली फैली ,
क्रीम सेंट की खुशबू भरी मोटरें जातीं ,
कुहरे-डूबी छाई है बेहोश चाँदनी ,
लेकिन वह चलता मशीन की सिलहुट जैसा
उसकी आँखों के सम्मुख कुछ और नहीं है ,
केवल मिनट मिनट पर बढ़ती ,
कागज की मोटी-रूखी दीवार खड़ी है ,
श्वेत प्रेत की मूरत-जैसी ।

नेमिचन्द्र जैन

तुम नहीं दोगी मुझे शान्ति

तुम नहीं दोगी मुझे शान्ति
जो मैं खोजता हूँ ;
भावना के धवल शुभ अक्षत चढ़ा ,
अभिमान की आहुति बना
अस्तित्व के दीपक जला
जो वर विनत हो माँगता हूँ ,
मूर्त्ति मेरी ,
तुम नहीं दोगी मुझे ।
बन्दिनी हो तुम स्वयं अपनी परिधि की ,
छू जिसे ,
नव ज्योति के आवर्त्त ,
आहत ,
लौट आते हैं निरन्तर ।
तुम प्रतिष्ठित हो
पुरानी प्राण की अन्धी गुहा में ,
हैं जहाँ संस्कार जालों-से लटकते
काल की रूखी जड़ें
विक्षिप्त हो फैली जहाँ ,
गुहा जिसमें ,
स्नेह की रसधार बरसी ही नहीं ,
प्लावन न हो पाया प्रणय का ,
नहीं चमकीं बिजलियाँ अनुभूति की ,
बोध के आलोक की नव-नवल किरणें भी
न बिखरी चरण-तल में ।
बह गई इतिहास की वन्या ,
अदम्या ;

कर गया कम्पित हृदय ,
झकझोरता ,
युगधर्म का अन्धड़ ।
उबलता दूर, तुमसे दूर...
तुम निर्वासिता हो
मूर्ति ,
अपनी गुहा में ,
अवरुद्ध अपनी कंदरा में......।
आज मेरी अर्चना
तुम झेल पाओगी नहीं ,
सहन अब होगी न तीखी ज्योति
मेरी आरती की ,
तुम न धारण कर सकोगी
फूल मेरी कामना के ,
वासना के ।
कण्ठ में तेरे न अब वाणी बची
आशीष की
आश्वास की ,
ओ मूर्ति ,
तू अब खंडिता है...
तू मुझे क्या दे सकेगी
शान्ति ,
जो मैं प्राण की आहुति चढ़ा कर
खोजता हूँ—।

चाँदनी रात

चाँदनी रात है—
किसी अबोध कुमारी के सरल नैनों-सी
अथाह, भेदभरी, गीली...

नेमिचन्द्र जैन

अलस वसन्त की
अनुराग भरी गोद खुली फैली है ,
मौन सुधियों के राजहंस दूर-दूर उड़े जाते हैं...।
चाँदनी रात का सुनसान है
फीका-फीका ,
गन्ध के भार संत्रस्त-सी वातास
हैं उन्मत्त काटती चक्कर ,
रुद्ध, पथभ्रष्ट और विक्षिप्त
वसना-सी अतृप्त...।
कहीं पै दूर कभी रुक रुक कर
किसी के प्यार भरे गीत के टूटे ये स्वर
भूल से जाग कर
मानो तभी सो जाते हैं ।
चाँदनी रात है चुपचाप समर्पित मोहित ,
अचल दिगंत के आश्लेष में सोई ,
खोई अबूझ स्वप्न में ,
जैसे तुम ही कभी चुपचाप अनायास
मेरी गोद में सो जाती हो...
चाँदनी रात ओ !

———

भारत भूषण अग्रवाल

प्लेट फॉर्म पर विदाई

होने सवार
ज्यों बढ़े चरण
चमका एड़ी का गौर-वर्ण
कर नमस्कार
कुछ नमित-वदन
जब मुड़ीं, हो गये रक्त-कर्ण ।

पल को खिड़की पर
बाँह टेक
देखा फिर कर
उफ ! उभर-उभर
आये अनेक
छवि के अक्षर ।

चल दी गाड़ी
थर-थर थर-थर
खिंचता ही गया सनेह-तार
फर-फर-फर
उड़-उड़कर दीखी बार बार ।

पल भी न लगा
सुनसान, शान्त
मैं खड़ा देखता निर्निमेष
लो, फिर सुलगा
यह प्राण-प्रान्त
बस प्लेट फॉर्म की टिकिट शेष !

वह पहाड़ी साँझ

वह पहाड़ी साँझ पाटल-फूल-सी जल पर झुकी थी,
शैल-शिखरों से घिरे, एकान्त में, निर्झर-किनारे,
हम खड़े थे, याद है ! जब थे तुम्हारे पाँव हारे,
एक चिकनी-सी शिला के निकट तुम थक कर रुकी थी।
फिर गई थी बैठ, पर्वत-पार सूरज डूबता था,
मुग्ध मैं उन सिन्धु-नयनों मे अचञ्चल, देखता था।
पुतलियों में मन्द-मुँदती-प्रभा का प्रतिविम्ब सुन्दर,
मार्ग-श्रम-से अरुण गालों पर बिखरती ज्योति सुखकर।
चाहती थी धार बाँकी मृदु-पदों से तनिक खेले,
हेरता पाकर मुझे तुम मुस्कुरा दीं, चल पड़ीं फिर,
उतर आई प्रान्त में विश्रान्त रजनी, घाटियाँ घिर
गईं तम से, उस विषम सँकरी डगर में हम अकेले,
दो अभिन्न-अलक्ष्य-पक्षी-से सटे-से मिला काँधे
कैम्प को लौटे, उतरते और चढ़ते, बाँह-बाँधे।

फूटा प्रभात

फूटा प्रभात, फूटा विहान,
बहे चले रश्मि के प्राण, विहग के गान, मधुर निर्झर के स्वर
झर-झर, झर-झर।
प्राची का यह अरुणाभ क्षितिज,
मानो अम्बर की सरसी में
फूला कोई रक्तिम गुलाब, रक्तिम सरसिज।
धीरे-धीरे,
लो, फैल चली आलोक-रेख
धुल गया तिमिर, बह गई निशा;
चहुँ ओर देख,
धुल रही विभा, विमलाभ कान्ति।
अब दिशा-दिशा

सस्मित,
विस्मित,
खुल गये द्वार, हँस रही उषा।
खुल गये द्वार, दृग, खुले कण्ठ,
खुल गये मुकुल।
शतदल के शीतल कोषों से निकला मधुकर गुंजार लिये—
खुल गये बन्ध, छवि के बन्धन।
जागो जगती के सुप्त बाल।
पलकों की पंखुरियाँ खोलो, खोलो मधुकर के अलस बन्ध
दृगभर—
समेट तो लो यह श्री, यह कान्ति
बही आती दिगन्त से यह छवि की सरिता अमन्द
झर-झर, झर-झर।
फूटा प्रभात, फूटा विहान,
छूटे दिनकर के शर ज्यों छवि के वह्नि-बाण
(केशर-फूलों के प्रखर बाण)
आलोकित जिनसे धरा
प्रस्फुटित पुष्पों के प्रज्ज्वलित दीप,
लौ-भरे दीप।
फूटीं किरणें ज्यों वह्नि-बाण, ज्यों ज्योति-शल्य,
तरु-वन में जिनसे लगी आग।
लहरों के गीले गाल, चमकते ज्यों प्रवाल,
अनुराग-काल।

पथ हीन

कौन-सा पथ है?
मार्ग में आकुल अधीरातुर बटोही यों पुकारा:—
'कौन-सा पथ है?'

"महाजन जिस ओर जायें"—शास्त्र हुंकारा
"अन्तरात्मा ले चले जिस ओर"—बोला न्याय-पंडित
"साथ आओ सर्व-साधारण जनों के"—क्रान्ति-वाणी
पर महाजन-मार्ग-गमनोचित न सम्बल है, न रथ है,
अन्तरात्मा अनिश्चय-संशय-ग्रसित,
क्रान्ति-गति-अनुसरण-योग्या है न पद-सामर्थ्य
कौन-सा पथ है ?
मार्ग में आकुल अधीरातुर बटोही यों पुकारा :—
'कौन-सा पथ है ?'

भवानीप्रसाद मिश्र

मंगल वर्षा

पीके फूटे आज प्यार के पानी बरसा री।
हरियाली छा गई, हमारे सावन सरसा री ॥

बादल आये आसमान में, धरती फूली री,
अरी सुहागिन, भरी माँग में भूली-भूली री,
बिजली चमकी भाग सखी री, दादुर बोले री,
अन्ध प्राण ही बही, उड़े पंछी अनमोले री,

छन छन उठी हिलोर, मगन मन पागल दरसा री।
पीके फूटे आज प्यार के पानी बरसा री ॥

फिसली-सी पगडंडी, खिसली आँख लजीली री,
इन्द्र-धनुष रंग-रंगी, आज में सहज-रंगीली री,
रुनझुन बिछिया आज, हिला डुल मेरी बैनी री,
ऊँचे ऊँचे पैग, हिंडोला सरग-नसेनी री,

और सखी सुन मोर! विजन वन दीखे घर-सा री।
पीके फूटे आज प्यार के, पानी बरसा री ॥

फुर-फुर उड़ी फुहार अलक-दल मोती छाये री,
खड़ी खेत के बीच किसानिन कजरी गाये री,
झर-झर झरना झरे, आज मन प्राण सिहाये री,
कौन जन्म के पुण्य कि ऐसे शुभ दिन आये री,

रात सुहागिन गात मुदित मन साजन परसा री।
पीके फूटे आज प्यार के, पानी बरसा री ॥

भवानीप्रसाद मिश्र

करो स्वीकार मेरा भक्ति-युत वन्दन... !

प्यार करता हूँ,
सुनहली सांध्य-किरणों से रंगे
हर एक छोटे या बड़े से
तूलदल-कोमल
उलझते और उड़ते
फैलते
नव अभ्र-खण्डों को !
प्यार करता हूँ,
रुपहली चन्द्र-किरणों से सजे
हर
अभ्र-भेदी स्वर्ण-मंडित कलश
यशः-साक्षी शिवालय पर
फहरते
शुभ्र झंडों को !
टेक देता हूँ
कभी शिर,
दूर से आती हुई
प्रभु-पुण्य-वाही
मेघ के निर्घोष जैसी
सान्द्र-मन्थर शंखध्वनि
सुनकर
विजन निज कक्ष में;
देकर प्रतिमा,
गरीबों से झुके
लादे हुए
संसार भर का दुःख
अपने स्कंध पर

मजदूर की,
कंप भरता है—
विपुल दृढ़ वक्ष में।
क्रोध आता है
कभी दो चार के अभिमान पर,
या चाटुकारी,
निपट स्वार्थी पर,
कि करता हूँ
निरन्तर सृष्टि
मिथ्या की।
आश्चर्य होता है
कभी
संसार की
अति प्रबल छोटी भावना पर
लाभ की,
जो भूल आती है
सभी कुछ अन्य
पाकर दृष्टि मिथ्या की।
मुग्ध होता हूँ
कभी पतिसंग
लह पर गीत गाकर,
चाँदनी फैली हुई में—
बीज बोते,
उल्लसित-मन
विरल-वसना
कृषक बाला पर;
रोक पाता हूँ नहीं
मृदु हास निज

करना निछावर
खेलते,
मिट्टी सने,
छोटे,
किसी के
स्वस्थ्य मुकुलित नन्दलाला पर!
यह सभी,
कितना न जानें
और भी,
हे हृदय के
एक ही
आराध्य मेरे!
भूल जाता हूँ
कि जब आती तुम्हारी याद—
जो हर बार आती है;—
डूब जाता हूँ
सुखों की बाढ़ में,
जैसे
मुझे यह जान पड़ता है कि
मुझ-सा
और कोई भी नहीं है
भाग्यशाली,
और छाती फूल जाती है!
मैं हुआ हूँ धन्य,
निश्चय ही,
कि पाया है,
वरद तव हस्त
मैंने

शीश पर अपने—
करो स्वीकार
मेरा
भक्ति-युत वन्दन
कि हो लें
जो नहीं होते
किसी के
सुख-सपने !

—

नागार्जुन

भिक्षुणी

[दसवीं शताब्दी; नालन्दा के निकट एक प्राचीन विहार]

"भगवन् अमिताभ,
देखती हूँ अपने को तभी से विहार में,
हुई जब सचेतन, हुई जब समझदार ;
भगवन् अमिताभ !
तुम्हारे इन चरणों में कब-कैसे सौंप गये
मेरे मूर्ख माँ-बाप ! यह नहीं जानती ।
और नहीं कोई, तुम्हीं अब गति हो,
भगवन् अमिताभ !
कितना मनोरम है तुम्हारा यह मुखड़ा
काया यह तुम्हारी कितनी सुडौल है !
भले ही कुछ दिन—
सुलभ रहा जिसको तुम्हारा यह बाहुपाश,
अंकुरित यौवना धन्य वह यशोधरा ।
मेरे मूर्ख माँ-बाप आवेश में आकर
सौंप गये मुझको शरण में त्रिरत्न की ।
कहने को मैंने भी तोतों की भाँति कहा एक नहीं, तीन बार—
जाती हूँ आज मैं बुद्ध की, धर्म की, संघ की शरण में !
संघ मुझे शिक्षा दे, संघ मुझे दीक्षा दे,
सत्य की, अहिंसा की अखण्ड ब्रह्मचर्य की ।
रटाने पर रटती है जैसे मदन-सारिका,
मैंने भी वैसे रटा सूत्रपिटक सारा ;
तुम्हीं हो साक्षी भगवन् अमिताभ !
हुई कुछ सयानी फिर,

तुम्हारा वह मध्यमार्ग समझने का यत्न किया ;
महायान हीनयान सभी मैं जान गई ,
किन्तु नहीं जान सकी मानव का सहज मान क्या है !"
जीवन की यह ग्रन्थि मैं न सुलझा सकी ।
भगवन् अमिताभ !
मेरी समस्यापूर्त्ति, देव, तुम्हीं कर दो ।
वंचित हूँ, अवसर दो ;-
देख ली यह अति, वह अति भी देखूँ।
तभी तो मेरी समझ में आयगा
तुम्हारा वह मध्यमार्ग, भगवन् अमिताभ !"

२

बैठ गई भिक्षुणी टेककर घुटने ,
तीन बार उसने सादर प्रणाम किया झुक-झुक अमिताभ को
फिर उठ खड़ी हुई; चारों ओर देखा—
हतप्रभ-सी मानो शिशिर-शशि-लेखा ।
उसे ऐसा भाव हुआ ।
"विजन विहार की शत-शत प्रतिमा मुझीको घूर रहीं !
घण्टाकर्ण वज्रपाणि भयानक यक्ष वह
व्यंगभरी दृष्टि से मुझे ही निहार रहा—
वक्रमुख होकर ग्रीवाभंग करके मानो कुछ क्षणों में
करेगा उपहास मेरे दुर्दैव का, मेरे दुर्भाग्य का !
ऐसा घटाटोप, इतना आडम्बर, ऐसी आत्मवञ्चना ,
मूढ़ ही होगा जो हँसे न मुझपर !
हँसो हे हेरुक, हँसो हे वज्र ,
हँसो हे भैरव, हँसो हे दण्डपाणि ;
शान्ति का अभिनय उसे ही करने दो, क्योंकि वह बुद्ध है !
रुदन और हास को रोकना जानता ,
देखो तो कैसा सुभग है, स्वस्थ है ,
उसके मुखमण्डल की आभा अमित है !"

[अमिताभ की ओर घूमकर]

"अभी तो तरुणी हूँ, चौंकते युवजन
भिक्षा पात्र लेकर जब मैं निकलती।
मेरा यह काषाय...
जाने किस—किसको उन्मादित करता,
यह मुण्डित मस्तक उत्तेजित करता,
कलित-ललित कवि को, कोमल कलाकार को,
भगवन् अमिताभ!
किन्तु...किन्तु कौन पूछेगा मुझे कल-परसों?
गलित होगा यौवन जब पलित होगा केश जब,
किसीकी दृष्टि क्या मुझपर उठेगी?
भगवन् अमिताभ, सहचर मैं चाहती;
चाहती अवलम्ब, चाहती सहारा,
देकर तिलांजलि मिथ्या संकोच को।
हृदय की बात लो, कहती हूँ आज मैं—
कोई एक होता कि जिसको अपना मैं समझती,
भले वह पीटता, भले ही वह मारता;
किन्तु किसी क्षण में प्यार भी करता;
जीवन-रस उँड़ेलता मेरे रिक्त पात्र में,
भूख मातृत्व की मेरी मिटाता और
स्त्रीत्व का सुफल पाकर अनायास धन्य मैं होती,
कृतकृत्य होती, भगवन् अमिताभ!
तब पूजा के समय में कितने उत्साह से घण्टा मैं बजाती!
तन्मय हो कितनी आरती मैं उतारती!
पास ही होता चटखट शिशु खेलता,
यदि किसी मंद्रमुख प्रतिमा से ढिठाई वह करता,
दिखा-दिखा तर्जनी मैं उसे रोकती!
भगवन् अमिताभ!"

बादल को घिरते देखा है

अमल धवल गिरि के शिखरों पर, बादल को घिरते देखा है।
छोटे-छोटे मोती जैसे, अतिशय शीतल वारि कणों को
मानसरोवर के उन स्वर्णिक-कमलों पर गिरते देखा है।
तुंग हिमाचल के कन्धों पर, छोटी-बड़ी कई झीलों के,
श्यामल शीतल अमल सलिल में
समतल देशों से आ-आकर
पावस की ऊमस से आकुल,
तिक्त मधुर बिसतन्तु खोजते, हंसों को तिरते देखा है।
एक - दूसरे से वियुक्त हो,
अलग-अलग रहकर ही जिनको
सारी रात बितानी होती।
निशाकाल के चिर अभिशापित
बेबस उन चकवा-चकई का,
बन्द हुआ क्रन्दन—फिर उनमें
उस महान् सरवर के तीरे
शैवालों की हरी दरी पर, प्रणय-कलह छिड़ते देखा है।
कहाँ गया धनपति - कुबेर वह,
कहाँ गई उसकी वह अलका !
नहीं ठिकाना कालिदास के,
व्योम - वाहिनी गङ्गाजल का !
ढूँढ़ा बहुत परन्तु लगा क्या, मेघदूत का पता कहीं पर !
कौन बतावे वह यायामय, बरस पड़ा होगा न यहीं पर !
जाने दो, वह कवि-कल्पित था,
मैंने तो भीषण जाड़ों में, नभ-चुम्बी कैलाश-शीर्ष पर
महामेघ को झंझानिल से, गरज गरज भिड़ते देखा है।
दुर्गम बर्फानी घाटी में,
शत-सहस्र फुट उच्च शिखर पर
अलख नाभि से उठने वाले

अपने ही उन्मादक परिमल—
के ऊपर धावित हो-होकर
तरल तरुण कस्तूरी मृग को अपने पर चिढ़ते देखा है।
शत-शत निर्झर निर्झरिणी-कल
मुखरित देवदारु-कानन में
शोणित धवल भोजपत्रों से छाई हुई कुटी के भीतर,
रंग-बिरंगे और सुगन्धित फूलों से कुन्तल को साजे,
इन्द्रनील की माला डाले—शंख सरीखे सुघड़ गले में,
कानों में कुवलय लटकाये, शतदल रक्त कमल वेणी में;
रजत-रचित मणिखचित कलामय
पानपात्र—द्राक्षासव पूरित,
रखे सामने अपने-अपने,
लोहित चन्दन की त्रिपदी पर—
नरम निदाग बाल कस्तूरी—
मृगछालों पर पल्थी मारे—,
मदिरारुण आँखोंवाले उन
उन्मद किन्नर-किन्नरियों की,
मृदुल मनोरम अंगुलियों को वंशी पर फिरते देखा है।

——

रांगेय राघव

बाँह पर धर गाल

बाँह पर धर गाल,
बिथुरीं अलक, सुन्दर चाँदनी
गा उठी अपनी कहानी
तिमिरहर उन्मादिनी।
किन्तु कोई सुन न पाया अश्रु बिखरे टूट कर
सोगई तब चाँदनी क्षण भर विकल-सी रक्त कर।
दूर से आया मलय पिय गीत अपना गा उठा,
जग उठी फिर चाँदनी संसार नूतन आ जगा।
मलय ने जब छू लिया तन
कँपी मन्द विलासिनी,
नयन वंकिम कर निहारे
सलज आतुर चाँदनी।

वन्दना

गहन नभ गम्भीर
जलधर झूकते भर ध्वांत,
एकदम टकरा गया कुछ
स्फोट भीषण। वज्र ठनका।
वृत्र के पीछे फड़कते
स्फुरित कर्कश पुच्छ-सी
घन गड़-गड़ाहट—
लग गयी है स्वर्ग में अब
आग धूआँधार।
गिर रहे हैं स्तम्भ वे
बिल्लौर के

कर घोर हाहाकार
टूटते अर्रा चटककर
भीम कारागार के वे
दीर्घ ऊँचे द्वार।
लपलपाती जीभ तीक्ष्ण पसार
ज्वालामुखि हुआ विस्फोट—
लावा से उमड़कर फूट निकले
मेघ पर्वत खंड,
ज्यों झकझोरते भूकम्प से
वह हिल गया आकाश,
होने को तनिक ही देर में है
वृष्टि धारासार
लो यह व्रजगीत अमोल
बन्दी! उठा लो यह वज्र
देवताओ! अमृतपुत्रो!
राक्षसों का ध्वंस करने,
समय है अब लो सँभालो
उस महान् दधीचि की वह अस्थि
या मेरा
गरजता गीत!

२

धूलि के कन
हिमालय बन जा कि तुझको
कुचलनेवाले झुका दें शीश।
आज मेरी धमनियों में
बज उठा है खौलता फिर
उस द्रविड़ का तप्त लोहू—
भीग शोणित से कढ़ा जो

वर्णदंभी, जातिदर्पी
गौर आर्य्यों से गरजकर,
क्योंकि बर्बर कर रहे थे
आक्रमण,
घर-द्वार उसका लूट।
रक्त हो कोई,
अगर इन धमनियों में
शक्ति विद्युत की भरी है
ब्राह्मण के गर्व का गिरि दीर्घ भी
हो जाय बस मैदान—
जिस पर दक्षिण पथ
उत्तरापथ
शील, समता, स्नेह के वे
वणिक्
जो सस्ती करें क्रय और विक्रय
चलें औ' मिल जायें—
आततायी के विरुद्ध
उठी हुई ललकार!
सूर्य्य के भी दंभ पर
जो विन्ध्य-सा उठ जाय
ज्ञान के सम्मुख झुका दे
सत्य के सम्मुख झुका दे
व्यर्थ का अभिमान......
मानव!
धमनियों में अब प्रवाहित
हो न केवल रक्त—
हो जीवन तरल की शक्ति—
का वह सिंधु मंथन से उठा
उस मोहिनी के हाथ का

अमृत भरा घट
जो कि केवल सत्य की सम्पत्ति
मानवमांत्र के उत्कर्ष की
अभया अमरतासिक्त
मृत्युंजय गिरा कल्लोल !

३

कौन-से युग-भार का वह शब्द
मेरी सचल जिह्वा पर मचलता !
कौन-से काले तिमिर का
पाश मेरा, मन झटकता !
याद आये कौन लहरों
का उमड़ता वेग मुझको !
पोत - सा मणिरत्नवाही
मन चले किन पर अभय हो !

४

अहे आदिम भूमि !
सागर मेखलामय !
ओ पुरातन सृष्टि !
चिर नव वेदनामय !
वन्दना हो !
नीलगिरि हैं केश !
कावेरी वसन री !
आदि प्राण प्रवेश !
मदुरा मृदु चरण री !
वन्दना हो !
नृत्य जननी ! ताल जननी !
आर्य्य - पूर्वा - सभ्यतामयि !
ओ शिवा ! रुद्रा ! प्रकाशिनि !

ज्ञान - जुगनू - गम्यतामयि !
वन्दना हो !
गूँजता है आज तक जग—
उत्तरापथ जो कि उस दिन—
ज्ञान की जय, भक्ति की जय—
आज मानव मुक्ति गायन !
वन्दना हो !
आर्य्य दम्भ विचूर्ण करके
उस घृणा में स्नेह-नादिनि
फिर बनो वैसी महाने !
फिर बनो समता प्रचारिणी !
वन्दना हो !
बौद्ध छलमय तन्त्रवादी
बेचते थे राष्ट्र को जब
वज्रपाणि ! सम्मत ! हे
प्रणतोषिनी कुलसार !
'जागी' तुम बनीं सितार *
गूँजो आज फिर अब !
वन्दना हो !
ज्यों पुरातन तात कुल में
जात यह रांगेय राघव
हलाहल से ब्राह्मणत्व—
विषाक्त को अब कुचलकर तज
खड़ा है इस विश्व जनता
बीच निर्मल एक मानव,
जाति, कुल, अज्ञान का हो
कहीं कैसा भी न दानव—

* एक मूर्त्ति-पूजा-विरोधी, समानता प्रचारक जाति, अब प्रायः लुप्त।

तिरुप थी से नील जमुना
तीर तक पगचिह्न जिसके
पूर्वजों के, बने, मिटकर
बने मिटते—
दम्भ केशव पर खड़ा
आह्वान जीवन दे रहा है—
मुक्ति का अधिकार जब
गत युगों में तूने दिया है—
हे वड्यवर[1]-शब्द ! सबको
एकपथ ही जब दिया है—
फिर जगा दे, आज फिर वह
चेतना का नाद नूतन
हे तिरुप्पान्[2] ! आलवारे[3] !
ब्राह्मण औ' शूद्र का यह पाप
आर्यों ने दिया था हन्त !
रे तुझको बनाकर दास अपना,
खोल दे अब आँख जैसे
हो चुका गत क्लीव सपना—!
वन्दना हो !

५

अब नहीं पेलार[4] में
यवद्वीप की आशा सिहरती
अब नहीं उन मन्दिरों में
प्रीति की गुंजार उठती

---

१ रामानुज
२ चमार-भक्त
३ भक्त कवि परम्परा
४ नदी

देवदासी-पाप का अभिशाप
तेरे मन्दिरों में
कर गया भीषण अँधेरा !
अहे तांडव के भयानक नाद से
जो गूँजती थी—
अब विदेशी चरण-आहत
रो रही है !
रे सहस्र प्रदीप[1] भी केवल बुझा है—
कर रहा है घोर हाहाकार-सा वह
हिन्द सागर
भूल मत तूने दिया था स्नेह अपना
एक दिन व्याकुल प्रताड़ित पारसी को
भूल मत तूने दिया था अभय अपना
एक दिन आहत ईसाई-वृन्द को भी,
भूल मत सब दम्भ तूने त्याग अपना
माप्लै[2] इस्लाम को निर्भय बनाया...
विजय नगरों का न कोई गर्व कर तू
भव्य कांची का नहीं अभिमान कर तू
भूल मत तूने ब्रिटिश साम्राज्य की भी
जड़ों पर तो वज्र बलियों का गिराया
आ कि फिर सब मुक्त हों
सब ही परस्पर मुक्त हों
पर विश्व-बन्धु समान हों......
क्योंकि भूखे तड़पते हैं
वे कि जो
श्रम से जिलाते विश्व—

---

१ एक स्थान
२ Moplas 'अर्थ दमाद'।

उनके हेतु अपने रक्त से
तर्पण करूँ......
अविरत् चले संघर्ष......
विश्व का प्रत्येक मानव
उठे मानव दीप्तिमय......
कर शक्ति गर्जन......
स्वस्ति वाचन......
मुक्ति गायन......
ज्ञान पथ गतिमान......
सारा विश्व हो द्युतिमान...

———

त्रिलोचन शास्त्री

पहले पहल तुम्हें जब मैंने देखा

पहले पहल तुम्हें जब मैंने देखा
क्या सोचा
सोचा था
इससे पहले ही
सबसे पहले
क्यों न तुम्हीं को देखा
अब तक
दृष्टि खोजती क्या थी
कौन रूप क्या रंग
देखने को उड़ती थी
ज्योति-पंख पर
तुम्हीं बताओ
मेरे सुन्दर
अहे चराचर सुन्दरता की सीमा रेखा ।

यों ही कुछ मुसकाकर तुमने

यों ही कुछ मुसकाकर तुमने
परिचय की यह गाँठ लगा दी
था पथ पर मैं भूला भूला
फूल उपेक्षित कोई फूला
जानें कौन लहर थी उस दिन
तुमने अपनी याद जगा दी
कभी कभी यों हो जाता है
गीत कहीं कोई गाता है

:त्रिलोचन शास्त्री

गूँज किसी उर में उठती है
तुमने वही धार-सी उमगा दी
जड़ता है जीवन की पीड़ा
निस्तरंग पाषाणी क्रीड़ा
तुमने अनजाने वह पीड़ा
छवि के शर से दूर भगा दी।

———

नरेशकुमार मेहता

उषस्

१

थके गगन में उषा गान !

तम की अँधियारी अलकों में
कुंकुम की पतली-सी रेख
दिवस-देवता की लहरों के
सिंहासन पर हो अभिषेक,

सब दिशि के तोरण-वन्दनवारों पर किरणों की मुस्कान !

प्राची के दिक्पाल इन्द्र ने
छिटका सोने का आलोक
विहगों के शिशु-गंधर्वों के
कण्ठों में फूटे मधु श्लोक

वसुधा करने लगी मन्त्र से वासन्ती रथ का आह्वान !

नाल पत्र-सी ग्रीवा वाले
हंस मिथुन के मीठे बोल,
सप्त सिन्धु में घिरे मेघ से
करें उर्वरा दें रस घोल

उतरें कंचन-सी वाली में बरस पड़ें मोती के धान !

तिमिर दैत्य के नील दुर्ग पर
फहराया तुमने केतन
पीरपंथी पर हमें विजय दो
स्वस्थ बने मानव जीवन;

इन्द्र हमारे रक्षक होंगे, खेतों खेतों औ' खलिहान !

सुख, यश, श्री बरसाती आओ
व्योम कन्यके! सरस नवल
अरुण-अश्व ले जायँ तुम्हें
उस सोमदेव के राजमहल,
नयन रागमय, अधर गीतमय, बने सोम का फिर कर पान!

उषस्

२

किरनमयी! तुम स्वर्ण वेश में!
स्वर्ण देश में!
सिंचित है केसर के जल से
इन्द्र लोक की सीमा,
आने दो सैन्धव घोड़ों का
रथ कुछ हल्के धीमा,
पूषा के नभ के मन्दिर में
वरुण देव को नींद आ रही,
आज अलकनन्दा, किरणों की
वंशी का संगीत गा रही,
अभी निशा का छन्द शेष है, अलसाये, नभ के प्रदेश में!
विजन घाटियों में अब भी
नभ सोया होगा, फैला कर पर,
तृषित कण्ठ ले मेघों के शिशु
उतरे आज विपाशा-तट पर,
शुक्र लोक के नीचे ही
मेरी धरती का गगन लोक है,
पृथ्वी की इस श्वेत बाँह में
फूलों का संगीत लोक है,
नभ गंगा की छाँह ओस का उत्सव रचती दूब देश में!
नभ से उतरो कल्याणी किरनो!

नरेशकुमार मेहता

गिरि, वन-उपवन में ,
कम्पन से भर दो बाली मुख
रस रितु, मानव मन में ,
सदा तुम्हारा कंचन रथ यह
जन्तुओं के संग आये ,
अनागता ! यह क्षितिज हमारा
भिनसारा नित आये ,
रैन डूँगरी उतर गये, सप्तर्षी अपने वरुण देश में !

—

धर्मवीर भारती

प्रार्थना की कड़ी

प्रार्थना की एक अनदेखी कड़ी
बाँध देती है
हमारा मन—तुम्हारा मन
फिर किसी अनजान आशीर्वाद में
डूब कर
मिलती मुझे राहत बड़ी

प्रात सद्यः स्नात कन्धों पर बिखेरे केश
आँसुओं में ज्यों धुला वैराग्य का सन्देश
चूमती रह रह बदन को अर्चना की धूप
यह सरल निष्काम पूजा-सा तुम्हारा रूप

जी सकूँगा सौ जनम अन्धियारियों में यदि मुझे
मिलती रहे
काले तमस की छाँह में
ज्योति की यह एक अति पावन घड़ी
प्रार्थना की एक अनदेखी कड़ी
बाँध देती है
तुम्हारा मन—हमारा मन

चरण वे जो लक्ष्य तक चलने नहीं पाये
वे समर्पण जो न होठों तक कभी आये
कामनाएँ वे, नहीं जो हो सकीं पूरी
घुटन, अकुलाहट, विवशता दर्द मजबूरी

जन्म-जन्मों की अधूरी साधना
पूर्ण होती है किसी मधु-देवता की बाँह में

—जिन्दगी में जो सदा झूठी पड़ी—
प्रार्थना की एक अनदेखी कड़ी
बाँध देती है
हमारा मन—तुम्हारा मन।

चुम्बन

रख दिये तुमने नजर में बादलों को साध कर
आज माथे पर सरल संगीत से निर्मित अधर
आरती के दीपकों की झिलमिलाती छाँह में
बाँसुरी रखी हुई ज्यों भागवत के पृष्ठ पर।

—

रमानाथ अवस्थी

इन्सान

मैंने तोड़ा फूल, किसीने कहा
फूल की तरह जियो औ' मरो
सदा इन्सान।

भूलकर वसुधा का शृंगार
सेज पर सोया जब संसार
दीप कुछ कहे बिना ही जला
रात भर तम पी पीकर पला
दीप को देख, भर गये नयन
उसी क्षण—
बुझा दिया जब दीप, किसीने कहा
दीप की तरह जलो, तम हरो
सदा इन्सान।

रात से कहने मन की बात
चन्द्रमा जागा सारी रात
भूमि की सूनी डगर निहार
डाल आँसू चुपके दो-चार
डूबने लगे नखत बेहाल
उसी क्षण—
छिपा गगन में चाँद, किसीने कहा
चाँद की तरह, जलन तुम हरो
सदा इन्सान।

साँस-सी दुर्बल लहरें देख
पवन ने लिखा जलद को लेख

पपीहा की प्यासी आवाज
हिलाने लगी इन्द्र का राज
धरा का कण्ठ सींचने हेतु
उसी क्षण—
बरसे झुक झुक मेघ, किसीने कहा
मेघ की तरह, प्यास तुम हरो
सदा इन्सान !

गीत

डाल के रंग-बिरंगे फूल
राह के दुबले पतले शूल
मुझे लगते सब एक समान
न मैंने दुख से माँगी दया
न सुख ही मुझसे नाखुश गया
पुरानी दुनिया के भी बीच
रहा मैं सदा नया का नया
धरा के ऊँचे-नीचे बोल
व्योम के चाँद-सूर्य अनमोल
मुझे लगते सब एक समान !
गगन के सजे-बजे बादल
नयन में सोया गंगाजल
चाँद से क्या कम प्यारा है
चाँद के माथे का काजल
नखत से उजले-उजले वेश
चिता पर जलते काले केश
मुझे लगते सब एक समान !
सुबह तक जलता हुआ चिराग
रात भर जागा हुआ सुहाग

मुझे समझाता बारंबार
अन्त में हाथ रहेगी आग
इसलिये छोटे-मोटे काम
बड़े या मामूली आराम
मुझे लगते सब एक समान।

किरण के अनदेखे प्रिय चरण
फूल पर करते जब संचरण
तभी कोकिल के स्वर में गीत
गूँथकर गाता है मधुवन
नये फूलों पर सोये छन्द
मधुप की गलियाँ औ' मकरन्द
मुझे लगते सब एक समान।

———